अलंकार-मीमांसा

डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी

मोतीलाल बनारसीदास

अलंकार-मीमांसा

डा० रामचन्द्र द्विवेदी

अलंकार-मीमांसा

[अलंकारसर्वस्व के सन्दर्भ में अलंकार-सिद्धान्त का अनुसन्धान]

डा० रामचन्द्र द्विवेदी
एम० ए०, पीएच० डी०,
साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

मोतीलाल बनारसीदास
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
नैपाली खपरा, वाराणसी-१
बांकीपुर, पटना-४

प्रथम संस्करण : १९६५
मूल्य : सोलह रुपये

उद्योगशाला प्रेस किंग्सवे, दिल्ली-९ में मुद्रित तथा सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित।

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ अलंकारसर्वस्व और उसके टीकाकारों के विशिष्ट सन्दर्भ में अलंकार के अनुसन्धान का एक अंश है। मूल ग्रन्थ का आलोचनात्मक संस्करण, हिन्दी अनुवाद तथा श्रीविद्याचक्रवर्ती की अभी तक अप्रकाशित संजीविनी टीका का प्रकाशन इसका दूसरा अंश है। तीसरा अंश 'स्टडीज़ इन दि अलंकार-शास्त्र' के नाम से प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र, विशेषत: अलंकारसिद्धान्त, के सम्बन्ध में मेरे अनुसन्धान की सम्पूर्ण सामग्री तीन परस्पर निरपेक्ष-सापेक्ष ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित हो रही है।

इस शोधग्रन्थ में चार अध्याय हैं। प्रथम में राजानक रुय्यक तथा उनके टीकाकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व का आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रसंग में अलंकारसर्वस्व के लेखक का प्रश्न, रुय्यक की अन्य कृतियों तथा उनके टीकाकारों की प्रकाशित एवं अप्रकाशित कृतियों का विवरण, काव्यप्रकाश तथा अलंकाररत्नाकर से संवाद एवं विसम्वाद भी विवेचित है तथा दो अप्राप्य ग्रन्थों—अलंकारसार एवं अलंकारभाष्य—का अलंकारमीमांसा में योगदान आकलित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में अलंकार के सम्बन्ध में भामह आदि आचार्यों के मत का विवेचन है तथा अन्य काव्यतत्त्वों के साथ उसके सम्बन्ध का निर्धारण किया गया है। इस प्रसंग में काव्य के स्वरूप-विवेचन तथा साहित्यशास्त्र के विभिन्न प्रस्थानों के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टि से विमर्श प्रस्तुत किया गया है।

तीसरे अध्याय में अलंकारों के क्रमिक विकास की रूपरेखा, उनका शब्दार्थोभय-विभाग तथा वर्गीकरण का ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचन है। अन्त में अलंकारों के निरूपण-क्रम के सम्बन्ध में कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

प्राय: सभी अलंकारों का उल्लेख अथवा परिचय इस ग्रन्थ के विभिन्न सन्दर्भों में दिया गया है (देखिए—अलंकारानुक्रमणिका)। सभी अलंकारों की पार्थक्येन मीमांसा ग्रन्थ के कलेवर को अत्यधिक बढ़ा देती, अत: केवल उपमा-मूलक अलंकारों की विशिष्ट मीमांसा चतुर्थ अध्याय में दी गई है जो सम्पूर्ण ग्रन्थ का लगभग आधा भाग है।

अलंकारसर्वस्व के सभी अलंकारों का निर्गलितार्थ श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अपनी अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका में दिया है। यह अभी तक अप्रकाशित थी। इसका आलोचनात्मक संस्करण तथा अनुवाद अनुबन्ध में दिया गया है ताकि एक प्राचीन कृति का अलंकारशास्त्र के अनुसन्धाताओं को परिचय भी मिल जाए, साथ ही अलंकारसर्वस्व में प्रतिपादित सभी अलंकारों का अनुवाद के माध्यम से निरूपण भी हो जाए।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ की विशेषता तथा उपलब्धि की चर्चा मैं अधीत पाठकों पर छोड़ दे रहा हूँ। अलंकारशास्त्र के सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में अलंकार-मीमांसा—अलंकारसर्वस्व के सन्दर्भ में अलंकार के स्वरूप और सिद्धान्त का अनुसन्धान—जिसे पृष्ठ-शीर्षकों (folio-headings) में मैंने अलंकारसर्वस्व-मीमांसा कहा है—अनेक नए या अपरिचित तथ्यों का प्रतिपादन करती है। विमर्शिनी और समुद्रबन्ध की व्याख्या के अतिरिक्त अलंकारसार, अलंकारभाष्य, अलंकार-रत्नाकर, संजीविनी टीका आदि के मतों की मीमांसा पाठक को प्रथम बार यहाँ मिलेगी। अलंकार एक प्रतीति है। उस प्रतीति का मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक विश्लेषण करने का मैंने प्रयास किया है। इसमें मुझे कितनी सफलता मिली है इसके निर्णय का अधिकार विद्वान् पाठकों को है, मुझे नहीं।

इस ग्रन्थ में पाठक को संस्कृत के उद्धरण बहुलता से मिलेंगे। संस्कृत का लेखक **'नामूलं लिख्यते किञ्चित्'** की भावना से सदा प्रेरित रहता है। उसकी मौलिकता की जड़ें सुदूर अतीत में होती है; वह अतीत और वर्तमान में, प्राचीन और नवीन में, व्युत्पत्ति और प्रतिभा में सदा समन्वय खोजने का अभ्यस्त रहा है। उद्धरणों की बहुलता का एक प्रकृत कारण भी है। इस ग्रन्थ का मूल स्वरूप शास्त्रीय समीक्षा का है। स्वभावतः अलंकारसर्वस्व तथा उसकी टीकाओं के उद्धरण देना अधिक आवश्यक और अपेक्षित हो जाता है। इनसे यदि पाठक को कुछ असुविधा होगी तो उसे अपना निर्णय लेने की स्वतन्त्रता और सुविधा भी बनी रहेगी। हिन्दी का पाठक मूल के उद्धरणों से लाभान्वित होगा, इसका मुझे विश्वास है।

मैं प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर, भूतपूर्व उपकुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, के प्रति श्रद्धानत हूँ जिनके निर्देशन में मुझे अध्ययन, अनुसन्धान और अध्यापन का सौभाग्य मिला था।

तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र तथा काश्मीर शैवदर्शन के अप्रतिम विद्वान्

डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने मुझे वैदुष्य-साधना की सदा प्रेरणा दी है। इस अवसर पर मैं उन्हें अपने प्रणाम अर्पित करता हूँ।

काशी में रहकर जिन गुरुजनों से मैंने साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया है उनमें स्वर्गीय महामहोपाध्याय नारायण शास्त्री खिस्ते, प्रो० मुकुन्दशास्त्री खिस्ते तथा पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते का नाम सादर उल्लेखनीय है।

भारतीय साहित्यशास्त्र को अपनी प्रतिभा से आलोकित करनेवाले सहृदय मनीषी डा० नगेन्द्र का तथा अन्य विद्वानों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस शोधग्रन्थ के सम्बन्ध में अपनी अमूल्य सम्मति व्यक्त की है।

मैं अपने प्रकाशक लाला सुन्दरलाल जी जैन को कितना धन्यवाद दूँ! वे न केवल हमारे समग्र अनुसन्धान-कार्य का प्रकाशन कर रहे हैं अपितु इसके लिए मुझे सदा प्रेरित भी करते रहते हैं।

और अन्त में, कमला को।

--रामचन्द्र द्विवेदी

दिल्ली विश्वविद्यालय,
नेहरू स्मृति दिवस, १९६५

वसुधावलयविभूषणकाश्मीरधराविभूषणीभूतः ।
सूक्तिविभूषणनिपुणः श्रीमानाचार्यरुय्यको जयति ॥

* * *

रसभेदं गतखेदं मतिहंसी वेद यस्य शिवभावा ।
स जयति जयरथनामा गुणगणधामा सुधीन्द्रमूर्धन्यः ॥

* * *

रुय्यक-जयरथ-प्रमुखैराचार्यैर्या निभालिता सरणिः ।
तामनुसृत्य प्रवृत्ता तद्गीःपूता कृतिर्जयति ॥

* * *

नास्ति प्राच्यैरलंकारकारैराविष्कृतं न यत् ।
कृतिस्तु तद्वचःसारविमर्शव्यसनादियम् ॥

—रामचन्द्र द्विवेदी

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

राजानक रुय्यक तथा उनके टीकाकार

ग्रन्थ और ग्रन्थकार	....	१–४४
अलंकारसूत्रों की विशेषताएँ	...	५
वृत्तिभाग	...	६
अभिख्या	...	७
अलंकारसर्वस्व की विशेषताएँ	...	७
काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व	...	९
ग्रन्थकार का प्रश्न	...	१३
आलंकारिकों का साक्ष्य	...	१४
पाठपरम्परा का साक्ष्य	...	१७
ग्रन्थकार का परिचय	...	२०
समय	...	२३
सर्वस्वकार की अन्य कृतियाँ	...	२४
सहृदयलीला	...	२५
साहित्यमीमांसा (प्रथम-अष्टम प्रकरण)	...	२५
नाटकमीमांसा	...	३०
अलंकारानुसारिणी	...	३०
अलंकारमंजरी	...	३२
अलंकारवार्तिक	...	३३
श्रीकण्ठस्तव	...	३४
टीकाग्रन्थ	...	३५
काव्यप्रकाशसंकेत	...	३६
हर्षचरितवार्तिक	...	३९
व्यक्तिविवेकविचार या व्याख्यान	...	४०

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार तथा उनकी टीकाएँ ... ४४-८४
अलक ... ४४
जयरथ ... ४६
समय ... ४८
रचनाएँ ... ४८
अलंकारोदाहरण के शब्दालंकार ... ४९
अर्थालंकार ... ५०
अलंकारविमर्शिनी ... ५५
अलंकारसार ... ५७
अलंकारभाष्य ... ६१
अलंकारविमर्शिनी : एक आलोचनात्मक टीका ... ६२
श्रीविद्याचक्रवर्ती ... ६८
नाम ... ६९
कृतियाँ ... ७०
टीकाग्रन्थ ... ७०
स्वतन्त्र शास्त्रीय ग्रन्थ ... ७३
काव्यादि ग्रन्थ ... ७३
समुद्रबन्ध ... ७५
समय ... ७७
व्याख्यानान्तर की संभावना ... ७७

द्वितीय अध्याय

अलंकार तथा अलंकार्य

समीक्षाशास्त्र का प्रारम्भ ... ८५
अलंकारमीमांसा की दृष्टि से कालविभाग ... ८६
छह सम्प्रदाय ... ८७
समुद्रबन्ध द्वारा शब्दार्थ-वैशिष्ट्य का विश्लेषण ... ८७
इनकी आलोचना ... ८९
काव्य के लक्षणों पर दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव ... ९१
सम्प्रदायगत तथा डा० दे के वर्गीकरण का पुनरालोचन... ९५

प्राचीन आचार्यों के मत का विश्लेषण
भामह ... ९९
दण्डी ... १०३
वामन ... १०६
उद्भट ... १०९
रुद्रट ... १११
अलंकार-विभाग में ध्वनितत्त्व का अन्तर्भाव ... ११२
कतिपय अलंकारों का इस दृष्टि से विवेचन
पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा ... ११५
समासोक्ति ... ११६
आक्षेपादि अलंकार ... ११७
रुद्रट का भावालंकार ... ११८
विशेषोक्ति ... १२०
अलंकारों की वाच्योपस्कारकता तथा प्रधानता ... १२१
ध्वनिविषयक विप्रतिपत्तियों का विश्लेषण ... १२३
लौकिकालंकार, काव्यालंकार तथा अलंकार्य ... १२६
जयरथ द्वारा उद्धृत ध्वनिविरोधी मत ... १२९
भट्टनायक का मत ... १३०
कुन्तक का वक्रोक्तिसम्प्रदाय ... १३१
महिमभट्ट का अनुमितिवाद ... १३२
रुय्यक द्वारा खण्डन ... १३३
अलंकार का स्वरूप और सम्बन्ध
(आनन्दवर्धन, क्षेमेन्द्र, महिमभट्ट, कुन्तक आदि के मत) ... १३४
रुय्यक तथा उनके टीकाकारों का मत ... १३७

तृतीय अध्याय

अलंकारों का विकास तथा श्रेणीविभाग

विकास १४३
शब्दार्थोभयविभाग १५६
अलंकारविभाग का नियामक तत्त्व १६२

अन्वयव्यतिरेकभाव	....	१६५
आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त	....	१६८
कतिपय अलंकारों का विभाग	....	१७०
चित्रालंकार की औपचारिक शब्दालंकारता	....	१७५
अलंकारों का वर्गीकरण	...	१८०
पौनरुक्त्यवर्ग के अलंकार	....	१८४
सादृश्याश्रयवर्ग के अलंकार	....	१८६
विरोधगर्भ	....	१९०
शृंखलाबन्ध पर आश्रित	....	१९१
तर्कन्यायमूल	....	१९१
वाक्यन्यायमूल	....	१९२
लोकन्यायमूल	....	१९२
गूढार्थप्रतीतिपर	....	१९३
वर्गीकरण का समीक्षण	....	१९५
अलंकारों का निरूपण-क्रम	....	१९७

चतुर्थ अध्याय

उपमामूलक अलंकार

उपमा	...	२०४
औपम्य का स्वरूप	....	२०७
उपमालंकार	....	२१२
उपमातत्त्व	....	२१६
साधारण धर्म	....	२१९
साधारण धर्म का त्रिविध निर्देश	....	२२१
तीनों के उदाहरण	....	२२३
उपमावाचक	....	२२९
भेदोपभेद	....	२३०
अनन्वय	....	२३३
अनन्वय और लाटानुप्रास	....	२३६
अनन्वय और असमालंकार	....	२३७

उपमेयोपमा ... २३९
वाक्यभेद ... २४१
शब्दैक्य आनुषंगिक २४१
त्रिविध भेद २४१

स्मरण ... २४३
परिभाषा २४३
स्मरणालंकार की साद्दश्यमूलकता २४४
स्मरण तथा अन्य अलंकार २४६
त्रिविध भेद २४९

रूपक २५०
अभेदप्रतीति की प्रक्रिया २५१
आरोप और लक्षणा २५३
रूपक की साद्दश्यमूलकता २५४
त्रिविध भेद २५६
भेदोपभेद २५७
मम्मट का रूपकविभाग २५७
रुय्यक का रूपकविभाग २५८
श्लेष-रूपक २५९
अभेदालंकार का अन्तर्भाव २६०

परिणाम ... २६२
परिणामलक्षण तथा उसका रूपक आदि से भेद २६२
प्रकृतोपयोग के सम्बन्ध में दो मत २६५
दोनों का समन्वय २६६
रूपक-परिणाम का विषयविभाग २६८

सन्देह ... २७०
त्रिविध प्रत्यय २७०
सन्देह में आरोप तथा अध्यवसाय २७२
सन्देह के भेद २७३
त्रिविध भेद २७४
वितर्कालंकार का सन्देह में अन्तर्भाव २७५

भ्रान्तिमान् २७७

त्रिविध भेद २८०

निश्चयालंकार का अन्तर्भाव २८०

संस्कारालंकार २८०

उल्लेख ... २८३

एक स्वतन्त्र अलंकार २८४

त्रिविध भेद २८७

अपह्नुति ... २८८

अपह्नुति में आरोप अध्यवसायोन्मुख २९०

अपह्नुति की सादृश्यमूलकता २९१

भेदोपभेद २९२

उत्प्रेक्षा २९६

अध्यवसाय की साध्यावस्था २९७

अध्यवसाय की लक्षणामूलकता ३०१

उत्प्रेक्षा के भेद ३०३

उत्प्रेक्षावयव का अन्तर्भाव ३०९

अतिशयोक्ति ३१०

भेद ३१३

तुल्ययोगिता-दीपक ३१७

तुल्ययोगिता का स्वरूप और भेद ३१९

तुल्ययोगिता-दीपक की भेदतालिका ३२१

तुल्ययोगिता तथा दीपक ३२२

दीपक-भेद ३२३

प्रतिवस्तूपमा ३२६

उपमादि से भेद ३२७

दृष्टान्त ... ३३०

प्रतिवस्तूपमा आदि से भेद ३३१

निदर्शना ... ३३३

अन्य अलंकारों से भेद ... ३३६

व्यतिरेक ३४१

व्यतिरेक-लक्षण ३४४

सहोक्ति ३४७

समासोक्ति ... ३५२

समान-विशेषण का तीन प्रकार से निर्देश ३५३

भेद ३६४

अर्थान्तरन्यास ... ३६७

भेद ३७३

मेघदूत के अर्थान्तरन्यास ३७३

अनुबन्ध

अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका
—संस्करण एवं अनुवाद— ३८०

अलंकारानुक्रमणिका ४०६

प्रमुख सहायक ग्रन्थ ... ४१६

शुद्धिपत्र ... ४२५

संकेताक्षर

अ० उ०	—अलंकारोदाहरण ।
अभि० भा०	—अभिनवभारती ।
अ० र०	—अलंकाररत्नाकर ।
अ० स०	—अलंकारसर्वस्व ।
अ० सू०	—अलंकारसूत्र (रुय्यक-कृत) ।
ऑफ्रेट	—Th Anfrecht's catalogus catalogorum i-iii, लेपशिग, १८९१-१९०३ ।
एनल्स,बी०ओ०आर०आई० Annals, B.O.R .I.	—एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट ।
एका०	—एकावली ।
एन० सी० सी० N.C.C.	—New Catalogus Catalogorum, न्यू कैटालोगस कैटालोगोरम ।
औ० वि० च०	—औचित्यविचारचर्चा ।
का० अ०	—काव्यालंकार ।
का० अ० सं०	—काव्यालंकारसंग्रह ।
का० प्र०	—काव्यप्रकाश ।
का० प्र० सं०	—काव्यप्रकाशसंकेत ।
का० मा०	—काव्यमाला ।
काव्यमी०	—काव्यमीमांसा ।
का० अ० सू०	—काव्यालंकारसूत्र ।
का० मी० (काव्यमी०)	—काव्यमीमांसा ।
काव्यानु०	—काव्यानुशासन ।
काश्मीर रिपोर्ट	—G. Buhler's Detailed Report of a Tour in Search of Sanskrit MSS. in Kashmir, Rajputana and Central India.
चित्रमी०	—चित्रमीमांसा ।
जे० आर० ए० एस० J.R.A.S.	—जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ।
जैड० डी० एम० जी० Z..D.M.G.	—Zeitschrift der Deutchen Morgenlandischen Gesellschaft.

त० आ० —तन्त्रालोक ।
तरल —एकावली पर तरल टीका ।
ध्वन्या० —ध्वन्यालोक ।
नमिसाधु —रुद्रट के काव्यालंकार पर नमिसाधु की टीका ।
ना० शा० —नाट्यशास्त्र ।
नि० का० —निष्कृष्टार्थकारिका ।
नि० सा० —निर्णयसागर (संस्करण) ।
पीटर्सन रिपोर्ट —P. Peterson's Reports on the Search of Sanskrit MSS.
प्रतापरुद्र० —प्रतापरुद्रयशोभूषण ।
रत्नापण —प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीका ।
रसग० —रगगंगाधर ।
रा० त० —राजतरंगिणी ।
लघुवृत्ति —काव्यालंकारसंग्रह पर इन्दुराज की टीका ।
व० जी० —वक्रोक्तिजीवित ।
विमर्शिनी —अलंकारविमर्शिनी ।
विवृति —काव्यालंकारसंग्रह पर तिलक की विवृति ।
वी०आई०जे० V.I.J.—विश्वेश्वरानन्द इन्डोलोजिकल जर्नल ।
वृ० —वृत्ति ।
वि० —विमर्शिनी ।
व्य० वि० —व्यक्तिविवेक ।
व्य० वि० व्या० —व्यक्तिविवेकव्याख्यान अथवा व्यक्तिविवेकविचार ।
संजी० —संजीविनी ।
सं० प्र० —संप्रदायप्रकाशिनी ।
स० क० —सरस्वतीकण्ठाभरण ।
समुद्र० —समुद्रबन्धव्याख्या ।
सरस्वती० —सरस्वतीकण्ठाभरण ।
सर्वस्व —अलंकारसर्वस्व ।
सा० चू० —साहित्यचूड़ामणि ।
सा० द० —साहित्यदर्पण ।
सा० मी० —साहित्यमीमांसा ।
सू० —सूत्र ।
हि० —हिन्दी ।

प्रथम अध्याय

राजानक रुय्यक तथा उनके टीकाकार

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

प्रस्तुत अध्ययन रुय्यककृत अलंकारसर्वस्व का है। इसके अतिरिक्त इसी नाम से चार और पुस्तकों का उल्लेख मिलता है। श्रीनिवासाचार्य ने संस्कृत-सूचीपत्र[1] में एक अज्ञातनामा लेखक के नाम से अलंकारसर्वस्व का विवरण प्रस्तुत किया है। श्री हर्षोपाध्याय ने विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण का (श्रीगोपालदेव नामक गुणग्राही प्रतिपालक के लिए) शब्दान्तर में संक्षेप इसी नाम से किया था। इसी नाम का तीसरा ग्रन्थ श्री केशवमिश्र का लिखा हुआ है। इसमें विशेषतः अलंकार तथा अलंकारशेखर में आए अन्य अनेक विषयों का विशद विवेचन किया गया था।[2] मल्लिकभट्ट, उपनाम हेमाद्रि, ने रघुवंश की अपनी टीका में प्रभाकरप्रणीत अलंकारसर्वस्व का उल्लेख किया है। इन चारों का समय रुय्यककृत अलंकारसर्वस्व से बहुत बाद का है, जो प्राचीनता, प्रसिद्धि, महत्ता तथा प्रभाव की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अलंकारसर्वस्व या केवल सर्वस्व का नाम लेने से रुय्यक की कृति का ही सभी को अनायास स्मरण हो आता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के तीन अंग हैं—सूत्र, उन पर वृत्ति तथा उदाहरण।[3] अलंकारसर्वस्व के सूत्रों की आख्या सर्वस्वसूत्र, अलंकार-सर्वस्वसूत्र, तथा

---

१. List of Sanskrit Manuscripts in Private Libraries of Southern India by Gustav Oppert, No. 3104.

२. (क) प्रयोजनं यथैतासां रसमैत्री च विस्तरः।
तथालंकारसर्वस्वे सप्रपञ्चमदर्शयम्॥—अलंकारशेखर, पृ० १०।

(ख) यथैतेषां मिथो भेदः परेषां नातिरेकिता।
तथालंकारसर्वस्वे सप्रपञ्चमदर्शयम्॥ —वहीं, पृ० ३६।

३. शास्त्रीय लक्षण के अनुसार उदाहरण को वृत्ति का अंग मानकर सामान्यतया ग्रन्थ का विभाग दो अंगों में माना जा सकता है।

अलंकारसूत्र या केवल सूत्र[1] इन विभिन्न रूपों में है। पहली और तीसरी आख्या वृत्ति के साथ सम्बन्ध की सूचक है। दूसरी 'निजालंकारसूत्र' या 'गुर्वलंकारसूत्र' में आए 'अलंकारसूत्र' शब्द के आधार पर है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि **'काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते'** के आधार पर काव्यालंकारसूत्रवृत्ति वामन के ग्रन्थ का नाम है। इन सूत्रों की अलंकारसूत्र के रूप में आख्या का प्रमाण सर्वस्व भी उपस्थित करता है—**'सूत्रिता अलंकारसूत्रैः सूचिता संक्षेपतः प्रकाशिताः'**। अलंकारसूत्र अलंकारों का लक्षण संक्षेप में प्रकाशित अर्थात् सूचित करने के नाते चरितार्थ संज्ञा है। इनकी संख्या सत्तासी है।[2] इन सूत्रों में केवल छः सूत्र अलंकारलक्षण नहीं देते हैं।[3] शेष इक्यासी सूत्रों में पांच शब्दालंकार[4], एक चित्रालंकार[5] (जिसे उपचारतः शब्दालंकार कहा जा सकता है) तथा अन्य पांच सूत्र[6] अलंकार-भेदों को सूचित करते हैं। शेष सत्तर सूत्र (जिनमें से दो अ० सू० संख्या ८२ तथा ८३ क्रमशः चार तथा तीन अलंकारों का निरूपण कर देते हैं) पचहत्तर अर्थालंकारों का निर्वचन करते हैं।

अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों का प्रारम्भ यदि भरत के नाट्यशास्त्र से मान लें (जिसकी परम्परा आज के उपलब्ध ग्रन्थ से बहुत प्राचीन है) तो सूत्र तथा श्लोकों में इस शास्त्र का प्रारम्भ माना जाएगा। इसके बाद भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट ने पद्यों में अलंकारशास्त्र, प्रधानतया अलंकारसम्प्रदाय, का विकास किया। वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति लिखकर एक नवीन शैली को जन्म दिया। ग्रन्थकार सूत्र का स्वयं निर्माण करता है और उनपर अपनी वृत्ति लिखकर स्वरचित और विशेषतया दूसरे कवियों के काव्य से उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसी शैली का अनुगमन ध्वनिकाल तथा ध्वन्युत्तरकाल के अलंकारशास्त्रियों ने प्राधान्येन किया है। वामन के ग्रन्थ की रूपशैली में ही

---

१. सा० चू० (द्वितीय भाग) पृ० २०८, २१२, २४५, २५७, २७२, २७३, २७४, आदि।

२. पर्याय (द्वितीय) को अ० तथा नि० संस्करणों में सूत्र न मानकर वृत्ति का अंश माना है, अतः इनके अनुसार सूत्रों की संख्या ८६ है।

३. अ० सू० संख्या १, २, ३, ६, ९ तथा ८७।

४. वहीं ३, ४, ५, ६, तथा ८।

५. अ० सू० १०।

६. वहीं ३९, ५२, ६१, ६७ तथा ८२।

रुय्यक का अलंकारसर्वस्व है। काव्यालंकारसूत्र तथा सर्वस्व के मंगलश्लोकों की द्वितीय पंक्तियों में अन्तर नाममात्र का है। वामन लिखते हैं—

काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते।

रुय्यक की पंक्ति इसकी प्रतिध्वनि-सी करती है—

निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते।

विरोध तथा अनन्वय के लक्षण काव्यालंकारसूत्र तथा अलंकारसूत्र दोनों में एक ही हैं।[1]

काव्यप्रकाश पर रुय्यक ने टीका लिखी थी और वे मम्मट के कनिष्ठ समकालीन भी थे। काव्यप्रकाश की अलंकार-कारिकाओं तथा रुय्यक के अनेक अलंकारसूत्रों में अत्यधिक साम्य है। साधारणतया इनमें यह प्रतीत होता है कि कारिकाओं को न्यूनाधिक रूप में शब्दान्तर में सूत्रित कर दिया गया है। उदाहरण के लिए वक्रोक्ति, चित्र, अनन्वय, मालादीपक, काव्यलिंग, कारण-माला, अन्योन्य, उत्तर, सार, समाधि तथा एकावली के काव्यप्रकाश तथा अलंकारसूत्र के लक्षणों को देखिए। इन आधारों पर यह कहना संभव है कि वामन तथा मम्मट के ग्रन्थों ने सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण इन तीन अंगों में सर्वस्व को लिखने का दिशानिर्देश किया हो। अलंकारसूत्रों का काव्यालंकार-सूत्र तथा काव्यप्रकाश की कारिकाओं से साम्य है पर अनेक अलंकारों में अन्तर भी इतना स्पष्ट है कि रुय्यक के अलंकारसूत्रों को अधिक संक्षिप्त, सरल तथा वैज्ञानिक कहना उपयुक्त होगा। वामन के बाद अलंकारस्वरूप में अनेक परिवर्तन आ चुके थे जिन्हें विभिन्न अलंकारों के लक्षणों में स्पष्टतया पाया जा सकता है। स्मरण, भ्रान्तिमान्, विरोध, पर्यायोक्त, अनुमान, सूक्ष्म, असंगति, अधिक, मीलित, प्रतीप तथा भाविक अलंकारों के काव्यप्रकाश तथा अलंकारसूत्रों के लक्षणों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि इनमें अर्थतः अत्यधिक साम्य होने पर भी, अलंकारनिरूपण की एक निश्चित पद्धति अपनाने के कारण, कम शब्दों में रुय्यक के सूत्र अधिक स्पष्ट, सरल और अपने में पूर्ण हैं—उन्हें वृत्ति की अपेक्षा नहीं। अतिशयोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति,

---

१. (क) **विरुद्धाभासत्वं विरोधः।**—का०सू० ४।३।१२, यही अक्षरशः अ० सू० ४० है।

(ख) एकस्योपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः। —का०सू०४।३।४, अ० सू० १२ **में 'एकस्य' के बाद केवल 'एव' अधिक है।**

पर्याय तथा परिकर जैसे अनेक ऐसे भी अलंकार हैं जिनके स्वरूपनिरूपण की भाषा और शैली में अलंकारसूत्र तथा काव्यप्रकाश की कारिकाओं में अन्तर अधिक है । पुनरुक्तवदाभास, स्वभावोक्ति, श्लेष तथा शेष अन्य अलंकारों के स्वरूप-निर्वचन में भी इन दोनों में भेद है । इस प्रकार इन ग्रन्थों से अलंकार-सूत्र का रूप और शैली में अनेकत्र अत्यधिक साम्य होने पर भी अनेक अलं-कारों के लक्षण भाषा और शैली में अन्तर है किन्तु अलंकारसूत्र की मौलिकता, समृद्धि और स्वतन्त्र पद्धति पर किसी प्रकार का आघात नहीं हो पाता । रुय्यक के बाद अलंकारसार और अलंकारभाष्य (जो अभी तक अप्राप्य हैं) भी सम्भवतः इसी शैली में लिखे गए थे ।[1] श्री शोभाकर ने अलंकाररत्नाकर में इसी शैली का अनुकरण किया है ।[2] इस के सूत्रों के स्वरूप तथा शब्दावली में अलंकारसूत्र से अधिक साम्य है । विरोध और विपर्यय के लक्षणों में मात्रा-भेद भी नहीं है । वृत्त्यनुप्रास, परिणाम, सन्देह, व्याजस्तुति, श्लेष तथा परिकर अलंकारों में एक दो पदों के न्यूनाधिक रूप में रुय्यक के सूत्रों का अक्षरशः सूत्रण शोभाकर ने किया है ।[3] उसके अनेक सूत्रों में सर्वस्व की शब्दावली से अन्तर अवश्य है, पर अर्थ वही है, जैसे कि चित्र, उपमेयोपमा, व्यतिरेक, उल्लेख, विनोक्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, परिवृत्तितथा सूक्ष्म अलंकारों के सूत्र में । शोभाकर के जिन अलंकारलक्षणों में न्यूनाधिक स्वरूपभेद हैं उनमें भी रुय्यक के अलंकारसूत्र की शब्दावली का ही अनुसरण है । इसका उदाहरण स्मृति, अपह्नुति, पर्यायोक्ति असंगति, विशेष तथा व्याजोक्ति अलंकारों के सूत्रों की शब्दावली है । ध्वन्युत्तर-काल के अर्वाचीन अलंकार-ग्रन्थों में इस शैली का अनुकरण न होकर अन्य शैलियों का विकास हुआ जिनमें प्राचीन शैलियों का अनुकरण भी था और नवीनता भी ।[1] शैली-भेद होने पर भी रुय्यकोत्तर आलंकारिकों ने अलंकार-

---

१. इसी अध्याय में देखिए—'अलंकारसार तथा अलंकारभाष्य ।'

२. इसमें अन्तरश्लोक का एक और अंग है । वृत्ति में प्रकट किए गए अपने मन्तव्य को समासतः प्रस्तुत करने के लिए अन्तरश्लोक या परिकरश्लोक लिखे जाते हैं ।

३. जैसे कि वृत्त्यनुप्रास के सूत्र में अ० र० में 'एत्र' का अधिक प्रयोग है । सन्देह के लक्षण में अ० सू० के 'विषयस्य' के स्थान पर 'तस्य' का प्रयोग किया गया है ।

४. उदाहरण के लिए—चन्द्रालोक की शैली, साहित्यदर्पण की शैली तथा रसगंगाधर की शैली, भिन्न शैलियां हैं । प्रथम में लक्षण और उदाहरण

लक्षणों में प्रायः उसी पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग किया है जिसका विकास सर्वस्व के समय तक हो चुका था। विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जयदेव तथा जगन्नाथ आदि के अलंकारलक्षण के श्लोक, कारिकाएं अथवा सूत्र रुय्यक द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का ही प्रयोग करते हैं।

अलंकारसूत्रों की विशेषताएँ

सूत्र का प्रसिद्ध लक्षण है—**अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम् सम्यक् संसूचितार्थं यत् तत् सूत्रमिति कथ्यते।** सूत्रकार रुय्यक ने अपने अलंकारसूत्र में अलंकारलक्षण के अतिरिक्त अलंकारों के वर्गीकरण और क्रम की सूचना दी है।[1] इन सूत्रों में अनेक पारिभाषिक तथा अप्रसिद्धार्थ शब्दों के प्रयोग से, उनके सुबोध के लिए, व्याख्या की आवश्यकता अवश्य है पर साथही काव्यप्रकाश की कारिकाओं या अलंकाररत्नाकर के सूत्रों की भांति उनमें वृत्ति-सापेक्षता अधिक नहीं है। प्रत्येक सूत्र प्रकरणसंगति के साथ अलंकार के लक्षण, उसके वर्गीकरण और क्रम का निर्देश करने के लिए पूर्ण है। काव्यप्रकाश की भाषा-सी न तो उनमें दुरवगाहता है और न अपूर्णता। सूत्रशैली में होने के नाते भाषा का गठी होना, प्रतिपादन का अल्पाक्षर होना, स्वाभाविक है; पर उससे इस प्रकार की गुत्थियाँ नहीं पड़तीं, जिन्हें सुलझाने में अर्थ का अनर्थ हो अथवा निश्चित या समंजस अवधारण ही संभव न हो सके। सरलता, क्रमिकता, पूर्णता और सुबोधता अलंकारसूत्र के आपातरमणीय गुण हैं। अलंकार-स्वरूप का संक्षेप में लक्षण करने के लिए उपयुक्त शब्दावली का सृजन तथा चयन इनका अमूल्य उपहार है। कतिपय नवीन अलंकार, अलंकार-भेद तथा अलंकार-स्वरूप के भेद की उद्भावना में इनकी मौलिकता है। काव्यप्रकाश पर साहित्य-चूड़ामणि लिखनेवाले भट्टगोपाल ने इन सूत्रों का प्रायः प्रत्येक अलंकार पर उल्लेख किया है। जहाँ एक ओर शोभाकर, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ अप्पय्यदीक्षित, जगन्नाथ आदि आलंकारिक ग्रन्थकारों ने काव्यप्रकाश से अधिक अलंकारसूत्र का अनुसरण किया है; वहां मल्लिनाथ, कुमारस्वामी तथा राघव-भट्ट जैसे उद्भट टीकाकारों ने इनका यथोचित उपयोग और उल्लेख किया

एक ही श्लोक में रखे गए हैं, द्वितीय में श्लोकबद्ध कारिकाएं हैं, तृतीय में लक्षण नव्यन्याय की भाषा में डुबोए सूत्रों में है, व्याख्या विशद और विवेचनापूर्ण है तथा उदाहरणस्वरचित हैं।

१. देखिए इस प्रबन्ध का अध्याय 'अलंकारों का विभाग, वर्गीकरण तथा निरूपण क्रम।'

है। अलंकारविशेष के स्वरूपनिर्वचन में, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं, काव्यप्रकाश की कारिकाओं से अधिक रुय्यक के अलंकारसूत्रों का प्रभाव उत्तरकालीन आलंकारिकों पर है। अलंकारों के संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट और तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से अलंकारसूत्रों की समता किसी से भी नहीं की जा सकती—

न परैरीदृशि सूत्राणि कृतानि।—वि०, पृ० ३

वृत्तिभाग

अलंकारसर्वस्व का महत्त्व सूत्रों पर लिखी गई संक्षिप्त व्याख्या से है जिसने इस ग्रन्थ को 'सर्वस्व' नाम दिया। मंगलपद्य के 'वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते' से स्पष्ट है कि व्याख्या का स्वरूप वृत्ति का है।[1] वृत्ति वह संक्षिप्त व्याख्यानपद्धति है जिसमें सूत्रों के अनेक अनवगत[2] विषयों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।[3] अलंकारसूत्रों का वृत्ति द्वारा केवल सार या तात्पर्य ही न लिखकर अगर कहीं विस्तृत व्याख्या-शैली या भाष्यशैली अपनाई जाती तो ग्रन्थ का कलेवर चाहे जितना विशाल होता किन्तु जयरथ के शब्दों में व्याख्याकार पार न पा पाता—अन्यथा हि कथनमेषां बहुनापि ग्रन्थेन पारं न यायात्। —वि० पृ० ३

---

१. वृत्तिरूपेण सन्दर्भेण—संजी० पृ० ३।

२. वृत्त्या अनवगतपदार्थविवरणेन—समुद्र० पृ० ३।

३. सूत्रमात्रस्य या व्याख्या सा वृत्तिरभिधीयते। वृत्ति का यह प्राचीन लक्षण है। इसके 'मात्र' पद का महत्त्व कालक्रम से कुछ कम हो गया। वृत्ति के निम्नलिखित लक्षणों से सर्वस्व का स्वरूप समझने में सहायता मिलेगी—

(अ) सूत्रार्थप्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः। —हरदत्त की पदमंजरी।

(ब) सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः।—का० मी० अ० २।

(स) सूत्रार्थे विवरणं वृत्तिः।—कलापव्याकरण।

वृत्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें उदाहरण, प्रत्युदाहरण तथा वाक्य का अध्याहार हो। प्रदीपकार कैयट के अनुसार वृत्तिकार को विषय का अधिकार (जैसा कि रुय्यक ने प्रारम्भ में बताया है) तथा उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति का निर्देश करना चाहिए। वृत्तिकार को क्या नहीं करना चाहिए इसका निरूपण करते हुए कुमारिल ने कहा है कि वृत्ति में अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिए, और जहां तक संभव हो सूत्र का प्रसिद्ध अर्थ ही बताना चाहिए—

प्रसिद्धहानिः शब्दानामप्रसिद्धार्थकल्पना।
न कार्या वृत्तिकारेण सति सिद्धार्थसम्भवे॥—तन्त्रवार्तिक १-१-१।

अभिख्या

वृत्तिभाग का नाम अलंकारसर्वस्व है। रुय्यक ने स्वयं इस नाम का निबन्धन ग्रन्थ के किसी भाग में नहीं किया है, किन्तु यह नाम इस ग्रन्थ की सभी पुष्पिकाओं में मिलता है। सहृदयलीला की पुष्पिका में रुय्यक को अलंकारसर्वस्वकृत् कहा गया है। दाक्षिणात्य पाठपरम्परा में प्रचलित श्लोक तो स्पष्टतः इसकी संज्ञा अलंकारसर्वस्व घोषित करता है—

सुकविमुखालंकारं तदिदमलंकारसर्वस्वम्।

परवर्ती आलंकारिकों में इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि अलंकारसर्वस्व[1] और केवल सर्वस्व[2] इन दो रूपों में हुई। जयरथ तथा चक्रवर्ती ने इस ग्रन्थ की आख्या अलंकारसर्वस्व के रूप में स्पष्टतः बताई है[3]। इसी के अनुसार ग्रन्थकार का अलंकारसर्वस्वकार[4] या अलंकारसर्वस्वकृत् तथा सर्वस्वकार[5] आदि के रूपों में आलंकारिकों ने उल्लेख किया है।

अलंकारसर्वस्व की विशेषताएँ

आलंकारिकरूप में रुय्यक के यशःशरीर का सर्वस्व अलंकारसर्वस्व है। किसी विषय के अधिकारी विद्वान् की भाषा में गाम्भीर्य, संयम और समास के गुण सहज होते हैं। वामन और आनन्दवर्धन की प्रतिपादन-शैली में जो विश्वास और प्रौढिमा है वही सर्वस्व की शैली में है। युगों की अलंकारचिन्तना के

---

१. प्रतापरुद्र० पृ० २६०, ३३४। रत्नापण, पृ० १३४, ३७६, ३८३, ४०३, ४०५ तथा ६४२। तरल, पृ० २६६। रसग० पृ० २५८, ४४३।

२. रत्नापण, पृ० ४२४, ४४६ आदि। रसग० पृ० ६६४ आदि।

३. (क) तदभिधायकं चेदमलंकारसर्वस्वाख्यं प्रकरणम्। —वि० पृ० ३।
(ख) काव्यप्रकाशेऽलंकारसर्वस्वे च—संजी०।

४. देखिए एका० पृ० १५०। रत्नापण, पृ० ५४, ३३७, ३७६। तरल, पृ० २१, ३१-२, १८३, १८७, २३२, २३७, २५७, २६१, २६२। रसग० (बनारस) पृ० ३१७, ३२६, ३५६, ४३७, ४६६, ५४०, ५५६, ५५६, ५६६, ६०८, ६४७, ६५१, ६५६, ६७५, ६७७, ६६१-२, ६६६, ७५२ आदि। सं० प्र० (द्वितीयभाग) पृ०३१७।

५. रत्नापण, पृ० ३४१, ५४५, ३५३, ४१५, ४३६। तरल, पृ०-५६१-६३, ५७१, ६५५ तथा ६८८।

नवनीत को विज्ञ अध्येता के समक्ष रखना, अपने वैयक्तिक चिन्तन का योग, आक्षेप-प्रत्याक्षेप की कालिमा में न पड़कर, अधिकारी स्वर के साथ विषय-विवेचन इन सभी दृष्टियों से सर्वस्व का स्थान कोई दूसरा ग्रंथ नहीं ले सकता है। यही कारण है कि अर्वाचीन सभी ग्रन्थों पर उसका प्रभाव पड़ा है। सभी अलंकारों के संक्षेप में किन्तु गम्भीर और स्पष्ट स्वरूप-निरूपण की दृष्टि से अलंकारसर्वस्व की महत्ता प्राचीन सभी अलंकार-ग्रन्थों से अपनी निजी विशेषता रखती है। जयरथ का तो कथन है कि ग्रन्थ का विस्तार करने पर भी दूसरा आचार्य इतना सुन्दर विवेचन न कर सका है—

एवं ग्रन्थसंक्षेपेणापि सर्वेषामलंकाराणां विस्तृत एव यथासम्भवि स्वरूपमुक्तमिति प्राच्यालंकारग्रन्थेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमपि ध्वनितम्। तत्र ग्रन्थविस्तरेणाप्येतत्स्वरूपस्यानभिधानात्। —वि० पृ० २५६

यही क्यों, जयरथ का तो कहना है कि खोजने पर भी अलंकारसर्वस्व की भाँति अलंकारों का निरूपण करनेवाला दूसरा ग्रंथ न मिलेगा—

न ह्येवविधमेतदभिधायकं प्रकरणान्तरमस्ति। तस्यान्विष्यमाणस्याप्युपलम्भयोग्यस्यानुपलम्भात्॥ —वि० पृ० ३

सर्वस्व ने चिरन्तन अलंकार-ग्रन्थों से जो नवनीत लिया, उनके मतों की जो विवेचना की है तथा अपना जो योगदान दिया है उनकी चर्चा इस प्रबन्ध में यथास्थान हुई है। अतः सर्वस्व के सम्बन्ध में यहाँ केवल रुय्यक के वाग्विस्तार की जो विशेषता श्रीचक्रवर्ती ने सर्वस्व में देखी थी उसका उल्लेख कर दिया जा रहा है—

शब्दन्यासो विषमविषमो दुर्घटार्थव्यवस्था—
व्याप्त्यवाप्तिप्रकटनपटुर्न्यायचर्चो गभीरः।
इत्थं भूम्ना रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोऽयम्...

समीक्षाशास्त्र की अंगभूत अलंकारमीमांसा का निबन्धन करने के नाते जयरथ तथा चक्रवर्ती दोनों ही टीकाकार इसे प्रकरण-ग्रन्थ कहते हैं। संस्कृत-पण्डित सिद्धान्तग्रन्थ, वादग्रन्थ तथा प्रकरणग्रन्थ इन तीन रूपों में ग्रन्थों का एक विभाजन मानते हैं। किसी शास्त्र के अंगविशेष को लेकर उसका स्वतन्त्र निरूपण करनेवाले ग्रन्थ को प्रकरण कहा जाता है। प्रकरण शब्द का प्राकरणिक अर्थ है प्रबन्ध या ऐसा लघुकाय ग्रन्थ जिसमें किसी एक विषय का संक्षेपतः किन्तु विशद विवेचन हो। साहित्यशास्त्र के विभिन्न तत्त्वों में से

अलंकारों का ही एकान्त विवेचन करने के नाते इसे प्रकरण-ग्रन्थ कहना परिभाषा के अनुकूल है।

काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व

श्री विद्याचक्रवर्ती ने मम्मट के काव्यप्रकाश तथा रुय्यक के अलंकारसर्वस्व पर व्याख्या लिखने का औचित्य 'सचेता' द्वारा दोनों का ही 'अत्यादर' करना माना है—

काव्यप्रकाशेऽलंकारसर्वस्वे च सचेतसाम् ।
अत्यादरो जगत्यस्मिन्व्याख्यातमुभयं ततः ॥–संजी० (समाप्तिपद्य)

बात है भी सही। मम्मट-रुय्यक के बाद जो कुछ भी अलंकार-निरूपण हुआ है उस पर इन दोनों आचार्यों का प्रभाव सुतरां परिलक्षित होता है। इन दोनों ग्रन्थों का मतैक्य तो अनेकत्र है पर मतभेद भी कम उग्र नहीं है। यद्यपि मम्मट और रुय्यक दोनों ही ध्वनिवादी हैं पर एक 'ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य' है तो दूसरा 'आलंकारिकसमाजाग्रगण्य'। अलंकारमीमांसा काव्यप्रकाश का एक अंग है किन्तु अलंकारसर्वस्व का वह प्रतिपाद्य है। स्वभावत: रुय्यक ने ध्वनिवाद के काव्यविभाग को एकबार स्वीकारकर विभिन्न अलंकारों के निरूपण में ध्वनिवाद के दृष्टिकोण के साथ आलंकारिकसमुदाय की चिन्तन-प्रणाली से भी काम लिया है। काव्यप्रकाश का स्थान ध्वनिवाद तथा काव्य-चिन्तन के अन्य अंगों के स्वरूप और सम्बन्ध समझने के लिए अद्वितीय है, पर अलंकारमीमांसा के निपुण निरूपण के लिए सर्वस्व सचमुच सर्वस्व है। यही कारण है कि ध्वनिसम्प्रदाय के प्रबल समर्थक होने पर भी रुय्यक ने रसवत्, प्रेय:, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता तथा द्वितीय उदात्त का भी निरूपण किया जिनका पृथक् अलंकार के रूप में परिगणन करने के लिए काव्यप्रकाशकार ने **'यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालंकारतयोक्तानि तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्'** द्वारा समर्थ निर्देश किया था।

देश और काल की दृष्टि से मम्मट और रुय्यक इतने पास हैं कि प्रथम का दूसरे पर प्रभाव न पड़ना अस्वाभाविक होगा। रुय्यक के सभी टीकाकार काव्यप्रकाश के सर्वस्व में प्राप्त अनेक उद्धरणों पर एकमत हैं कि 'अन्यै:' 'अन्यत्र' और 'कैश्चित्' के रूप में सर्वस्वकार ने काव्यप्रकाश के ही मत का समर्थन या विरोध में में उल्लेख किया है। सर्वस्व के ही टीकाकार क्यों,

बाद के आलंकारिक, जैसे कि विद्यानाथ तथा विद्याधर और उनके टीकाकार, मम्मट-रुय्यक के इस परस्पर साम्यवैषम्य से भलीभाँति परिचित हैं। काव्य-प्रकाश और सर्वस्व का पूर्वापरभाव न केवल इसलिए निश्चित है कि रुय्यक ने काव्यप्रकाश पर अपना संकेत लिखा है अपितु सर्वस्व में स्पष्टतः काव्यप्रकाश से अक्षरशः उद्धरण भी प्राप्त हैं जिनमें दो विशेषतया उल्लेखनीय हैं—

अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा॥

—अ०स० (त्रिवेन्द्रम) पृ० १०६

यह उद्धरण काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास से है। दशम उल्लास से भाविक-लक्षण का भी उल्लेख रुय्यक ने किया है —

अतएव 'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था क्रियन्ते भूतभाविनः तद् भाविकम्' इत्यन्यैर्भाविकलक्षणमकारि।—अ०स० पृ० २३०

काव्यप्रकाश से इन अक्षरशः उद्धरणों को यह मानकर नहीं टाला जा सकता कि संभवतः बाद में किसी दूसरे व्यक्ति ने इन्हें सर्वस्व में बढ़ा दिया हो, क्योंकि न तो इसके लिए पाठभेदमूलक प्रमाण है और न टीकाकार किसी प्रकार असहमत हैं। काव्यप्रकाश के अलंकारलक्षण, अलंकारचिन्तन तथा उदाहरणों से साम्यवैषम्य के अनेक स्थलों पर सर्वस्व की भाषा, 'अन्यैः' 'कैश्चित्तु' और 'उक्तः' के रूप में काव्यप्रकाश की पूर्ववर्तिता का अस्फुट पर निःसंदिग्ध प्रमाण उपस्थित करती है। टीकाकारों के साक्ष्य पर काव्यप्रकाश तथा सर्वस्व के मतभेद का उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में उपस्थित करना अनावश्यक न होगा।

वक्रोक्ति, लाटानुप्रास और श्लेष काव्यप्रकाश के अनुसार शब्दालंकार हैं; सर्वस्व के अनुसार प्रथम दो अर्थालंकार हैं तथा अन्तिम उभयालंकार है। श्लेष मम्मट के अनुसार अलंकारान्तर-बाध्य होता है पर रुय्यक के अनुसार वह सर्वालंकारापवाद होता है। सर्वस्वकार श्लेष को नियमेन '**अलंकारान्तरप्रतिभो त्पत्तिहेतु**' मानते हैं तो मम्मट का सूत्र होगा—**श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुर-लंकारान्तरम्।**

पुनरुक्तवदाभास को मम्मट उभयालंकार मानते हैं, किन्तु रुय्यक अर्था-लंकार। एक अथवा एक से अधिक व्यंजन का एक से अधिक बार सादृश्य, काव्यप्रकाश के अनुसार वृत्त्यनुप्रास का स्वरूप है। इसका लक्षण सर्वस्व के अनुसार भिन्न है। इसके अनुसार केवल व्यंजनसादृश्य, एकधा व्यंजनसमुदाय-

सादृश्य तथा व्यंजनत्रयादि का सादृश्य वृत्त्यनुप्रास है।[1] काव्यप्रकाश में सन्देहालंकार का स्वरूप है 'ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः' अर्थात् भेद (निश्चय) की उक्ति अथवा अनुक्ति के रूप से दो प्रकार का संशय सन्देहालंकार है। रुय्यक विषय और विषयी की सन्दिह्यमानता में ही सन्देह मानते हैं। प्रकृत के निषेध द्वारा अप्रकृत का साधन, काव्यप्रकाश के अनुसार अपह्नुति का स्वरूप है। सर्वस्व के लक्षण के अनुसार प्रकृत का अपह्नव और अप्रकृत (वस्त्वन्तर) की प्रतीतिमात्र (न कि साधन) अपह्नुति का पर्याप्त लक्षण है। इन दो आचार्यों का अपह्नुतिस्वरूप के सम्बन्ध में यह भेद काव्यप्रकाश के सान्धिविग्रहिक टीकाकार को भी नहीं मालूम था—नायं विशेषः सान्धिविग्रहिकेण चेतितः। इसीलिए चक्रवर्ती का कहना है कि अलंकारमीमांसा की सूक्ष्म दृष्टि पाने के लिए अलंकारसर्वस्व का सुपरिशीलन आवश्यक है।[2] मम्मट उपमान से उपमेय के आधिक्य में व्यतिरेकालंकार मानते हैं, किन्तु रुय्यक के अनुसार, दोनों में से किसी के उत्कर्ष में यह अलंकार संभव है। प्रतापरुद्रयशोभूषण तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थों में सर्वस्व का ही इस सम्बन्ध में अनुसरण सामान्यतया हुआ है।[3] मम्मट और रुय्यक दोनों ने ही ध्वनिवाद का अनुसरण किया है। किन्तु द्वितीय उदात्त को लेकर इन दोनों आचार्यों में मतभेद है। भामहादि प्राचीन आचार्यों के अनुसार रसभावादि के अंगितया वर्णन में रसवदादि अलंकार होते हैं, पर उनका जहां अंगरूप में वर्णन होता है वहां द्वितीय उदात्तालंकार होगा। ध्वनिवाद के अनुसार रसादि व्यंग्य होते हैं। उनका अंगी-रूप में निबन्धन होने पर ध्वनि होगी और अंग होने पर रसवदादि अलंकार, अतः द्वितीयोदात्त के लिए ध्वनिवाद में स्थान ही नहीं है। यह है सर्वस्व का मत। मम्मट के अनुसार रसवदादि को अलंकार न मानकर गुणीभूतव्यंग्य का भेद मानना चाहिए[4] और

---

१. एकावली की टीका तरल ने (जिसके अनुसार एकावलीकार ने सर्वस्व का अनुसरण किया है) दोनों का भेद इस प्रकार व्यक्त किया है—
असकृत् तदावृत्तिर्वृत्त्यनुप्रास इत्याह काव्यप्रकाशकारः। अलंकारसर्वस्वकारस्तु तद्विपरीतं सिद्धान्तयाञ्चकार। तन्मतालम्बनेनाह द्वयोर्द्वयोर्व्यंजनयोर्ययोः कयोश्चित् अन्योन्यमसकृत् सादृश्यं संख्यानियमः।
—एका० तथा तरल, पृ० १८६

२. सं० प्र० पृ० २८६।

३. प्रतापरुद्र० तथा रत्नापण, पृ० ४३६।

४. तरल, पृ० ३३१, ३३२।

उदात्त को ही अलंकार मानना चाहिए। ध्वनिवाद के समर्थक होने पर भी रसवदादि और उदात्त को लेकर इन दोनों में मतभेद इस बात का प्रमाण है कि रसवदादि को अलंकाररूप में मान लेना रुय्यक के ध्वनिवादी होने में न तो दोष पैदा करता है और न उन्हें गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत रखने के लिए मम्मट को ध्वनिवादी के रूप में कोई विशेष श्रेय देता है। वस्तुतः रसवदादि का अलंकार-रूप में परिगणन ही ध्वनिवाद से अधिक युक्तियुक्त समन्वय है।

काव्यप्रकाश और सर्वस्व में अनेक उदाहरणों को लेकर भी मतभेद है। **'यः कौमारहरः'** ... (अ० स० पृ० १६१, २५०) को मम्मट अस्फुटालंकार का, पर रुय्यक सन्देहसंकर का उदाहरण मानते हैं। **'राजन् राजसुता'** ... (अ० स० पृ० १३६) को काव्यप्रकाश में अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण माना गया है, पर सर्वस्व उसमें पर्यायोक्त मानने के लिए पर्याप्त तर्क उपस्थित करता है। **'त्रिद्ध-मानसहंस'**–में काव्यप्रकाश और सर्वस्व द्वारा रूपकविवेचन में जो विरोध है[1] उसका समन्वय भी सम्भव है[2], किन्तु **लिम्पतीव तमोऽङ्गानि** ,में इन दोनों का विरोध स्पष्ट है। उसे दूर भी नहीं किया जा सकता है।[3] **'त्वत्पादनख-रत्नानां** ...' में मम्मट दृष्टान्त मानते हैं तो रुय्यक वाक्यार्थनिदर्शना। जगन्नाथ इन दोनों से सहमत नहीं हैं। वे इसे वाक्यार्थरूपक का उदाहरण मानने के लिए युक्ति उपस्थित करते हैं। **' पन्थिअ ण इत्थं'** ... में अन्वयव्यतिरेकवादी मम्मट शब्दशक्तिमूल ध्वनि मानेंगे तो आश्रयाश्रयिभाववादीमें रुय्यक उभयशक्ति-मूलध्वनि [4]। **'राजति तटीयमभिहत** ......' में काव्यप्रकाश अंगांगिभावसंकर मानता है तो सर्वस्व में एकवाचकानुप्रवेशसंकर मानने के पक्ष में प्रबल अनुरोध है। (अ० स० पृ० २५०) **'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी'** ...... में मम्मट के अनु-सार यौवन-उपमेय के आधिक्य का वर्णन है तो रुय्यक के अनुसार यौवन की न्यूनगुणता का (अ० स० पृ० १०२)। मम्मट तथा रुय्यक के उपर्युक्त मतभेद इस बात के प्रमाण हैं कि काश्मीर की भूमि में चिन्तन की कितनी स्वतन्त्रता थी और कितनी बहुमुखी प्रवृत्ति से यहाँ के साहित्यशास्त्री साहित्यसागर को

---

१. देखिए सर्वस्व तथा वि० पृ० १३६। समुद्र० पृ० ११६। विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध में सर्वस्व का अनुसरण किया है।

२. देखिए सं० प्र० पृ० २८६, रत्नापण, पृ० ५४। ३. समुद्र० पृ० ३३।

४. वि० पृ० १३०-१३१

अपने चिन्तनक्षीर से अविरल भर रहे थे। वस्तुतः काव्यप्रकाश और सर्वस्व दोनों ही अलंकार के विद्यार्थी के लिए समान रूप से आदरणीय हैं, यद्यपि यह अवश्य है कि अलंकारचिन्तन की वैशदी और नैपुणी सर्वस्व में अधिक है। अलंकारमीमांसा की इसी सुनियोजित और स्पर्धिनी शृंखला की कड़ियां शोभाकरमित्र का अलंकार-रत्नाकर है और अन्य आचार्यों का अलंकारसार और अलंकारभाष्य। अलंकाररत्नाकर की विशेषता सर्वस्व के प्रतिपद खण्डन-मण्डन में है। उसमें मौलिक चिन्तन की कमी नहीं पर पाण्डित्यपूर्ण खण्डन का स्वर अधिक तीव्र है। अलंकारों के इतिहास में अलंकाररत्नाकर के महत्त्वपूर्ण योगदान का आकलन अभी शेष है। मैंने इस प्रबन्ध में इसका यथास्थान उपयोग किया है।

ग्रन्थकार

प्रायः सभी आधुनिक विद्वान् तथा इतिहासकार इस पर सहमत हैं कि सूत्र और वृत्ति दोनों ही रुय्यक की कृति हैं। मंखक ने इसके संस्कार द्वारा बाद में अपना केवल साधारण योग दिया है। इस मत की स्थापना सर्वस्व के टीकाकार, अन्य आलंकारिक, पाण्डुलिपियों का पाठ-प्रामाण्य तथा रुय्यक की कृतियों में प्राप्य साक्ष्य, इन चार भिन्न प्रमाणों के आधार पर की जा सकती है। सर्वस्व के सम्भवतः सर्वप्रथम टीकाकार आचार्य जयरथ हैं। ये काश्मीर के हैं जहाँ के रुय्यक थे। साथ ही इनका समय भी उनसे ७५ वर्ष के लगभग ही दूर है। अलंकारसर्वस्व के मंगलपद्य के द्वितीयार्ध के दो पाठ हैं—

निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते ।

तथा—**गुर्वलंकारसूत्राणां** ....।

जयरथ की विमर्शिनी में प्रथम पाठ ही मिलता है और इस पर उनकी व्याख्या है—

निजेति—परकीयाणां सूत्राणां तात्पर्यकथनानवबोधोऽपि स्यात् ।—वि० पृ० ३

यह स्पष्टतः सूत्र और वृत्ति का कृतित्व एक ही लेखक का मानती है। जयरथ ने इसीलिए 'ग्रन्थकृत्' के रूप में जो अनेक बार उल्लेख किया है उनमें सूत्र और वृत्ति का कृतिकार एक ही व्यक्ति को मान कर है[1]। यही नहीं, वे सूत्र और

---

१. वि० पृ० १, ५५, ७२, ७५-६, १२३, १२६,१२८, १३०, १३१, १३६, १५६, १६०, १६२, १६५, १७६, १८२, १८४, १८६, १९६, १९८, २२८, २५६, २५७ आदि।

वृत्ति दोनों भागों को मिलाकर एक ग्रन्थ के रूप में उल्लेख[1] करते हैं। यह भी उल्लेख्य है कि जयरथ ने कहीं भी मंखक का किसी रूप में उल्लेख नहीं किया है। सर्वस्व के दूसरे टीकाकार श्रीविद्याचक्रवर्ती का भी प्रामाण्य एककृतित्व के सम्बन्ध में निःसंदिग्ध है। प्रारम्भ में ही उन्होंने लिखा है—

रुचकाचार्योपज्ञे सेयमलंकारसर्वस्वे—

सर्वस्व के मंगलपद्य के व्याख्यान में अलंकार-सूत्र और उसकी वृत्ति रुय्यक-रचित ही हैं, यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

निजानां स्वेनैव प्रणीतानामलंकारसूत्राणाम्। —संजी० पृ० ३१

संजीविनी के अन्त में '**इत्थं भूम्ना रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोऽयम्**' पंक्ति इस सन्देह के लिए भी कोई स्थान नहीं छोड़ती कि कदाचित् ग्रन्थ के आरम्भ होने के बाद किसी दूसरे ने सहायता की हो। श्रीविद्याचक्रवर्ती की काव्यप्रकाश की टीका सम्प्रदायप्रकाशिनी में भी इसी मत को समर्थन मिलता है।[2] वृत्ति के साथ ही अलंकारसूत्र का उल्लेख सम्प्रदायप्रकाशिनीकार ने '**अलंकारसर्वस्वकृत्**' के नाम से किया है—

तदुक्तमलंकारसर्वस्वकृता भावोदयभावसन्धिभावशबलताश्च पृथगलंकाराः।—सं० प्र० (भाग १), पृ० २२०।

अलंकारसर्वस्व के तीसरे टीकाकार समुद्रबन्ध, जो समय और स्थान दोनों ही दृष्टियों से रुय्यक से दूर हैं, सर्वस्व का लेखक मंखुक को मानते हैं[3]। इनके मत पर सिद्धान्तपक्ष की स्थापना के बाद विचार करना उचित होगा।

आलंकारिकों का साक्ष्य

अलंकाररत्नाकार के लेखक शोभाकर ने अलंकारसर्वस्व के सूत्र और

---

1. वि० पृ० १५८, २५६-५७।
2. सं० प्र० (द्वि० भाग), पृ० २८९, ३१७, ३७४ ३४८, ४५०।
3. मंखुक शब्द मंखक का अशुद्ध रूप है। श्रीकण्ठचरित (३–६३ तथा ७२) में मंखक शब्द मिलता है और उसी में (१–५६) मंख शब्द। राजतरंगिणी में भी मंखक नाम ही मिलता है—
सान्धिविग्रहिको मंखकाख्योऽलंकारसोदरः।—रा० त० ८, ३३५४।
जल्हण ने सूक्तिमुक्तिावली (पृ० १८ तथा १२८) में मंखण के रूप में इनका उल्लेख किया है जो आपाततः अशुद्ध है।

वृत्ति को एक ही कृति मानकर अनेकत्र खण्डन-मण्डन किया है।[1] ये जयरथ से भी पूर्ववर्ती हैं क्योंकि उन्होंने शोभाकर की आलोचना का उत्तर देते हुए रुय्यक के मतों का समर्थन किया है। काव्यप्रकाश पर साहित्यचूड़ामणि टीका लिखनेवाले भट्टगोपाल श्रीविद्याचक्रवर्ती से प्राचीन हैं।[2] उन्होंने रुय्यक के अलंकारसूत्र और वृत्ति का अत्यधिक उल्लेख किया है। इन्होंने रुय्यककृत सूत्रों का उल्लेख अलंकारसर्वस्व-सूत्र के रूप में किया है[3]। वृत्ति के आरम्भ में रुय्यक द्वारा साहित्यशास्त्र के सिंहावलोकन का भट्टगोपाल ने रुय्यक के ही अनुसार अनुवाद भी किया है[4]। सूत्रकार का 'चिरन्तन' के रूप में उल्लेखकर उन्होंने उनके सूत्र तथा वृत्ति का भाग उद्धृत किया है, जो स्पष्टतः अलंकारसर्वस्व से लिया गया है।

चिरन्तना खलु भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेक (अ० सू० २८) **इति सूत्रयन्ते। आधिक्यमधिकगुणत्वं यथायोगमुदाहृत्य न्यून-गुणत्वरूपं विपर्ययं क्षीणः क्षीण इत्यादावुदाहरन्तो व्याचक्षिरे चन्द्रापेक्षया यौवनस्य क्षीणगुणत्वं शशिबैलक्षण्येन गतस्यापुनरागमनादिति।**–(अ० स० पृ० १०२) के आधार पर सा० चू० (द्वि० भाग), पृ० ३१८।

प्रस्तुत उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि भट्टगोपाल के अनुसार सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण इन भागों का लेखक एक ही व्यक्ति है। शोभाकर तथा भट्टगोपाल के अतिरिक्त, जो क्रमशः जयरथ तथा श्रीविद्याचक्रवर्ती से पूर्ववर्ती है, अन्य आलंकारिक जैसे कि विद्याधर, विद्यानाथ और उनके टीकाकार मल्लि-नाथ[5] तथा कुमारस्वामी[6] एवं अर्वाचीन आलंकारिक विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित[7]

---

१. अ० र० पृ० ४, २२, ३२-३३, ४७, ५३ इत्यादि।

२. सा० चू० भूमिका, पृ० ४।

३. सा० चू० (द्वि० भाग), पृ० २०४।

४. वहीं, पृ० ४४९–४५०।

५. तरल, पृ० २१, १८६, १८७, २३२, २३७, २४६, २६१, २६२, २६६, ३३१ तथा ३३२।

६. रत्नापण, पृ० ३४१-३६३, ४२५ तथा ४४८, ४५२ वृत्ति भाग के लिए देखिए वहीं, पृ० २८, १३३, १४४, १५६।

७. चित्रमी० पृ० १४, १५, ७२, ७५, ८४, ९०, ९४ तथा ९८। कुवलयानन्द, पृ० ४१, ८९, ९२, ९६, १८४।

तथा जगन्नाथ[1] भी सूत्र और वृत्ति को एक ही आलंकारिक (रुय्यक) की कृति मानकर खण्डन करते हैं। राघवभट्ट ने शकुन्तला पर अपनी टीका में तथा अन्य अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन टीकाकारों ने सूत्र और वृत्ति को एक मानकर उद्धरण दिए हैं। श्लेष के सम्बन्ध में **'निरवकाशत्वात् सर्वालंकारबाधकः'** का सिद्धान्त रुय्यक-सम्मत है। अप्पय्यदीक्षित ने मंखकादि के मत के रूप में इसका उल्लेख किया है[2]। उद्भट व्याजोक्ति को पृथक् अलंकार नहीं मानते थे। रुय्यक उसे भिन्न अलंकार मानते हैं। उद्भट का अनुसरण करते हुए रुय्यक ने पहले तो **'आकृष्यादावमन्दग्रहमलकचयम्–'** (अ० स० पृ० ८५) में अपह्नुति का विवेचन किया था किन्तु व्याजोक्ति के लक्षण के अनुसार उपर्युक्त पद्य में सर्वस्वकार के अनुसार, व्याजोक्ति अलंकार होगा[3]। सूत्र, वृत्ति और उदाहरण इन तीनों अंशों में प्राप्य इस विवेचन का अप्पय्यदीक्षित ने रुय्यक के नाम से चित्रमीमांसा में उल्लेख किया है—

> ये तु 'उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः' (अ० सू० पृ० २१८) इति व्याजोक्त्यलंकारं पृथगिच्छन्ति तेषामिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुतिरिति रुचकादयः।
> —चित्रमी० पृ० ८५

उपर्युक्त उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि चित्रमीमांसाकार, सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण इन तीनों को ही रुय्यक का मानकर चला है। श्लेष के प्रसंग में मंखक के उल्लेख को या तो हम अप्पय्यदीक्षित की भ्रान्ति मान सकते हैं या सम्भव है मंखक ने भी अपने गुरु रुय्यक के श्लेष-सम्बन्धी सिद्धान्त को मान्यता दी हो जिससे इनका नाम आलंकारिक-परम्परा में जुड़ गया। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अप्पय्यदीक्षित चित्रमीमांसा में सर्वस्व को एक ग्रन्थ मानते हैं और उसका लेखक रुय्यक को। मंखक के एक बार आलंकारिक-रूप में उपर्युक्त उल्लेख को छोड़ कर अप्पय्यदीक्षित स्वयं या अन्य कोई आलंकारिक इनका उल्लेख आलंकारिक के रूप में नहीं करता है। शोभाकर से लेकर जगन्नाथ और उसके बाद तक के आलंकारिकों द्वारा रुय्यक को अलंकारसर्वस्वकार मानने की सुदीर्घ और निरवच्छिन्न परम्परा कम विश्वसनीय

---

१. रसग० विशेषतः द्रष्टव्य—पृ० १६३, तथा २००, २०८, ४१२ आदि

२. चित्रमी० पृ० ११।

३. एवं 'आकृष्यादौ' इत्यादौ च लोकात्मवस्त्वन्तरप्रक्षेपेणोद्भिन्नप्रियनिगूहनस्यैव वाक्यार्थत्वाद् व्याजोक्तिरेव न पुनरपह्नुतिः।-वि०पृ०२१९।

नहीं है जो रुय्यक को अलङ्कारसर्वस्व के सूत्र और वृत्ति दोनों भागों का लेखक प्रमाणित करती है।

पाठपरम्परा का साक्ष्य

अलंकारसर्वस्व की दो पाठपरम्पराएँ हैं—एक को उदीच्य और दूसरे को सामान्यतया दाक्षिणात्य कहा जा सकता है। उदीच्य पाठपरम्परा की समग्र पाण्डुलिपियों में '**निजालंकारसूत्राणां**' पाठ है और पुष्पिकाओं में भी अलंकार-सर्वस्व के लेखक के रूप में रुय्यक या रुचक का ही उल्लेख है[1]। उदीच्य पाठ-परम्परा की कुछ पाण्डुलिपियाँ ३००-४०० वर्ष प्राचीन हैं; शारदाग्रन्थलिपि में हैं तथा काश्मीर की हैं। उधर दाक्षिणात्य पाठपरम्परा एकरूप नहीं है। केरलीय ग्रन्थलिपि में लिखी जिन तीन दाक्षिणात्य पाण्डुलिपियों के आधार पर अनन्त-शयनम् संस्करण का सम्पादन हुआ है इनमें से केवल एक (गसंज्ञक) पाण्डुलिपि का पाठ '**गुर्वलंकार**'···है किन्तु इसकी पुष्पिका में सर्वस्व का राजानक श्री रुचक की कृति के रूप में ही उल्लेख है। दाक्षिणात्य पाठपरम्परा के अन्त में एक श्लोक अवश्य मिलता है, वह है—

इति मंखुको वितेने कश्मीरक्षितिपसान्धिविग्रहिकः।
सुकविमुखालंकारं तदिदमलंकारसर्वस्वम्॥

इस प्रकार दाक्षिणात्य पाठपरम्परा के पास मंखुक का कृतित्व मानने के लिए दो प्रमाण हैं–एक तो '**गुर्वलंकार**' पाठ तथा दूसरा उपर्युक्त श्लोक। पाठ-प्रमाण का स्वतः कुछ भी महत्व नहीं है। समुद्रबन्ध ने स्वयं इस पाठ की व्याख्या '**गुर्वित्यनेन विवक्षितस्य तात्पर्यस्यावश्यवक्तव्यतां दर्शयति**' की है जिसका अभिप्राय है कि ग्रन्थ महत्वपूर्ण होने के नाते व्याख्यायोग्य है। गुरु का अर्थ आचार्य आवश्यक हो तब भी वह किसी व्यक्ति-विशेष का बोध न कराके आचार्य-परम्परा का ज्ञान भी करा सकता है। श्लोकप्रमाण के आधार पर ही कतिपय विद्वानों ने इस कल्पना को जन्म दिया कि मंखक ने वृत्ति का निर्माण किया और उसी कल्पना के सहारे 'गुरु' के रूप में श्रीकण्ठचरित (२५ वें सर्ग) में प्राप्य रुय्यक के सन्दर्भ को लेकर '**गुर्वलंकारसूत्राणां**' में गुरु से रुय्यक को समझा और इस प्रकार अलंकारसूत्र का लेखक रुय्यक को और वृत्ति (सर्वस्व) का लेखक मंखक को माना। जैसा कि ऊपर अभी संकेत किया गया है '**गुर्वलंकार-सूत्राणां**' की 'गुरोर्यानि अलंकारसूत्राणि' यह व्याख्या समुद्रबंध तक ने नहीं दी है।[2]

---

१. देखिए लेखक द्वारा संपादित '**अलंकारसर्वस्व-संजीवनी**' में अ० स० की पुष्पिकाएं।

२. समुद्र० पृ० २, तथा पृ० २२८।

यह व्याख्या बीसवीं शती की देन है। जहां तक समुद्रबन्ध का सम्बन्ध है, वह सूत्र और वृत्ति दोनों का लेखक मंखक को ही मानता है। सूत्र-वृत्यात्मक कृति का वह **'मंखुकोपज्ञ' 'मंखुकग्रन्थ'** तथा **'मंखुककृति'** के रूप में उल्लेख करता है। ग्रन्थ के रूप में सूत्र या वृत्ति दोनों में से किसी भी अंग का उद्धरण देता है और ग्रन्थकार(–कृत्) के रूप में मंखक को दोनों ही अंगों (सूत्र और वृत्ति) से सम्बन्ध करता है। वृत्ति-भाग पर टिप्पणी करते हुए समुद्रबन्ध ने विषमसूत्र का उल्लेख वृत्तिकार का ही मान कर किया है—

अस्य विषमस्य सामान्यलक्षणं स्वयमेव वक्ष्यति अननुरूपसंसर्गो हि विषममिति—समुद्र० पृ० १४७

अन्तिम सूत्र पर समुद्रबन्ध की व्याख्या है—

स्वकण्ठेनानुक्तिशंकानिरासाय संक्षेपत इति पदस्यान्वयप्रदर्शनमुखेन व्याचष्टे।—वहीं पृ० २२७

यह इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर देती है कि समुद्रबन्ध की दृष्टि में सूत्र और वृत्ति एक ही व्यक्ति मंखुक की कृति है। अस्तु, **'इति मंखुको वितेने'** इस श्लोक और समुद्रबन्ध के आधार पर जो निष्कर्ष निकाला जा सकता है वह मंखक को ही सूत्र और वृत्ति का लेखक सिद्ध करेगा। **'गुर्वलंकारसूत्राणां'** की नवीन व्याख्या और श्रीकण्ठचरित के सन्दर्भ के आधार पर रुय्यक के शिष्य मंखक को सर्वस्वकृत् मानना उदीच्य और दाक्षिणात्य दोनों परम्पराओं के विरुद्ध होगा। किन्तु क्या एक श्लोक और समुद्रबन्ध के आधार पर यह मान लिया जाए कि रुय्यक का अलंकारसर्वस्व से कोई सम्बन्ध नहीं है और मंखक ही उसका एकमात्र लेखक है?

यह मत पाठपरम्परा (उदीच्य से पूर्णतः और दाक्षिणात्य से अंशतः) तथा आलंकारिकों और टीकाकारों के साक्ष्य से सर्वथा विपरीत है, अतएव स्वतः बहुत निर्बल है। पर प्रश्न यह अवश्य उठता है कि दक्षिण में मंखक के सर्वकृतित्व की परम्परा[1] प्रचलित कैसे हुई? समुद्रबन्ध द्वारा मंखक को सर्व-स्वकार मानना **'इति मंखुको वितेने'** आदि श्लोक पर (जो वस्तुतः **'गुर्वलंकार'** के पाठभेद के लिए भी उत्तरदायी है) आश्रित है। सर्वस्व के साथ मंखक का सम्बन्ध दो कारणों से हो सकता है। एक तो यह कि रुय्यक के शिष्य होने के नाते उसने विशृंखल पत्रिकाओं में बिखरे पड़े (जैसा कि जयरथ का कथन है)

---

१. **समुद्रबन्ध के अतिरिक्त तुंगभद्र नामक लेखक भी मंखक का सम्बन्ध सर्वस्व से स्थापित करता है।**

अलंकारसर्वस्व का परिष्कार किया हो । रुय्यक ने स्वयं भी अपने योग्य शिष्य मंखक के काव्य श्रीकण्ठचरित से कुछ उदाहरण[1] सर्वस्व में रखे हैं, जिनके सम्बन्ध में एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि सर्वस्व का परिष्कार करते समय मंखक ने स्वयं ही अपने काव्य से उदाहरणों का समावेश किया हो । इसी सम्भावना के आधार पर '**मदीये श्रीकंठचरिते**' इस पाठभेद की व्याख्या संभव है । अपने गुरु की कृति के परिष्कार तथा प्रचार में यह योगदान ही दक्षिण जैसे सुदूर प्रदेश में मंखक के कृतित्व का आधार बना था । इस मत को मान लेने पर '**इति मंखुको वितेने**' के '**वितेने**' पद का अर्थ भी यही समझा जा सकता है कि मंखक ने अपने गुरु के 'सुकविमुखालंकारभूत' अलंकारसर्वस्व का केवल विस्तार ('वितेने') या प्रचार किया था । मंखक काश्मीर के राजा जयसिंह का मन्त्री था ।[2] सान्धिविग्रहिक होने के नाते मंखक का नाम सरलता से दक्षिण में पहुँच गया होगा। वहां के राज्याश्रित आलंकारिकों ने अलंकारशास्त्र के सुन्दर ग्रन्थ सर्वस्व में मंखक के कतिपय पद्य देख कर इसे उनकी ही कृति मान ली हो और तब से यह भ्रान्त परम्परा समुद्रबन्ध के समय तक प्रचलित हो गई । अन्यथा एक भी ऐसा विश्वसनीय प्रमाण नहीं है जिससे मंखक को सर्वस्व का कर्ता माना जा सके । अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि मंखक ने अपने गुरु के ग्रंथ के सम्पादन, परिष्कार तथा प्रचार द्वारा जो योग दिया वही उन्हें इस ग्रन्थ के लेखक मानने की निर्बल और भ्रान्त परम्परा के लिए उत्तरदायी है ।

मंखक को यदि सर्वस्वकार मान लिया जाता है तो साहित्यमीमांसा, व्यक्ति-विवेकव्याख्यान, श्रीकण्ठस्तव आदि रुय्यक के अन्य अनेक ग्रन्थों का लेखक मंखक को मानना पड़ेगा । सहृदयलीला की पुष्पिका—'**विपश्चिद्वरराजानकतिलकात्मजश्रीमदालंकारिकसमाजाग्रगण्यश्रीराजानकरुय्यकस्य रुचकापरनाम्नोऽलंकारसर्वस्वकृतः**'—रुय्यक को अलंकारसर्वस्वकार बताती है । उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह पर रुय्यक के पिता ने विवेक नाम से संक्षिप्त व्याख्यान लिखा है उसमें व्यक्त विचारों का अनुसरण सर्वस्व में मिलता है। व्यक्ति-

---

१. **श्रीकंठचरित के २-४९, ५-२३, ६-१६, ६-७९ तथा १०-१० श्लोक अ० स० के क्रमशः पृ० २१, ८७, ९० पर मिलते हैं ।**

२. **सान्धिविग्रहिको मंखकाख्योऽलंकारसोदरः ।**
सकण्ठस्याभवत्पृष्ठः श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया ।।—राजतरंगिणी ८-३५५४ ।
देखिए—श्रीकण्ठचरित ३-६६ ।

विवेकव्याख्यान में महिम के अनुमतिवाद के खण्डन में जो तर्कपद्धति अपनाई गई है वही सर्वस्व में साहित्यशास्त्र के विहगंम अवलोकन में अपनाई गई है। साहित्यमीमांसा में कुन्तक का जो प्रभाव था उसका परिणत रूप अनेकत्र सर्वस्व के अलंकारचिन्तन में मिलता है।[1] इसी प्रकार काव्यप्रकाशसंकेत में रुय्यक ने मम्मट के जिन मतों के खण्डन का सूक्ष्मनिर्देश किया है उसी खण्डनसरणि का अनुसरण और उपबृंहण सर्वस्व में है। ध्वनिकार के समर्थक अलंकारचिन्तक का जो स्वरूप व्यक्तिविवेक के व्याख्यान में है वही सर्वस्व में है। इस प्रकार काव्य-प्रकाशसंकेत, व्यक्तिविवेकव्याख्यान और सर्वस्व की शैली की ही नहीं चिन्तन-सरणि की एकात्मता[2] पाठपरम्परा, आलंकारिक और टीकाकारों के साक्ष्य के आधार पर निर्भ्रान्त रूप से सर्वस्व तथा उपर्युक्त अन्य ग्रन्थों का लेखक रुय्यक को ही सिद्ध करती है।

ग्रन्थकार का परिचय

काश्मीर ने भारतीय वाङ्मय को सब कुछ दिया है। साहित्य के विभिन्न सम्प्रदाय छन्द, ज्योतिष, व्याकरण तथा विभिन्न दर्शनों की उत्पत्ति या मौलिक विकास शारदापीठ काश्मीर में हुआ है। रुय्यक का जन्म भी उसी भूमि में ऐसे समय में हुआ था जो निश्चित ही साहित्य के सृजन और समालोचन का चूडाकाल है। भारतीय मनीषी अपने वैयक्तिक परिचय के सम्बन्ध में प्रायः मौन रहता है। जो कुछ भी परिचय उससे या उसके शिष्य या टीकाकार से मिलता है वह भी अधिकांशतः स्वल्प, स्तुतिमय तथा कवित्वपूर्ण होता है।

सर्वस्वकार रुय्यक का दूसरा नाम रुचक है। काव्यप्रकाशसंकेत के द्वितीय प्रारम्भपद्य में लेखक ने स्वयं रुचक नाम दिया है।[3] इसकी पुष्पिकाओं में भी यही नाम मिलता है।[4] अलंकारसर्वस्व की आदर्श पुस्तकों की कतिपय

---

१. देखिए—इसी अध्याय का साहित्यमीमांसा शीर्षक के अन्तर्गत विवेचन।

२. इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन इस अध्याय के 'सर्वस्वकार की अन्य कृतियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत देखिए।

३. काव्यप्रकाशसंकेतो रुचकेनेह लिख्यते।

४. इतिश्रीमद्राजानकामल्लकमम्मटरुचकविरचिते (?) निजग्रन्थ—

पुष्पिकाएँ यही नाम देती हैं। चक्रवर्ती ने रुचक नाम ही दिया है।[1] परवर्ती अनेक प्रसिद्ध टीकाकार या आलंकारिक जैसे कि कुमारस्वामी[2], अप्पय्य-दीक्षित[3], राघवभट्ट[4], रत्नकण्ठ[5] आदि रुय्यक न कहकर रुचक नाम ही देते हैं। वैसे तो सर्वस्व, व्यक्तिविवेकव्याख्यान आदि की पुष्पिकाओं में रुचक के अतिरिक्त रुय्यक नाम भी मिलता है किन्तु सहृदयलीला की पुष्पिका इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

कृतिः श्रीविपश्चिद्वरराजानकतिलकात्मजश्रीमदालंकारिकसमाजाग्रगण्य-श्रीराजानकरुय्यकस्य राजानकरुचकापरनाम्नोऽलंकारसर्वस्वकृतः।[6]

—सहृदयलीला (पिशेल-सम्पादित)

बहुत कुछ इसी आधार पर रुय्यक और रुचक दो नाम अलंकारसर्वस्व-कार के माने गए हैं। मंखक ने अपने श्रीकण्ठचरित में इनका उल्लेख रुय्यक के रूप में ही किया है। इस आधार पर रुय्यक नाम को अधिक प्रामाणिक मान लेना, जैसा कि डा० दे का मन्तव्य है, उचित न होगा। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि रुय्यक उनका लोकनाम था और रुचक साहित्यकार का। यही कारण है कि रुय्यक ने स्वयं और परवर्ती टीकाकारों आदि ने भी अपने ग्रन्थों में विशेषतः इसी नाम को अपनाया है। आजकल रुय्यक के नाम से ही इनका उल्लेख होता है। उसी परम्परा का इस लेखक ने भी अनुसरण किया है।

काव्यप्रकाशसंकेते प्रथम उल्लासः—अलवर पाण्डुलिपि (पीटर्सनस् सेकेंड रिपोर्ट, पृ० १०६) तथा: समाप्तश्चायं काव्यप्रकाशसंकेतः। कृती राजानकरुचकस्य—का० प्र० सं० ७५।

१. 'रुचकाचार्योपज्ञे', 'रुचकवचसां विस्तरः' संजीवनी में और 'रुचकेन तयोरेव वर्त्मानुसरता' (पृ० ३४७) तथा 'लिखिता रुचकग्रन्थाः सान्धि-विग्रहिकेण धिक्'—सं० प्र० (द्वि० भाग) पृ० ३४८ आदि स्थलों में रुचक नाम से ही सर्वस्वकार का स्मरण किया गया है।

२. रत्नापण, पृ० ३६३, ३६६,४२५ तथा ४४८।

३. चित्रमी० पृ० ८५।

४. शाकुन्तलम् पर राघवभट्ट की टीका, पृ० १६१, १७१, १६३, (डा० दे० के अनुसार)।

५. अस्यार्थः श्रीराजानकरुचकविरचितालंकारसारिण्याम्।

६. का० मा० संस्करण की पुष्पिका में थोड़ा बहुत शाब्दिक हेरफेर है।

काश्मीर के एक विद्वान् तथा प्रतिष्ठित परिवार में जहां शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की सुदीर्घ परम्परा प्रचलित थी, रुय्यक का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम राजानक तिलक है जिन्होंने उद्भटविवेक या विचार नाम से काव्यालंकारसंग्रह पर संक्षिप्त पर तात्त्विक 'विवृति' लिखी है। राजानक तिलक रुय्यक के जनक ही नहीं अपितु अलंकाररहस्य के गुरु भी थे—

ज्ञात्वा श्रीतिलकात् सर्वालंकारोपनिषत्क्रमम्।
काव्यप्रकाशसंकेतो रुचकेनेह लिख्यते।—का० प्र० सं० (प्रारम्भपद्य २)

अलंकारसर्वस्व में अनेकत्र उन्होंने अपने पिता का अनुसरण किया है।[1] जयरथ का स्पष्ट कथन है—

ग्रन्थकृच्च प्रायस्तन्मतानुवर्त्यैव।—वि० पृ० १५८

श्रीकण्ठचरित के यशस्वी लेखक मंखक के समय काश्मीर विद्वान् और कवियों की साहित्यिक क्रीडाभूमि थी। लंकक की सभा में नन्दन, रम्यदेव, मण्डन, श्रीकण्ठ, गर्ग, देवधर, दामोदर, श्रीगोविन्द, कल्हण, पद्मराज, सुहल और गोविन्दचन्द्र आदि सैकड़ों विश्रुत व्यक्ति थे। रुय्यक का विद्वत्सभा में (सदसि प्रसिद्धविविधोपासीनविद्वद्वरे) निश्चित ही विशेष आदर था। मंखक ने रुय्यक का अपने गुरु के रूप में उल्लेख करते हुए उनका जो वर्णन किया है उसे यहाँ अविकल उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

व्याख्यासु यस्य वदनं रदनांशुभिरीक्ष्यते।
आकर्षदिव वाग्देव्या धौतक्षौमपटाञ्चलम्॥
अर्पयन् कमपि स्पदं धाम्नः सारस्वतस्य भूः।
स एव सर्वशास्त्राणां साकारमिव जीवितम्॥
विवृतीर्यो लिखत्यात्तलेखन्येकागुंलीतलः।
ग्रन्थेभ्योऽर्थस्य विश्रान्त्यै सूत्रिकामर्पयन्निव॥
यत्कृतिष्ववधानेन मूर्धा कस्य न वीप्सया।
सारस्वतरसावर्तवलनेनेव चेष्टते॥
तं श्रीरुय्यकमालोक्य स प्रियं गुरुमग्रहीत्।
सौहार्दप्रश्रयरसस्त्रोतस्सम्भेदमज्जनम्॥—श्रीकण्ठचरित २५।२६-३०।

अध्यापक, विद्वान्, व्याख्याकार और साहित्यिक लेखक रुय्यक का यह संक्षिप्त पर सारमय और प्रायः सत्य चित्र है। **चिरन्तन, आलंकारिकसमाजा-**

---

१. देखिए—वि० पृ० १४६, १४८ तथा २४७।

अग्रगण्य, सर्वशास्त्रों के साकार जीवित आदि के रूप में उल्लेख इनके यशस्वी वैदुष्य का पर्याप्त परिचायक है।

समय

रुय्यक का जन्म काश्मीर में उस समय हुआ था जो काश्मीर-साहित्य के इतिहास का पूर्णतः निर्णीत काल है। इसलिये इनके समय के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद नहीं है। विक्रमांकदेवचरित का प्रणयनकाल (बूल्हर के अनुसार) १०८५ ई० है, तथा काव्यप्रकाश का लगभग ११०० ई०। प्रथम से रुय्यक ने उद्धरण लिए हैं और दूसरे पर संकेत लिखा है जिसके सर्वस्व में अनेक सन्दर्भ भी हैं। मंखक के श्रीकण्ठचरित का निर्माणकाल भी जयसिंह के समय (११२९-११५० ई०) के अनुसार बूल्हर ने ११३५ से ११४५ ई० के बीच निश्चित किया है।[1] मंखक के भाई अलंकार अथवा लंकक काश्मीर के राजा सुस्सल तथा जयसिंह का मन्त्री था।[2] स्वयं मंखक ने भी सान्धि-विग्रहिक के रूप में कार्य किया था। श्रीकण्ठचरित से ५ श्लोक सर्वस्व में पाए जाते हैं जिन्हें रुय्यक ने या मंखक ने स्वयं उद्धृत किया है। राजतरंगिणी (४-४४१) में **'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः'** आदि श्लोक प्राप्त होता है। इसका रचनाकाल ११५० ई० के पूर्व नहीं माना जा सकता है। यह श्लोक सर्वस्व में उद्धृत है पर इसके आधार पर रुय्यक का समय-निर्णय करना[3] अनुचित होगा क्योंकि यह श्लोक अभिनवभारती (खंड १, पृ० ३०५) में उद्धृत है।[4] माणिक्यचन्द्र के काव्यप्रकाशसंकेत (जिसका रचनाकाल ११५९-६० है) में अनेक बार (पृ० ३२१, ३५५ मैसूर संस्करण) सर्वस्व का सन्दर्भ मिलता है अतः इसका रचनाकाल ११३५-११५० के बीच विद्वान मानते हैं।[5] सर्वस्व रुय्यक के प्रौढ़ जीवन की कृति है अतः ११०० ई० के आसपास

---

१. काश्मीर रिपोर्ट, पृ० ५०।

२. श्रीकण्ठचरित, २५-१५, ५-६२, २५-४३ एवं २५-६१।

३. जैकोब ने इस आधार पर निर्णय करना चाहा था। देखिए Z. D. M. G. Vol. LXII, पृ० २८९ तथा डा० दे का विवेचन देखिए—J. R. A. S. १९२७ ई० पृ० ४७४।

४. डा० काणे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २७३।

५. वहीं, तथा Z. D. M. G. Vol. LXII, पृ० २८९,

सर्वस्वकार का जन्मकाल मानना आवश्यक है। किसी भी दृष्टि से रुय्यक के समय को बारहवें शतक के पूर्वार्ध से आगे नहीं माना जा सकता। विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण में (जिसका प्रणयनकाल प्रतापरुद्र [द्वितीय] के समय १२९५-१३२३ ई० के अनुसार बारहवीं शती के चतुर्थ भाग में है) सर्वस्व का श्रद्धा के साथ अनुसरण, शोभाकर द्वारा अलंकाररत्नाकर में सर्वस्व का खण्डन-मण्डन जिसका पुनरालोचन जयरथ ने किया है इस बात का प्रमाण है कि द्वादश शतक के तृतीय भाग तक ही सर्वस्व का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। इससे भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि किसी भी प्रकार रुय्यक के जन्मकाल को ईसा के १२वें शतक के प्रथम भाग तथा सर्वस्व के प्रणयनकाल को इसी शतक के मध्यार्ध से आगे नहीं माना जा सकता।

सर्वस्वकार की अन्य कृतियां

सर्वस्वकार का कृतित्व साहित्यशास्त्र के विभिन्न अंगोंपांगों पर स्वतन्त्र या व्याख्यात्मक ग्रन्थों का प्रणयन है। रुय्यक या सर्वस्वकार के नाम से जिन ग्रन्थों की सूचना अभी तक प्राप्त हो सकी है उनकी संख्या द्वादश है।

१. सहृदयलीला (प्रकाशित)	स्वतन्त्र साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ
२. साहित्यमीमांसा (प्रकाशित)	
३. नाटकमीमांसा	नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थ
४. अलंकारानुसारिणी	अलंकारग्रन्थ अथवा आलंकारिक टीकाग्रन्थ।
५. अलंकारमञ्जरी	
६. अलंकारवार्तिक	
७. अलंकारसर्वस्व (प्रकाशित)	
८. श्रीकण्ठस्तव	काव्य
९. काव्यप्रकाशसंकेत (प्रकाशित)	टीकाएं
१०. हर्षचरितवार्तिक	
११. व्यक्तिविवेकव्याख्यान,—विचार (प्रकाशित)	
१२. बृहती	

रुय्यक के इन ग्रन्थों की सूचना रुय्यक तथा जयरथ से ही विशेषतः

काश्मीर रिपोर्ट, पृ० ५१ तथा ६२, तथा संस्कृत पोइटिक्स, भाग १, पृ० १९४।

प्राप्त होती है। ग्रन्थसूची पर आपाततः दृष्टिपात से ही इतना स्पष्ट है कि राजानक रुय्यक का कृत्व अलंकारशास्त्र के विभिन्न अंगों पर विशेषतःअलंकार-मीमांसा के रूप में हैं। नीचे हम इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में--जिनमें केवल पांच ही अभी तक प्रकाशित हो सके हैं--एक अति संक्षिप्त आकलन द्वारा इनका परिचय प्रस्तुत करेंगे। पुस्तक-परिचय का एक उद्देश्य हमें रुय्यक की उन मान्यताओं तथा देन का संक्षेप में विवेचन करना है जिनका अलंकारसर्वस्व के अलंकार-चिन्तन से सम्बन्ध है।

सहृदयलीला

यह पुस्तिका अत्यधिक अल्पकाय है। केवल ४-५ पृष्ठों की है। इसकी प्रथम पंक्ति—**श्रीमतामुत्कर्षपरिज्ञानाद्वैदग्ध्येन सहृदयत्वान्नागरिकतासिद्धिः**—के अनुसार उत्कर्षज्ञान से वैदग्ध्य और उसके द्वारा सहृदय बनकर नागरिकता की सिद्धि ही इस विलक्षण साहित्यक कृति का उद्देश्य है। युवतियों का उत्कर्ष गुण, अलंकार, जीवित तथा परिकर से होता है। इन्हीं नामों से चार उल्लेखों में इस लघुकाय पुस्तिका का विभाजन है। गुणोल्लेख में रूप, वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, लक्षण, छाया तथा सौभाग्य इन दश गुणों का; अलंकारोल्लेख में रत्न, हेम, अंशुक,माल्य, मण्डनद्रव्य, योजना तथा प्रकीर्ण इन सात गुणों का; जीवितोल्लेख में शोभानुप्राणक यौवन का तथा अन्तिम परिकरोल्लेख में अष्टविध परिकर का सूत्रशैली में उल्लेख है। गुण शोभाविधायी या शोभासमुत्पादक होते हैं, अलंकार रामणीयक की वृद्धि करते हैं या शोभा-समुद्दीपक होते हैं। यौवनाख्य जीवित शोभा का अनुप्राणक है और परिकर शोभा का व्यंजक। इस प्रकार सौन्दर्य की दृष्टि से सभी एक दूसरे के अनुग्राहक हैं। सहृदयलीला जैसी साहित्यिक कृतियाँ संस्कृत-साहित्य में संभवतः नहीं हैं। रूप, प्रभा आदि के शास्त्रीय वर्णन के साथ ही इस छोटे से ग्रन्थ में हमें सहृदय नागरिक के वेश और साधन के रोचक विवरण भी मिलते हैं जो अन्यत्र कहीं भी नहीं पाए जा सकते। इसी दृष्टि से सहृदयलीला का महत्त्व रुय्यक के अन्य ग्रन्थों में ही नहीं, संस्कृत साहित्य के अमित भण्डार में अद्वितीय है।

साहित्यमीमांसा

साहित्यमीमांसा परम्परागत शैली में लिखी गई है। इसमें पहिले कारिकाएं हैं, पुनः उनकी वृत्ति है जो गद्य में है और फिर उदाहरण दिए गए हैं जिनका चुनाव विभिन्न काव्यग्रन्थों से किया गया है। इसमें आठ प्रकरण हैं। प्रथम और अंतिम लघुकाय हैं। षष्ठ और सप्तम प्रकरण अपेक्षाकृत विशालकाय हैं।

जिन लेखकों और ग्रन्थों का इसमें स्पष्ट उल्लेख है वे इस प्रकार हैं—अक्षपाद (पृ० ७), अनर्घराघव (पृ० ७३), उत्तररामचरित (पृ० ११४), कादम्बरी (पृ० ६८), कालिदास (पृ० ६, १२० तथा १३८), कात्यायन (पृ० १०८), जैमिनि (पृ० ३, ११, ८६), धनदत्त (पृ० ६४), बाण (पृ० १२०, १३८), भगवदज्जुक (पृ० ७२), भवभूति (पृ० ५४, ६५, ६७, ११४) भामह (पृ० ८६), माघ और भारवि (पृ० १२०), भोजराज (पृ० १२,५१ ७५), महावीरचरित (पृ० ११४), मालतीमाधव (पृ० ६५, ७२,६८), वक्रोक्तिकार, (पृ० ११७), वामन (पृ० ३२), वाल्मीकि (पृ० २०, १३८), विन्ध्यवासी (पृ० ४३), वेणीसंहार, व्यास और शिवभद्र (पृ० १२०, १३८)। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लेखक और ग्रन्थों के उदाहरण इसमें उपलब्ध हैं जिनका स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है। काव्यादर्श और काव्यालंकारसंग्रह के भी उदाहरणों का उल्लेख है। यही नहीं काव्यालंकारसंग्रह के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज की टीका को भी लेखक ने उद्धृत किया है[1]। इसी प्रकार दशरूप, सरस्वतीकण्ठाभरण (पृ० ५१, स० क० ४-४१-४३), कुमारिल के तन्त्रवार्तिक और राजशेखर की काव्यमीमांसा के उद्धरण भी प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अज्ञात लेखकों की ओर भी साहित्यमीमांसा के लेखक ने 'आचार्याः' कहकर संकेत किया है।

साहित्यमीमांसा की दो विशेषताएँ हैं—प्रथमतः इसमें व्यंजना शक्ति का कहीं भी उल्लेख नहीं है, अपितु तात्पर्यवृत्ति का प्रतिपादन है जिसके द्वारा रसानुभूति होती है—**अपदार्थोऽपि वाक्यार्थो रसस्तात्पर्यवृत्तितः**।—सा०मी०पृ० ८५। द्वितीयतः अर्थालंकारों के अन्तर्गत केवल थोड़े से ही अलंकारों पर विचार किया है। समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा और सहोक्ति आदि को वक्रत्व के अन्तर्गत रखा गया है। इन दो विशेषताओं के कारण एक शंका उठना स्वाभाविक है। रुय्यक अलंकारसर्वस्व में ध्वनि के स्पष्ट समर्थक हैं। इसके अतिरिक्त सर्वस्व में अप्रस्तुतप्रशंसा आदि का उल्लेख उपमा आदि के साथ आया है अतः क्या यह रुय्यक की रचना नहीं है ? अथवा प्रकाशित पुस्तक रुय्यक की साहित्यमीमांसा से भिन्न है ? यह कैसे स्वीकार कर लिया जाए कि सर्वस्व, साहित्यमीमांसा तथा व्यक्तिविवेक-व्याख्यान एक ही लेखक द्वारा प्रणीत हैं ? 'विचार' में अनुमान को तिरस्कृत कर व्यंजना का ध्वनिवाद के अनुसार

---

१. **एवमाचार्याः व्याचक्षते—अत्रालंकारा अष्टावुदिष्टाः… रूपकादीनां चतुर्णामत्र अर्थालङ्कारता**।—सा० मी० पृ० ३६, तथा का०अ० सं० पृ० १।

प्रतिपादन है, किन्तु यहाँ तात्पर्यवृत्ति को प्रधान माना गया है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में लेखक ने तात्पर्य शक्ति का प्रतिपादन अवश्य किया था, किन्तु बाद में उसने तात्पर्यशक्ति के स्थान पर ध्वनिवाद को स्वीकार कर लिया। किसी सहृदय लेखक के लिए अपने भ्रामक सिद्धान्त को छोड़कर किसी अन्य युक्तियुक्त सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। साहित्यमीमांसा लेखक के प्रारम्भिक जीवन की कृति है जब वह कुन्तक से प्रभावित था, किन्तु अलंकारसर्वस्व की रचना तक आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की तथा अन्य आलंकारिकों की अलंकार-मीमांसा की छाप उसके विचारों पर स्पष्ट दिखाई देती है। व्यक्तिविवेक-व्याख्यान (पृ० २४३), सर्वस्व (पृ० ४७), विमर्शिनी (पृ० १६०) तथा प्रतापरुद्रयशोभूषण में साहित्यमीमांसा के जो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं उनकी प्रकाशित पुस्तक में प्राप्ति भी इस बात का प्रमाण है कि यह रुय्यक की ही रचना है।

साहित्यमीमांसा की संपूर्ण सामग्री आठ प्रकरणों में इस प्रकार विभाजित की गई है—

प्रथम प्रकरण

वाच्य और वाचक की वन्दना जो क्रमशः पर और अपर ब्रह्म के रूप में है। वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग, व्यपेक्षण, सामर्थ्य, अन्वय और एकार्थ का (जो साहित्य की रचना करते हैं और जिनका विशद वर्णन इस पुस्तक में किया गया है) उल्लेख। साहित्यपरिष्कार के दोषत्याग, गुणाधान, अलंकारयोग और रसान्वय इन चार अंगों की गणना। इसके उपरान्त सत्कवि विदग्धकवि, अरोचकि कवि और सतृणाभ्यवहार कवियों का तथा उत्तम (सात्त्विक), मध्यम (राजस) और अधम (तामस) इन तीन प्रकार के रसिकों का वर्णन।

द्वितीय प्रकरण

वृत्ति का लक्षण; उसके भेद। मुख्या और गौणी लक्षणा तथा उनकी परिभाषा। विवक्षा, प्रविभाग (प्रकृति तथा प्रत्यय, वाक्य और महावाक्य), अन्वय (परस्पर-ग्रथन) तथा ऐकार्थ्य (एकवाक्यता) के लक्षण और उदाहरण। साहित्य और काव्य में भेद। दोषत्याग आदि परिष्कारों के द्वारा परिमार्जित काव्य ही साहित्य है; इसकी स्थापना।

तृतीय प्रकरण

अप्रयुक्त, ग्राम्य, असमर्थ, अनर्थक, साधारण, अप्रसिद्ध और विरुद्ध आदि पद-दोषों के सोदाहरण लक्षण।

चतुर्थ प्रकरण

काव्यगुण की मीमांसा। शब्दगुण बाह्य होता है और अर्थगुण आभ्यन्तर। दस गुण—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि के लक्षण और उदाहरण।

पंचम प्रकरण

अलकार का लक्षण—**काव्ये शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।** गुण और अलंकार का भेद। अनुप्रास, क्रम, श्लेष, मुद्रा, दीपक, युक्ति, पठिती, गुम्फना, चित्र और यमक आदि अलंकारों के लक्षण और उदाहरण। लाटानुप्रास, परुषा, उपनागरिका और कोमला वृत्तियाँ तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा व्यतिरेक, विभावना अपह्नुति, भ्रम, साम्य, संशय और संकर इन अलंकारों के लक्षण और उदाहरण। शेष अलंकार या तो इनके ही अन्तर्गत हैं या वक्रोक्ति में सन्निविष्ट हैं। यहाँ रुय्यक ने अलंकारों का लक्षण दण्डी और वामन के आधार पर प्रस्तुत किया है, पर उन्होंने दण्डी की भांति गुणों को भी अलंकार के साथ संमिश्र करने का प्रयास नहीं किया है। गुण और अलंकार दोनों का ही योग काव्य के लिए आवश्यक है। गुण निसर्गतः रहते हैं, वे नित्य हैं, और अलंकारयोग अतिशायिनी शोभा के लिए आकांक्षित होता है, वह आगन्तुक है—

आमुंचन्ति शरीरेषु गुणवत्सु निसर्गतः।
अलंकारान् जनाः शोभामाकांक्षन्तोऽतिशायिनीम्॥—सा० मी० पृ० ३२

यद्यपि रुय्यक ने केवल दस शब्दालंकारों तथा दस अर्थालंकारों का (जिनमें कुछ को कतिपय आचार्य शब्द का न मानकर, अर्थ का या इसके विपरीत मानेंगे) विवेचन किया है पर अन्य अलंकारों का प्रतिषेध उन्हें अभीष्ट नहीं है। साहित्यमीमांसा की विषयवस्तु व्यापक है स्वभावतः उसमें सभी अलंकारों का विवेचन संभव नहीं है। अलंकार-स्वरूप के सम्बन्ध में रुय्यक का कहना है कि कुछ अलंकार काव्य में शोभाकर होते हैं और कुछ उक्ति-सौष्ठव में तत्पर रहते हैं—

+ + केचिदलंकाराः काव्ये शोभाकरत्वतः।
केचिदर्थानलंकारानुक्तिसौष्ठवतत्पराः॥—सा० मी० पृ० ५२

षष्ठ प्रकरण

रस के बीज रूप का तथा सहकारी का लक्षण। सहकारी भाव तथा रसनिष्पत्ति के लिए अन्य आवश्यक वस्तुओं का विवेचन। भाव दो प्रकार के हैं—प्रधान और अप्रधान। प्रधान भावों में आठ स्थायी भाव हैं। अप्रधान भाव भी दो प्रकार के हैं—बाह्य (जिनमें आठ सात्विक भाव हैं) और आभ्यन्तर (जिनमें व्यभिचारी भावों की गणना है)। इन सबके लक्षण और उदाहरण। रस-निष्पति पर विचार। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित आठ रस, कुछ आचार्यों के अनुसार शान्त का भी नवम रस के रूप में उल्लेख। शान्त रस का स्थायी भाव है धृति। कुछ आचार्यों द्वारा अन्य तीन रसों का उल्लेख। दो प्रकार का शृंगार—संयोग और विप्रलम्भ। विप्रलम्भ और करुण में भेद। वैदर्भी, आवन्ती, पांचाली तथा गौडी रीतियां और विशिष्ट रसों की अनुभूति में इन रीतियों का उपयोग। लाटी और मागधिका रीतियाँ उपर्युक्त चार रीतियों के समान ही हैं। कैशिकी, भारती, सात्वती और आरभटी वृत्तियां; कुछ रसों के प्रतिपादन में इनका उपयोग। जाति के स्वरूप में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का प्रयोग। वक्रोक्ति के बीस प्रकार। अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति और अन्य दूसरे अलंकार वक्रोक्ति के ही भेद हैं। ध्वनि, वर्ण, पद (पूर्वार्ध और प्रत्यय), वाक्य, प्रकरण और प्रबन्ध में वक्रत्व है। छत्तीस प्रकार की लक्षणा का उल्लेख; इनमें से तीन प्रकार की लक्षणा के उदाहरण भी प्रस्तुत किए गए हैं।

सप्तम प्रकरण

कवि चार विशेषताओं से सम्पन्न होता है—श्रुति, अभियोग, प्रतिभा तथा शक्ति। कवि चार प्रकार के होते हैं; सत्कवि जो वैदर्भी रीति का प्रयोग करते हैं जैसे वाल्मीकि और कालिदास। विदग्धकवि जो वक्रोक्ति का व्यवहार करते हैं जैसे व्यास और बाण आदि। अरोचक कवि जो अर्थालंकारों का अधिक उपयोग करते हैं जैसे माघ और भारवि आदि। सतृणाभ्यवहारि कवि जो गौडी में रचना करते हैं और श्लेष तथा यमकादि अलंकारों का प्रचुर प्रयोग करते हैं जैसे शिवभद्र आदि। कवि-समय—कवियों के लिए कुछ नियम—जैसे कि 'खलु' 'बत' और 'हन्त' को पाद के आदि में नहीं लाना चाहिए। वेद, पाणिनि, वार्तिक, भाष्य, निरुक्त, सूत्र और स्मृतियों में प्रयुक्त कुछ शब्द जिनका प्रयोग कवियों द्वारा होना चाहिए। कालिदास और बाण की भांति 'शिष्ट' प्रयोग का उपदेश। सम्बोधन के विविध प्रकार। दृश्य काव्य के पात्र। कुछ विशेष स्थान की स्त्रियों का वर्णन और उनके वर्ण आदि पर विचार। आवन्त्य, दाक्षिणात्य

पौरस्त्य और औड्मागध प्रवृत्तियाँ। विभिन्न देश और विभिन्न ऋतुओं के उत्सव और खेल-कूद। छः प्रमाण।

अष्टम प्रकरण

काव्य का आनन्द लेने वाला परम सुख की प्राप्ति करता है। ऋग्वेद (१०, ७ इत्यादि) और उत्तररामचरित के 'आविर्भूतज्योतिषां' (४-१८१) के अनुसार कवि की वाणी सर्वशोभासंपन्न होती है और इस वाणी के अर्थज्ञान-का श्रेष्ठतम पुरस्कार है—लोकोत्तर आनन्द।

३. नाटकमीमांसा

यह पुस्तक अभी तक उपलब्ध नहीं है। संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों के विचारों से परिचित होने तथा विषय-प्रतिपादन में मौलिक होने के नाते रुय्यक के इस ग्रन्थ का लोप संस्कृत साहित्य की अपूरणीय क्षति है। व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श के विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन आदि दोषों पर रुय्यक का विवेचन बहुत ही महत्वपूर्ण है। इनके अनुसार इन सारे दोषों का निरूपण महिमभट्ट की मौलिकता नहीं है। पूर्वाचार्य पाणिनि, पतंजलि कात्यायन, अक्षपाद आदि ने इन सभी दोषों का निर्देश किया था। व्यक्तिविवेक-व्याख्यान में रुय्यक ने इनका अपनी ओर से भी निरूपण किया है। साहित्य-मीमांसा के तृतीय प्रकरण में भी इन पर विचार है किन्तु नाटकमीमांसा में रुय्यक ने संभवतः विशेष रूप से विचार किया था—

अस्य च विधेयाविमर्शस्यानन्तेतरप्रसिद्धलक्ष्यपातित्वेनास्माभिर्नाटकमीमांसायां साहित्यमीमांसायां च तेषु तेषु स्थानेषु प्रपंचो दर्शितः।—व्य० वि०व्या० पृ० २४३

साहित्यमीमांसा स्पष्टतः प्रारम्भिक कृति है। संभवतः नाटकमीमांसा भी उसी के प्रणयनकाल के आस-पास लिखी गई थी। यह तो प्रायः निश्चित है ('दर्शितः' पद का प्रयोग इस बात का प्रमाण है) कि नाटकमीमांसा भी व्यक्तिविवेकव्याख्यान के पूर्व ही लिखी जा चुकी थी।

४. अलंकारानुसारिणी

अलंकारशास्त्र के इस ग्रन्थ का जयरथ ने अपनी विमर्शिनी (पृ० ४४, ७३, तथा ७६) में और जल्हण (१६८१ ई०) ने स्तुतिकुसुमांजलि (८-१६) पर अपनी टीका में उल्लेख किया है। पीटर्सन[1] का अनुसरण करते हुए पिशेल[2],

---

१. देखिए Report for 1883/84. पृ० १६ तथा Actes Un Sixieme Congre's, पृ० ३६४।

२. देखिए पिशेल द्वारा सम्पादित शृंगार तिलक तथा सहृदय लीला की

आँफ्रेट (Aufrecht)[1] तथा जैकोबी ने रत्नकण्ठ के उल्लेख के एकमात्र आधार पर यह मत व्यक्त किया था कि अलंकारानुसारिणी जल्हण के सोमपालविलास पर टीका थी जिसमें मूलग्रन्थ के व्याख्यान में अलंकारनिर्देश पर विशेषरूप से ध्यान दिया गया था।[2] रत्नकण्ठ का उद्धरण इस प्रकार है—

तथाहि कविवरजल्हणकृते सोमपालविलासे—अस्यार्थः श्रीराजानकरुचकविरचितायामलंकारानुसारिण्याम् ...

इस उल्लेख से केवल इतना ही स्पष्ट है कि प्राकरणिक श्लोक के अर्थ पर विचार अलंकारानुसारिणी में किया गया था। यह संभावनामात्र है कि वह टीकाग्रन्थ था। उपर्युक्त विद्वानों की इस उद्धरण के आधार पर यह संभावना विमर्शिनी के सन्दर्भों के अनुसार ठीक नहीं है। वस्तुतः यह अलंकार-मीमांसा का स्वतन्त्र ग्रन्थ था। इसमें अलंकारों के अनेक भेदोपभेद का (जिनमें से अनेक का सर्वस्व में उपबृंहण नहीं है) विवेचन किया गया था। अलंकार-भाष्यकार के अनुसार रूपक लक्षणा पर आश्रित है। लक्षणा सादृश्य तथा सादृश्येतर दोनों प्रकार के सम्बन्ध से सम्भव है अतः रूपक भी सादृश्य के अति-रिक्त कार्यकारण आदि सम्बन्ध के आरोप में भी हो सकता है। जयरथ के अनुसार अलंकारभाष्यकार के इस मत से रुय्यक भी सहमत हैं। यद्यपि उन्होंने इस मत का कहीं उपबृंहण नहीं किया है। अलंकारसर्वस्व में रुय्यक वस्तुतः इस बात की चर्चा भी नहीं करते हैं। पर जयरथ के अनुसार अलंकारानुसारिणी में **'अमृतकवलः शोभराशिः प्रमोदरसप्रपा ... निरवधिसुखश्रद्धा दृष्टेः कृती मृग-केतनः'** इस श्लोक को रुय्यक ने रूपक का उदाहरण माना है। यदि यह पद्य सोमपालविलास का मान लें तब भी यह आवश्यक नहीं कि रुय्यक को उसका

सम्पादकीय भूमिका।

1. Catalogus catatlogorum. पृ० ३२।
2. **मंखक ने श्रीकण्ठचरित (३०-७५) में जल्हण (१२ वीं शती) का वर्णन किया है। यह जल्हण सूक्तिमुक्तावलीकार आरोहकभगदत्त जल्हण (१२५८ ई०) से भिन्न है। सोमपाल काश्मीर के समीप स्थित राजपुरी का शासक था। राजतरंगिणी (८-६२१) के अनुसार इसने काश्मीरी सुस्साल के विरुद्ध आक्रमण किया था। इसी राजा की स्तुति में जल्हण ने सोमपालविलास लिखा था।**

टीकाकार मान लिया जाए क्योंकि उस काव्य से उदाहरण लेकर अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थ में उसका विवेचन सम्भव है। विमर्शिनी के दूसरे सन्दर्भ (पृ० ७३) के अनुसार अलंकारानुसारिणी में द्रव्य की हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा भी हो सकती है यह मत व्यक्त किया गया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अलंकारसर्वस्व में रुय्यक उसका स्वरूपोत्प्रेक्षण ही सामान्यतया मानते हैं—

> **तत्रापि द्रव्यस्य प्रायः स्वरूपोत्प्रेक्षणमेवेति हेतुफलोत्प्रेक्षाभेदास्ततः पातनीयाः** —अ० स० पृ० ७३

द्रव्य का हेतूत्प्रेक्षण और फलोत्प्रेक्षण भी होता है केवल स्वरूपोत्प्रेक्षण ही नहीं, इस विवेचन के लिए यदि अलंकारानुसारिणी टीका-ग्रन्थ होता तो अधिक स्थान नहीं था। यही नहीं, उत्प्रेक्षा पर विचार करते हुए इसी ग्रन्थ में **'अपरः पाकशासनः'** और **'भूतलकार्तिकेयः'** के प्राचीन उदाहरणों का विश्लेषण करते हुए अलंकारानुसारिणी में वामन के मत के विपरीत (जिसके अनुसार विशेषोक्ति होगी) दृढारोप रूपक माना गया है[1]। इन समस्त सन्दर्भों से केवल यही दृढ संभावना व्यक्त की जा सकती है कि अलंकारानुसारिणी अलंकार-मीमांसा का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था जिसमें अलंकारसर्वस्व में व्यक्त अनेक विचारों का बीज रूप में या विशेष रूप में निर्देश या उपबृंहण था।

(५) अलंकारमंजरी

इसी नाम से त्रिमल्लभट्ट (१३८३-१४९९ ई०), सुखलाल, वेणीदत्त तथा सुधीन्द्रयति (१६२३ ई०) की कृतियाँ भी हैं[2] जो सभी परवर्ती हैं। रुय्यक के इस ग्रन्थ की सूचना इस लेखक द्वारा संकलित पाठ तथा विमर्शिनी के निम्नलिखित पाठ से मिलती है—

> **तत्र रसादिध्वनिरलंकारमञ्जर्यां दर्शितः काव्यस्य शृंगारप्रधानत्वात् शिष्टस्तु यथावसरं तत्रैव विभक्तः**—अ० स० पृ० १८।

अनन्तशनम् संस्करण में प्राकरणिक पाठ सर्वथा भिन्न है—

> **तत्र रसादिध्वनिः कालिदासादिप्रबन्धेषु**—अ०स० (त्रिवेन्द्रम), पृ० १०

इस पाठ के अनुसार अलंकारमंजरी के लिए कोई स्थान नहीं है। पर उपलब्ध पाठ तथा नि० संस्करण के सम्बद्ध अंश को पढ़ने पर यह प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में रुय्यक ने रसादिध्वनि के विभागोपविभाग का भी

---

१. वि० पृ० ७६।

२. देखिए N. C. C. पृ० २९५।

सोदाहरण विवेचन किया था। किसी भी टीकाकार ने प्रथम पाठ का प्रतीकोपादान नहीं किया है अतः जयरथ आदि से हमें अलंकारमंजरी के सम्बन्ध में कुछ भी जानने में सहायता नहीं मिलती है। निर्णायक प्रमाण न होने के कारण डा० दे और डा० राघवन् ने इसे रुय्यक की रचना मानने में आपत्ति उठाई है।[1] किन्तु उसे हम उपर्युक्त आधार पर निर्णायक नहीं मान सकते हैं और यह सम्भावना निश्चय ही बलवती है कि अलंकारमंजरी भी रुय्यक की कृति थी।

६. अलंकारवार्तिक

इस ग्रन्थ की सूचना जयरथ की विमर्शिनी से ही प्राप्त होती है। सर्वस्वकार के अनुसार सादृश्याश्रय अलंकारों का, धर्म के सकृत् तथा अनुगामितया निर्देश के आधार पर बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक, वस्तुप्रतिवस्तुभावमूलक तथा साधारणधर्मानुगामी, यह तीन प्रकार का सामान्य विभाग किया जा सकता है। इस मान्यता का उपबृंहण विमर्शिनीकार ने अपनी टीका में किया है। रुय्यक ने स्वयं इस त्रिविध विभाग का यत्र-तत्र संकेत किया है। उन्होंने अलंकारवार्तिक में **'क्षिपन्त्यचिन्त्यानि पदानि हेलया'** (वि० पृ० ९१) का सम्भवतः उदाहरण लेकर उपर्युक्त पद्य में मुख और शशि में बिम्बप्रतिबिम्बभाव मानकर तुल्ययोगिता के एक नवीन भेद का विवेचन किया था। सर्वस्व की मान्यता से यह विभाग उपपन्न है। यह कहना कठिन है कि अलंकारवार्तिक किसी अलंकारग्रन्थ पर वार्तिक के रूप में टीका है या स्वतन्त्र ग्रन्थ। यह भी निश्चय रूप में नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रणयन सर्वस्व के पहले हुआ था या बाद में। जयरथ के सन्दर्भ **'अनेनैव चाशयेनात्रालंकारवार्तिकग्रन्थकृता वैशिष्ट्यमस्या दर्शितम्'**[2] में **'दर्शितम्'** पद का प्रयोग अलंकारवार्तिक के पूर्वलिखित होने की संभावना व्यक्त करता है। उपर्युक्त सन्दर्भ में **'अत्र'** पद के प्रयोग से अलंकारवार्तिक को एक भिन्न टीका या स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर सर्वस्व के वृत्तिभाग का ही अलंकारवार्तिक के रूप में उल्लेख मान लेना सम्भव नहीं है। क्योंकि एक तो सर्वस्व के प्राकरणिक विवेचन में बिम्बप्रतिबिम्बभाववती तुल्ययोगिता का विवेचन नहीं है और दूसरे **'अत्र'** पाठ सभी आदर्श-पुस्तकों में नहीं मिलता है, अतः अलंकारवार्तिक एक टीका-ग्रन्थ (जो कि अधिक सम्भव है) या स्वतन्त्र अलंकार-ग्रन्थ है; इस सम्भावना के लिए स्थान शेष है।

---

१. संस्कृत पोइटिक्स, भाग १, पृ० १६५, तथा N. C. C. पृ० २९५।
२. वि० पृ० ९१।

७, अलंकारसर्वस्व

अलंकार का चौथा ग्रन्थ अलंकारसर्वस्व है जिस पर यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि अभी तक कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं है पर सर्वस्व की प्रौढ शैली तथा परिपक्व विवेचन और प्रसिद्धि के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि अलंकारसम्बन्धी ग्रन्थों में सर्वस्व का प्रणयन सबसे बाद में रुय्यक ने किया था। पूर्वोक्त ग्रन्थों के सन्दर्भ में भूतकालिक क्रियापद 'दर्शितम्' या 'दर्शितः' का प्रयोग भी उपर्युक्त सम्भावना का प्रत्यायक है।

८. श्रीकण्ठस्तव

पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण के रूप में सर्वस्व (नि० सा० संस्करण पृ० २३) में चार श्लोकों का उल्लेख है—

१. अहीनभुजगाधीशवपुर्वलयकंकणम्.......
२. वृषपुंगवलक्ष्माणं शिखिपावकलोचनम्.......
३. दारुणः काष्ठतो जातः......
४. भुजंगकुण्डलीव्यक्तशशि[1]........

इन पद्यों के पूर्व निर्णयसागर (पृ० २३) का पाठ है—

उदाहरणं मदीये श्रीकण्ठस्तवे

यही पाठ लेखक द्वारा परीक्षित सभी आदर्श पुस्तकों में मिलता है।

त्रिवेन्द्रम संस्करण (पृ० १४) में 'मदीये' के स्थान पर 'मंखीये' पाठ है। संजीविनी में भी 'मंखीये--मंखाख्यकविकर्तृके' के रूपमें त्रिवेन्द्रम संस्करण का ही पाठ है, यह पाठभेद एक टेढ़ा प्रश्न पैदा कर देता है। क्या श्रीकण्ठस्तव रुय्यक का नहीं है ? त्रिवेन्द्रम संस्करण के इस पाठ का दो दृष्टियों से महत्त्व नहीं

---

१. केवल अन्तिम श्लोक त्रिवेन्द्रम संस्करण में नहीं है।

१. जयरथ ने न तो इस पाठ के किसी अंश पर टिप्पणी की है और न श्लोकों पर ही। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जयरथ को प्राप्त सर्वस्व की आदर्शपुस्तक में यह अंश था ही नहीं क्योंकि इसी प्रकार के 'प्रभेदास्तु विस्तरभयान्नोच्यन्ते' पर उनकी टीका तथा 'असमस्तपदं तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्' यह कथन इस शंका के लिए स्थान नहीं छोड़ते। समुद्रबन्ध ने उदाहरणों की व्याख्या चक्रवर्ती की भांति की है किन्तु कृति और कृतिकार के सूचक अंश—'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' पर उनकी टिप्पणी नहीं है।

के बराबर है । प्रथमतः उस संस्करण के अनुसार सर्वस्व का लेखक मंखक है फिर उसे 'मंखीये' क्यों 'मदीये' ही लिखना चाहिए था । वृत्त्यनुप्रास के लिए वृत्तिकार ने **'मदीये 'श्रीकण्ठस्तवे'** के उपोद्घात से **'आटोपेन पटीयसा'** उदाहरण दिया है । अब इन दोनों पाठों को यदि यथास्थित मान लिया जाए तो यह कहना होगा कि श्रीकण्ठस्तव मंखक की रचना है और **'अहीनभुजगाधीश—'** आदि चार श्लोक तथा उपर्युक्त श्लोक वहीं से लिए गए हैं । दोनों ही निष्कर्ष तथ्यहीन हैं; क्योंकि **'आटोपेन पटीयसा'**—श्लोक श्रीकण्ठचरित (२।४६) का है; श्रीकण्ठस्तव का नहीं है । यह भी नहीं माना जा सकता कि ये दो भिन्न कृतियां नहीं हैं अपितु एक ही कृति के नामभेद हैं[1] क्योंकि **'अहीनभुजगाधीश—'**आदि चार में से एक भी पद्य श्रीकण्ठचरित में नहीं मिलता, जो सम्पूर्णतया उपलब्ध है तथा काव्यमाला में प्रकाशित है । अत एव न तो श्रीकण्ठचरित और श्रीकण्ठस्तव को एक कृति माना जा सकता है और न द्वितीय कृति को मंखकप्रणीत ही मान सकते हैं । वस्तुतः श्रीकण्ठस्तव सर्वस्वकार रुय्यक की रचना है । आंफ्रेंट के अनुसार हर्षचरित में वर्णित श्रीकण्ठ जनपद की महिमा का इसमें वर्णन है ।[2] सर्वस्व में उद्धृत श्लोक शिव की स्तुति में हैं । इससे केवल यही संभावना की जा सकती है कि या तो उपर्युक्त श्लोक मंगलाचरण के हैं अथवा इस काव्य में प्रसंगतः शिव का वर्णन है । श्रीकण्ठ शब्द स्थान के लिए ही नहीं अपितु शिव के लिए भी प्रयुक्त होता है अतः 'स्तव' शब्द के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि श्रीकण्ठस्तव शिवस्तुति में विरचित काव्य है । किन्तु जबतक कोई निर्णायक प्रमाण न मिले तबतक केवल सर्वस्व में उद्धृत श्लोकों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है (जैसा कि पिशेल मानते हैं) कि श्रीकण्ठस्तव शिवस्तुति में विरचित स्तुतिकाव्य है ।[3] हाँ, यह सम्भावना अवश्य की जा सकती है कि श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन द्वारा शिव की महिमा का स्तवन श्रीकण्ठस्तव काव्य का स्वरूप रहा होगा ।

टीकाग्रन्थ

रुय्यक ने मम्मट के काव्यप्रकाश, महिम के व्यक्तिविवेक तथा बाण के

---

१. श्रीकण्ठस्तव का पाठान्तर श्रीकण्ठचरित दिया गया है—त्रिवेन्द्रम संस्करण पृ० १६ ।

२. आंफ्रेट कैटलॉग, पृ० २१० ।

३. देखिए--पिशेलसंपादित सहृदयलीला की भूमिका ।

हर्षचरित पर टीकाएं लिखी हैं। इनके नाम क्रमशः काव्यप्रकाशसंकेत, व्यक्तिविवेकविचार या व्याख्यान, तथा हर्षचरितवार्तिक हैं। 'बृहती' नाम से एक अप्राप्य और सम्भवतः अपूर्ण कृति का उल्लेख रुय्यक ने अपने व्यक्तिविवेकविचार (काशी संस्करण, पृ० ३०५) में किया है। सर्वस्वकार ने सादृश्याश्रय अलंकारों के श्रेणीविभाग में तुल्ययोगिता, दीपक, समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अनेक अलंकारों को गम्यमान औपम्य पर आश्रित माना है।[1] इनमें उपमानोपमेयभाव, इवादि औपम्यवाचक शब्दों का प्रयोग न करने से, गम्य रहता है। उसका स्वकण्ठेन निबन्धन नहीं होता। सर्वस्व के इसी मत का प्रपंच बृहती में रुय्यक को अभिप्रेत था। व्यक्तिविवेक पर व्याख्यान करते हुए उन्होंने लिखा है—

> एवमलंकारान्तरेष्वपि समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादिषु।
> तत्राप्युपमानोपमेयभावः स्वकण्ठेन नोपनिबन्धनीयः।
> अस्माभिश्चैतत् प्रपञ्चो बृहत्यां करिष्यते।

—व्यक्तिविवेकव्याख्यान (काशी) पृ० ३०५

यह बृहती व्यक्तिविवेक पर टीका के बाद लिखी जाने को थी। **'करिष्यते'** पद के प्रयोग को इसका पर्याप्त प्रमाण मानना चाहिए। जयरथ के अनुसार व्यक्तिविवेकव्याख्यान के बाद अलंकारसर्वस्व लिखा गया था। उसमें या विमर्शिनी में 'बृहती' के नाम से कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। नाम से प्रतीत होता है कि यह संभवतः किसी ग्रंथ पर विस्तार में टीका लिखने की योजना थी। कौन जाने टीका का विचार छोड़कर अपने मन्तव्य को स्वतन्त्र रूप में व्यक्त करने के लिए उन्होंने सर्वस्व लिखा हो। और 'बृहती' के नाम से टीका लिखकर अपूर्ण छोड़ दी हो या लिखी ही न हो।

६. काव्यप्रकाशसंकेत

रुय्यक ने मम्मट के काव्यप्रकाश पर एक अतिसंक्षिप्त टिप्पणी संकेत नाम से लिखी है। इसका प्रणयन उन्होंने व्यक्तिविवेकविचार तथा सर्वस्व दोनों से ही पहिले किया था। कविकर्म काव्य की काव्यकौतुक-सम्मत

---

१. देखिए--प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय 'अलंकारों का विभाग, वर्गीकरण तथा निरूपणक्रम'।

व्याख्या[1] का, घटप्रदीप न्याय से व्यंजकता[2] का 'संकेत' में केवल संकेत भर है पर इन्हीं पर विशद टिप्पणी व्यक्तिविवेकव्याख्यान[3] में है। संकेत की सरणि आलोचनात्मक है। वाग्देवतावतार के काव्यप्रकाश की कारिका या वृत्ति को परवर्ती टीकाकारों की भाँति, रुय्यक वेदवचन मानकर नहीं चले हैं। शब्दार्थ के अतिरिक्त विभावादि भी व्यंजक होते हैं। किन्तु मम्मट ने व्यंजकत्व-निरूपक तृतीयोल्लास में प्रथम की तो चर्चा की है पर विभावादि के व्यंजकत्व को छोड़ दिया है।[4] इस उल्लास के कारिकाभाग की अपूर्णता पर उनकी यह आलोचना देखिए—

ततस्तृतीयोल्लासे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य एव भेदे अर्थशक्तिमूलावलम्बनेनार्थस्य व्यंजकत्वं प्रकाशितम्। इयतैव व्यंजकत्वनिर्णयो ग्रन्थकृता कृतः, केवलं विवक्षितान्यपरवाच्यस्य संलक्ष्यक्रमव्यंग्यप्रभेदेऽर्थस्य विभावादिरूपस्य व्यंजकत्वस्यानुक्तत्वादव्याप्तिर्व्यंजकत्वनिर्णयस्य इति चिन्त्यमेतत्। —का० प्र० सं० पृ० १३

अपूर्णार्थ कारिका की पूर्ति के लिए 'उन्होंने विभावादिभ्य एषाभिव्यक्तिरर्थसमाश्रये' इस अंश को और बढ़ाने का सुझाव भी दिया है। इसी प्रकार उभय-शक्ति-मूल के स्थल पर शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि मानने पर मम्मट की आलोचना रुय्यक ने की है—

अयन्तु ग्रन्थकार उभयशक्तिमूले भ्रान्तः शब्दशक्तिमूलं वस्तुध्वनिमभ्युपगतवान्। —का० प्र० सं० पृ० २६

रुय्यक की आलोचना उनके आश्रयाश्रयिभाव सिद्धान्त को लेकर है जब कि मम्मट अन्वयव्यतिरेक सिद्धान्त के समर्थक हैं। वस्तुतः सर्वस्व में प्रतिपादित अपने अनेक मन्तव्यों को दृष्टि में रखकर संकेतकार ने मम्मट के मतों की आलोचना की है। 'कृपणानां धनं नागानां फणामणिः ···· ···' पर संकेतकार की 'यद्यपि श्लेषोपकृतये व्यतिरेकस्यांगांगिभावसंकरत्वं तथापीह विषये

---

१. का० प्र० सं०, पृ० १-२।

२. वहीं, पृ० १७-१८।

३. देखिए—व्य० वि० व्या० (त्रिवेंद्रम), पृ० १३ तथा १५।

४. मम्मट की इस आलोचना से बचने के लिए श्रीधर 'विभावादिरूपस्य व्यंजकत्वमग्रे वक्ष्यतीति नाव्याप्तिर्व्यंजकत्वनिर्णयस्य —' यह समाधान प्रस्तुत कर देते हैं। भला कहीं वाग्देवतावतार भी भूल कर सकता है!

श्लेषे व्यतिरेकः इत्येषा प्रसिद्धिर्नतु संकरः'[1] यह विवेचना सर्वस्व में उद्भटसम्मत[2] अपने उस सिद्धान्त को लेकर है जिसके अनुसार श्लेष का अलंकारान्तर-विविक्त विषय नहीं होता अतः वह सर्वालंकारापवाद है।[3] वह अलंकारान्तरप्रतिभोत्पत्ति--हेतु होता है इस मान्यता को लेकर रुय्यक ने पुनः इस प्रकार टिप्पणी की है—

> कश्चिदिह प्रभेदः श्लेषवशादेव समासादितस्वभाव (प्रभाव) इति विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषात्मक एव। तत्र श्लेषेण सहास्य संकरत्वशंका न कार्या भेदाभावात्। एवमन्यत्रापि परीक्ष्यम्।
>
> —वहीं, पृ० ६६

'यः कौमारहरः'[4] 'शनिरशनिश्च'—आदि उदाहरणों में जिनके अलंकार या ध्वनि के सम्बन्ध में सर्वस्वकार और काव्यप्रकाशकार में मतभेद है उसका संकेत में सूचन या प्रतिपादन नहीं है पर 'राजन् राजसुता'[5]—आदि उदाहरण में रुय्यक ने सर्वस्व में उल्लिखित मत की संकेत में ही सूचना दे दी है। इस प्रकार जहां मम्मट के अनेक मत और उदाहरणों की आलोचना में संकेतकार ने आगे चलकर सर्वस्व में प्रतिपादित मत का संकेत किया है वहां 'परिवृत्तिसहत्वासहत्व' या अन्वयव्यतिरेकभाव के प्रतिपादक स्थल पर आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार कुछ न लिखना; इसी प्रकार अभंग श्लेष को मम्मट द्वारा शब्द-श्लेष मानने पर आपत्ति न उठाना आदि ऐसे स्थल भी हैं जिनमें सर्वस्वकार ने अपने मत का संकेत तक नहीं किया है। काव्यप्रकाश पर संकेत बहुत संक्षिप्त है। साथ ही भारतीय परम्परा के अनुसार व्याख्याकार मूलग्रंथ के मत का यथासम्भव प्रतिपादन करता है, प्रत्याख्यान नहीं; अतः मम्मट और रुय्यक का जिन अनेक मतों के सम्बन्ध में परस्पर विरोध है उनमें से कतिपय का 'संकेत' में उल्लेख और कतिपय को छोड़ देना अस्वाभाविक नहीं है। चतुर्थ उल्लास के गुणीभूतव्यंग्य पर, रसवदादि के अलंकारत्व पर,

---

१. का० प्र० सं० पृ० ६५।

२. देखिए-काव्यालंकारसंग्रह पर इन्दुराज की लघुवृत्ति, पृ० ५४-५५

३. तेनालंकारान्तरविविक्तो नास्य (श्लेषस्य) विषयोऽस्तीति सर्वालंकारापवादोऽयमिति स्थितम्। —अ० स० पृ० १३२।

४. अ० स० पृ० १६१।

५. अ० स० पृ० १३६।

व्यंजनास्थापन तथा अनुमानखण्डन (पंचम उल्लास) पर संकेत में कुछ भी प्राप्त नहीं होता है;[1] छठा उल्लास तो सर्वथा अछूता रखा गया है और दशम उल्लास पर जिसमें अर्थालंकारों का निरूपण है संकेत सचमुच संकेत ही है। इसका कारण यही है कि इन अंशों से सम्बन्धित उसने भिन्न व्याख्यान-ग्रंथ तथा स्वतन्त्र ग्रंथ लिखे थे फलतः संकेत में उसका उल्लेख करना संकेतकार रुय्यक ने उचित नहीं समझा।

१०. हर्षचरितवार्तिक

गद्यकवि के रूप में बाणभट्ट का स्थान अद्वितीय है। इनकी प्रसिद्धि वैसे तो कादम्बरी से अधिक है किन्तु हर्षचरित भी भाषा तथा भाव की दृष्टि से बाण की प्रतिभा का सुन्दर निदर्शन है। भंगीभणिति और उनके विभिन्न भेद ही अलंकार हैं। और इस विचित्र भंगीभणिति के बाणभट्ट में स्थान-स्थान पर उदाहरण उपलब्ध होते हैं।[2] यद्यपि रुय्यक की हर्षचरितवार्तिक नाम से हर्षचरित की टीका आज तक उपलब्ध न हो सकी है किन्तु सर्वस्व तथा व्यक्ति-विवेकविचार में उसके सन्दर्भ इस बात के अवश्य प्रमाण हैं कि टीका में सर्व-स्वकार ने अनेकत्र अलंकारों का विवेचन किया था। उत्प्रेक्षा और उपमा का विषयविभाग तथा उपमोपक्रमा उत्प्रेक्षा का निदर्शन,[3] **'निर्मोक-मुक्तिमिव गगनोरगस्य लीलाललाटिकामिव विटस्य'** में महिमसम्मत उपमारूपक न मानकर मुक्तिरूप क्रिया के साथ सम्भावनात्मक 'इव' द्वारा उत्प्रेक्षण होने के नाते उत्प्रेक्षा-रूपक मानने के आधार का प्रतिपादन तथा समासोक्ति[4] विशेषणसाम्य तथा

---

१. रसवदादि अलंकार का मनाक् निर्देश चतुर्थ उल्लास में मम्मट ने किया है किन्तु आगे चलकर दशम उल्लास में उनकी चर्चा नहीं की है। रस-वदादि अलंकारों का सर्वस्व में विशद रूप से निरूपण मिलता है। अतः काव्यप्रकाश पर टिप्पणी लिखते हुए रुय्यक द्वारा अपने अभिमत की सूचना न देना खलता अवश्य है पर संकेत की सीमा देखते हुए आश्चर्य नहीं पैदा करता है।

२. विचित्रा भंगीभणितय इति यथा भट्टबाणस्य तेषु तेषु स्थानेषु
—व्य० वि० व्या० पृ० २७३।

३. अ० स० पृ० ७३।

४. व्य० वि० व्या० पृ० ३०२।

कार्यसमारोप दोनों तरह से होती है[1], आदि अलंकारमीमांसा रुय्यक ने अपने हर्षचरितवार्तिक में की थी ।

व्यक्तिविवेकविचार या व्याख्यान

रसानुमितिवादी श्रीशंकुक का अनुसरण करते हुए काश्मीर के राजानक महिमभट्ट (एकादश शतक का मध्यभाग) ने आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का एवं ध्वनिवाद का ही प्रकारान्तर से अनुगमन करने वाले श्रीकुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए व्यक्तिविवेक लिखा था । रुय्यक ने इस ग्रन्थ का उल्लेख व्यक्तिविवेक की टीका में 'व्यक्तिविवेचन' के नाम से किया है '**स्वालंकारो व्यक्तिविवेचनाख्यः**' किन्तु सर्वस्व में व्यक्तिविवेक के नाम से । अनुमिति के अन्तर्गत ही ध्वनि को गतार्थ करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य था ।[2] ध्वनि के इस समालोचन में उन्होंने न्याय या वैशेषिक से नहीं अपितु काश्मीर शैवदर्शन से यौक्तिक आधार लिया है ।[3] महिमभट्ट से पूर्व शंकुक ने रससूत्र की अनुमितिवादी व्याख्या में, तथा ध्वनिवाद के ध्वंसक ग्रन्थ हृदयदर्पण के लेखक ने ध्वनिवाद की आलोचना-सरणि की पूर्वपीठिका प्रस्तुत कर दी थी । शंकुक आदि के द्वारा उद्भावित आलोचना का उत्तर भी आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में और बाद में हृदयदर्पण आदि की आलोचना का उत्तर अभिनव गुप्त ने लोचन तथा अभिनवभारती में दे दिया था इस प्रकार महिमभट्ट द्वारा उपबृंहित अनेक ध्वनिविप्रतिपत्तियों का उत्तर ध्वन्यालोक में ही पूर्वतः विद्यमान था । अन्य अनेक विप्रतिपत्तियों का उत्तर प्रातिपद्येन रुय्यक ने अपने व्यक्तिविवेकविचार में दिया है ।[4] उन्होंने महिमभट्ट के मत की व्याख्या करने के साथ ही ध्वनिसिद्धान्त की स्थिति और मान्यताएं भी स्पष्ट की हैं, इसके लिए उन्होंने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के ग्रन्थों का तो अध्ययन किया ही था साथ ही

---

१. वहीं, पृ० ३३७ तथा इसी मत के लिए देखिए—एवं च कार्यसमारोपेऽपि ज्ञेया··· इत्यादि । —अ० स० पृ० ११० तथा ११३ ।

२. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥
—व्यक्तिविवेक का उपोद्घात पद्य ।

३. Comparative Aesthetics, खण्ड १, पृ० २७५-२८५ ।

४. इस सम्बन्ध में व्यक्तिविवेकविचार (काशी) पृ० १३, २२, १६, ५०, ५८-६, ७४, ७६, ७७, ८१, १६६, १७६ विशेषतः द्रष्टव्य है ।

ध्वन्यालोक पर अप्राप्त चन्द्रिका नाम की टीका, हृदयदर्पण तथा काव्यकौतुक आदि से भी सहायता ली थी। महिमभट्ट के अनुमितिवाद का खण्डन करते हुए ध्वनि के सिद्धान्तों की रुय्यक ने पुनः स्थापना की है अतः न केवल अनुमितिवाद को समझने के लिए अपितु उसके द्वारा ध्वनि के विरोध में उठाई गई आपत्तियों के उत्तर के लिए भी रुय्यक की व्यक्तिविवेक पर **विचार विवेचन या व्याख्यान** नामक टीका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। और इस टीकाकार का ध्वनिसिद्धान्त के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

व्यक्तिविवेकविचार सर्वस्व से पहले लिखा गया था या बाद में इस सम्बन्ध में दोनों ही सम्भावनाएं सम्भव हैं। सर्वस्वकार ने पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए महिमभट्ट के अनुमितिवाद का, ध्वनिवादी के मत को सिद्धान्तपक्ष मानकर, उल्लेख किया है। अन्त में उसका कहना है—

तदेतत्कुशाग्रधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनमिति नेह प्रतन्यते।

—अ० स० पृ० १६

इस सन्दर्भ के '**नेह प्रतन्यते**' से अधिक-से-अधिक यही ध्वनि निकलती है कि अन्यत्र इसका '**प्रतान**' किया गया है या किया जाएगा। सर्वस्वकार द्वारा इस स्थान पर व्यक्तिविवेक पर अपने 'विचार' नामक व्याख्यान का उल्लेख न करना जहाँ इस सम्भावना को जन्म देता है कि यह सर्वस्व के बाद में लिखा गया था वहाँ जयरथ की 'नेह प्रतन्यते' पर '**व्यक्तिविवेकविचारे हि मयैवेतद् वितत्य निर्णीतमिति भावः**'[1] इस टिप्पणी में '**निर्णीतम्**' का भूतकालिक शक्तिशाली (निर्णय) प्रयोग उसे सर्वस्व से पूर्वरचना मानने की सम्भावना को बलवती बनाता है।

व्यक्तिविवेक-व्याख्यान और सर्वस्व दोनों में भाषा और चिन्तन दोनों की दृष्टि से पूर्ण साम्य है। स्पष्ट पर संक्षिप्त, गम्भीर पर सरल प्रतिपादन, निपुण आलोचनापूर्ण शैली सर्वस्व और व्यक्तिविवेक-व्याख्यान दोनों की विशेषता है। '**नमस्कृत्य परां वाचम्**' का मंगल पद्य काश्मीर शैवदर्शन की भक्ति का यदि परिचय देता है तो विचार में घटादि संज्ञा शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त का विवेचन करते हुए उन्हें प्रकाशस्वभाव का बताना, उनकी बहिः-सिद्धि न मानकर प्रतिपत्ता से ऐकात्म्य स्थापित करना, उनके स्वातन्त्र्य की व्याख्या करना आदि[2]

---

१. वि० पृ० १६।

२. व्य० वि० व्या० पृ० ३३-३४।

उसी दर्शन के प्रौढज्ञान का पर्याप्त प्रमाण है। 'अलंकारतन्त्रप्रजापति' उद्भट के विचारों का प्रभाव, विशेषतया उनका अनुसरण, सर्वस्व और व्यक्तिविवेक-व्याख्यान दोनों की विशेषता है। हाँ, दूसरे आलंकारिकों के मतों से परिचय के प्रमाण भी दोनों ग्रन्थों में कम नहीं हैं। सर्वस्व के अलंकारस्वरूप तथा वर्गीकरण के अनुसार अभेदप्रधान आरोप रूपक में होता है, साध्य अध्यवसाय उत्प्रेक्षा में तथा सिद्ध अध्यवसाय अतिशयोक्ति में होता है। इन सभी में सादृश्य अनुस्यूत रहता है। किन्तु उपमा में सादृश्यमात्र रहता है आरोप या अध्यवसाय नहीं। इन विभिन्न अलंकारों का यही स्वरूप अविरल रूप में व्यक्तिविवेकव्याख्यान में मिलता है—

तथाहि क्वचित् सादृश्यमात्रं विवक्षितम्। तथापि क्वचिद् भेदः, तस्मिन्नपि क्वचिदारोपः। क्वचिदध्यवसायः। अध्यवसायेऽपि क्वचित् साध्यत्वं क्वचित् सिद्धत्वमित्यादिक्रमेणानन्तप्रकारं विच्छित्तिवैचित्र्यम्।

—व्य० वि० व्या० पृ० ३७३

अलंकारस्वरूप के निर्देश में सर्वस्व तथा व्यक्तिविवेक-व्याख्यान के शब्दों तथा विचारों का यह अविकल साम्य महत्वपूर्ण है। श्लेषके सम्बन्ध में व्यक्तिविवेक-व्याख्यान का निम्नलिखित मत है—

अलंकारान्तरविविक्तविषयाभावेन सर्वालंकारापवादत्वात् श्लेषस्योपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः....[1] —व्य० वि० व्या० पृ० ३३६-३७

यही मत सर्वस्व में विशद रूप से प्रतिपादित है।[2] परवर्ती आलंकारिकों ने सर्वस्वकार के नाम से इस मत का उल्लेख भी किया है। इसी प्रकार लाटानुप्रास[3], सापह्नवोत्प्रेक्षा[4] के स्वरूपनिरूपण तथा '**संचारपूतानि दिगन्तराणि**...' '**चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि**...' आदि उदाहरणों के अलंकारनिर्देश में सर्वस्व तथा व्यक्तिविवेक-व्याख्यान में पूर्ण साम्य है। उपमेयोपमा के उदाहरण में रुय्यक ने 'हंसश्चन्द्रइव चंद्रः इव हंसः' (अ०स० पृ० ४०) यह पाठ स्वीकार किया है। व्यक्तिविवेकव्याख्यान (पृ० २५३) में सर्वस्वकार ने मूल ग्रन्थ के

---

१. तथा देखिए—व्य० वि० व्या० पृ० ४, ३४० इत्यादि।

२. अ० स० पृ० १२७, २४६-५०।

३. अ० स० पृ० २८, व्य० वि० व्या० पृ० २८८-८६।

४. अ०स० पृ० ६५, ७३ तथा ७८, व्य० वि० व्या० पृ० २२५ तथा २४१।

'हंस इव शशी शशीव कलहंसः' पाठ के स्थान पर उपर्युक्त पाठ को युक्त माना था। इसी प्रकार शब्दार्थपौनरुक्त्य,[1] अर्थभेदाच्छब्दभेदः[2], आरोपलक्षणा,[3] आरोपविषय और आरोप्यमाण विषयी, लिंगसंख्यावेष्टिता आदि[4] अनेक ऐसे विषय हैं जिनमें भाषा और विचार दोनों की दृष्टि से सर्वस्व तथा व्यक्तिविवेक के व्याख्यान में शब्द तथा तात्पर्य का अविरल साम्य है जो इन दोनों के प्रायः कुछ समय के ही अन्तर से और एक व्यक्ति द्वारा लिखे जाने के पर्याप्त और पुष्ट प्रमाण हैं।

सर्वस्वकार के इन द्वादश[5] ग्रन्थों के प्रणयन का पूर्वापर क्रम नियत करने के लिए निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। केवल परवर्ती ग्रन्थों (विशेषतः व्यक्तिविवेक-व्याख्यान तथा अलंकारसर्वस्व) में अनेक सन्दर्भ तथा भाषा और विचार की क्रमिक परिपक्वता (जिससे किसी निर्णय पर पहुँचना सहसा सरल नहीं होता है विशेषतः जबकि अधिक संख्या में ग्रन्थ अभी तक

---

१. अ० स० पृ० १९-२०, २७, व्य० वि० व्या० पृ० २८८, ३०८, ३२७, ३३३।
२. अ० स० पृ० १२४, व्य वि० व्या० पृ० ३३५-३३६।
३. अ० स० पृ० ४३।
४. अ० स० पृ० ४९, व्य० वि० व्या० पृ० ३५४।
५. द्वादश ग्रन्थों में से पांच प्रकाशित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—
   (क) अलंकारसर्वस्व—निर्णयसागर संस्करण (दो), १८९३ ई० तथा १९३९ ई०।
   वही — अनन्तशयनम् संस्करण (दो), १९१५ ई० तथा १९२८ ई०।
   वही — (केल, १८८६ ई० अनुवाद के रूप में)।
   वही — शारदा संस्कृत ग्रन्थमाला, नवम प्रसून, बनारस, १९३६ ई०।
   (ख) सहृदयलीला —पिशेल द्वारा तथा निर्णयसागर से प्रकाशित।
   (ग) साहित्यमीमांसा—त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, संख्या ३, १९३४ ई० के० साम्बशिवशास्त्री द्वारा सम्पादित।
   (घ) व्यक्तिविवेक-व्याख्यान त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, नं० ५, १९०९ई०
   वही —काशी सँस्कृत सीरीज, बनारस १९३६ ई०।
   (ङ) काव्यप्रकाशसंकेत—कलकत्ता ओरियन्टल जर्नल, खण्ड २।

अनुपलब्ध हैं) से केवल यह सम्भावना की जा सकती हे कि **सहृदयलीला** से रुय्यक ने अपना लेखक-जीवन प्रारम्भ किया था। उसके बाद **साहित्य मीमांसा** तथा **नाटकमीमांसा** लिखी। इसके बाद ही अलंकारनिरूपण उसने अपना क्षेत्र चुना और **अलंकारानुसारिणी**, **अलंकारमंजरी** तथा **अलंकारवार्तिक** इन छोटे टीका तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों के प्रणयन के साथ या इससे पहिले काव्य-प्रकाश पर **संकेत** नाम से टीका की। हर्षचरित पर अपनी **वार्तिक** लिखने के बाद ही उन्होंने **व्यक्तिविवेक-व्याख्यान** या **विचार** का प्रणयन किया होगा। इसी समय उनका विचार **बृहती** नाम से एक ग्रन्थ लिखने का था जो संभवतः पूरा न हो सका। **श्रीकण्ठस्तव** के प्रणयनकाल के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि **अलंकारसर्वस्व** के पूर्व, अन्य प्रायः सभी ग्रन्थों की भाँति, इसकी रचना हो चुकी थी। भाषा-शैली, चिन्तनगाम्भीर्य और विचार-वैशदी की दृष्टि से सर्वस्व सबसे बाद की रचना है। यही उनके कृतित्व का अमर कीर्तिस्तम्भ है। इसका रचनाकाल ११३५-५० ई० के बीच में स्थिर किया गया है और इस प्रकार उनका लेखन-जीवन इन बारह ग्रन्थों की रचना के लिए कम-से कम २०-२५ वर्ष के अन्तर्गत माना जाए तो अनुचित न होगा। रुय्यक के बारह ग्रन्थों में केवल पाँच ग्रन्थ ही अभी तक प्रकाश में आ पाए हैं। संस्कृत साहित्य का समूचा इतिहास ही ग्रन्थों के लोप हो जाने की कहानी है। फिर भला सर्वस्वकार इस ऐतिहासिक निरपेक्षा से कैसे बच सकते थे!

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार तथा उनकी टीकाएं

अलक

रत्नकण्ठ की काव्यप्रकाशटीका सारसमुच्चय के अनुसार[1] काव्यप्रकाश का सहलेखक राजानक अलक सर्वस्व का एक टीकाकार है। विभिन्न पाण्डु-लिपियों में अलक के अतिरिक्त अलट और अल्लट के रूप में भी नाम प्राप्त होता है।[2] 'ट' से समाप्त होनेवाले अनेक नाम काश्मीरी परम्परा में मिलते हैं जैसे कि रुद्रट, मम्मट, कल्लट, भल्लट। 'क' से समाप्त होनेवाले नामों की भी परम्परा है जैसे कि शंकुक, कुन्तक, लंकक, मंखक आदि। अतः स्टेन और

---

१. पीटर्सन रिपोर्ट (२), पृ० १७।

२. श्रीविद्याचक्रवर्ती ने सं० प्र० (द्वितीय भाग, पृ० ४४९) में अलर्क नाम भी दिया है।

डा० दे के अनुसार[1] न तो यही कहा जा सकता है कि टीकाकार का नाम टान्त रहा होगा और न 'क' से अन्त होनेवाले काश्मीरी नामों के आधार पर अलक नाम के पक्ष में ही निर्णय दिया जा सकता है। सम्भव है दोनों ही प्रकार से नाम बहुत दिनों से प्रचलित रहा हो। पीटर्सन ने काव्यप्रकाश के सहलेखक और अलंकारसर्वस्व के टीकाकार अलक को एक ही मानने का सुझाव दिया है।[2] पर यह मेरी दृष्टि में सम्भव नहीं है। काव्यप्रकाश तथा सर्वस्व पर टीका लिखने वाले श्रीविद्याचक्रवर्ती ने कहीं भी इन्हें एक मानने का संकेत नहीं दिया है, यद्यपि उन्होंने अलक को काव्यप्रकाश के सहलेखक के रूप में अवश्य माना है। रुय्यक ने स्वयं काव्यप्रकाश पर टीका लिखी थी। काव्यप्रकाश को उन्होंने मम्मट और अलक दोनों की कृति माना है। काव्यप्रकाशसंकेत की प्रथम तथा दशम परिच्छेद की पुष्पिकाएं तथा **'इत्येष मार्गो विदुषां'** आदि श्लोक पर रुय्यक-कृत संकेत इसका प्रमाण हैं। अतः इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि काव्यप्रकाश का सहलेखक अलक सर्वस्कार से ज्येष्ठ था। यह विचित्र लगता है कि रुय्यक और अलक एक-दूसरे के टीकाकार हों, यह इसलिए भी सम्भव नहीं प्रतीत होता क्योंकि बाद में जिन अनेक लेखकों ने अलक को काव्यप्रकाश के सहलेखक के रूप में स्मरण किया है उनमें से किसी ने (और इसमें रुय्यक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं) यह सूचना या संकेत तक नहीं दिया है कि अलक सर्वस्व के टीकाकार भी हैं। अर्वाचीन आलंकारिकों तथा अलंकार-टीकाकारों (जैसे कि जगन्नाथ, मल्लिनाथ, कुमार-स्वामी) के ग्रन्थों में सर्वस्व और उसकी विमर्शिनी तथा संजीवनी के सन्दर्भ हैं, पर कहीं भी किसी ने रत्नकण्ठ को छोड़कर अलक की टीका का संदर्भ नहीं दिया है। सर्वस्व का उल्लेख न करने वाले तथा काव्यप्रकाश पर ही टीका लिखने वाले आलंकारिक भी अलक का टीकाकार के रूप में स्मरण नहीं करते हैं। अतः यह मानना कठिन है कि काव्यप्रकाश की पूर्ति करने वाला अलक सर्वस्व का टीकाकार रहा होगा। सर्वस्व के व्याख्याता अलक की टीका आज तक उपलब्ध नहीं है। जयरथ द्वारा अनेक व्याख्यानान्तर की चर्चा करने पर भी उन्होंने न तो अलक का कहीं नाम लिया है और न टीका का ही उल्लेख

---

१. देखिए—Jammu Cat पृ० २३ तथा हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १५०।

२. पीटर्सन रिपोर्ट (२), पृ० १७।

किया है। इन सबके अभाव में इस अलक के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग काव्यप्रकाश के पूरक अलक को रत्नाकर के हरविजय नामक काव्य पर विषमपदोद्योत टीका लिखने वाला बताते हैं,[1] और कुछ[2] सान्धिविग्रहिक अलकदत्त को (जो कल्याण, सम्भवतः कल्हण, के गुरु थे) एक व्यक्ति बताना चाहते हैं, पर निश्चित प्रमाण के अभाव में कुछ भी निश्चित कर पाना कठिन है।

जयरथ

अलंकारसर्वस्व के सुपरिचित और बहुश्रुत टीकाकार हैं राजानक जयरथ। इनकी टीका का नाम है अलंकारविमर्शिनी। यह केवल विमर्शिनी नाम से अधिक विख्यात है। जयरथ का उल्लेख भी अलंकार-ग्रंथों में विमर्शिनीकार के रूप में ही प्रायः होता है। अलंकारविमर्शिनी की मेरे द्वारा परीक्षित पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं में जयरथ[3] ही लेखक का नाम है। उनके कृतित्व का सूचक, विमर्शिनी के समाप्ति-पद्यों में से एक है—

तदात्मजन्मा वैदग्ध्यबन्धुर्जयरथाभिधः।
व्यधादिदमसामान्यं श्रवणाभरणं सताम्॥

इस श्लोक में किसी पाण्डुलिपि में पाठान्तर नहीं है। जयरथ के स्थान पर जयद्रथ छन्दोभंग के विना हो भी नहीं सकता है। विमर्शिनी की कुछ काश्मीरिक पाण्डुलिपियों या सारसमुच्चय[4] के हस्तलेख में जयद्रथ के रूप में उल्लेख लिपिक की गलती से ही मानना चाहिए। अतः यह निर्णय स्वाभाविक है कि अलंकारविमर्शिनीकार का नाम जयरथ है। इनके छोटे भाई का[5] (जिन्होंने हरचरितचिन्तामणि लिखी है[6]) नाम जयद्रथ था। यही कारण है

---

१. संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १६४।
२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २६२।
३. भा० पाण्डुलिपि में जयद्रथ लिखने के बाद शुद्ध करके जयरथ किया हुआ मिलता है।
४. पीटर्सन रिपोर्ट २, पृ० १७।
५. जयरथजयद्रथाख्यौ सकलजनानन्दकौ समगुणर्द्धी।
अमृतशशिनाविवाब्धेरस्मात् कमलाश्रयादुदितौ॥
—त० आ० (द्वादश भाग) पृ० ४३३।
६. का० मा० ६१ के अन्तर्गत १८९७ ई० में शिवदत्त शर्मा ने इसका सम्पादन किया है। ३२वें प्रकाश (अध्याय) के ४५वें श्लोक तक ही इसका

कि अनेक अधुनातन विद्वानों ने विमर्शिनी के लेखक का नाम जयद्रथ मान लिया और अनेक हरिचरितचिन्तामणि को विमर्शिनीकार की कृति मानने लगे। प्रतीत होता है कि नामान्त में 'रथ' का प्रयोग इनके कुल की परम्परा थी। इनके पिता का नाम श्रृंगाररथ था। जयरथ ने अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक पर वैदुष्यपूर्ण व्याख्यान विवेक नाम से लिखा है। हरचरित-चिन्तामणि में भगवान् शिव के 'शास्त्रदृष्ट' चरित्रों का वर्णन है। प्रारम्भ से अन्ततक यह काव्य (जिसे मेरी दृष्टि से पुराण-काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा) काश्मीर शैवदर्शन, धर्म तथा शिवभक्ति के परोक्ष एवं अपरोक्ष विवेचन से भरा पड़ा है। शिव और शक्ति का सामरस्य, भैरवचक्र में कौलसाधना आदि रहस्यवाद के सूत्र भी इसमें (विशेषतः अन्त में) परिलक्षित होते हैं। इसे और तन्त्रालोक पर विवेक टीका को पढ़ने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों एक ही दार्शनिक की कृतियाँ हैं। विवेक टीका के अन्त में जयरथ ने अपने वंश का परिचय दिया है। इनके अनेक पूर्वज जैसे कि पूर्णमनोरथ, उत्पल तथा शिवरथ क्रमशः यशस्कर, अनन्त तथा उच्चल राजाओं के सचिव थे। जयरथ के पिता श्रृंगाररथ भी राजराज के प्रधान सचिव (**मन्त्रिणामग्रणीः**) थे। इन्द्र से भी अधिक पराक्रमी राजराज (राजदेव) नामक राजा काश्मीर के निकट सतीसर का एक राजहंस था। मंखक के अनुसार सतीसर उत्तर दिशा के ललाटभूत काश्मीर का वह मण्डल है जहां ब्रह्मा ने सृष्टि-यज्ञ के अनन्तर अवभृथ स्नान किया था।[1] जयरथ ने महाविद्वान् श्रीसंगधर से विद्या पाई थी। इनके दीक्षागुरु श्रीसुभटरत्न थे जो इनके पिता के भी गुरु थे। अपने पिता श्रृंगाररथ को भी विवेककार जयरथ ने परमगुरु माना है—**श्रीश्रृङ्गारो ममापि परमगुरुः**। व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों, विशेषतः शैवागम तथा कुलदर्शन एवं क्रमदर्शन के विख्यात विद्वान् के रूप में इन्हें अमल ख्याति

प्रकाशन हुआ है अतः पूर्ण ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं है। सम्पादक ने मुखपृष्ठों पर लेखक का नाम जयरथ दिया है। प्रकाश की कुछ पुष्पिकाओं में जयद्रथ नाम भी प्राप्त होता है किन्तु जयरथ पाठान्तर भी सम्पादक की 'ख' पुस्तक का है अतः यह निश्चित नहीं है कि हरचरित-चिन्तामणि जयरथ की कृति है या जयद्रथ की।

१. कुबेरसख्याः ककुभो ललाटिका यदेति काश्मीरपदाभिधेयताम्।
सतीसरो नाम तदस्ति मण्डलं विचित्रसर्गावभृथः प्रजापतेः॥
——श्रीकण्ठचरित ३।१।

अपने समय में ही मिल चुकी थी। इस सम्बन्ध में उनका यह श्लोक उल्लेख्य है—

पदे वाक्ये माने निखिलशिवशास्त्रोपनिषदि,
प्रतिष्ठां यातोऽहं यदपि निरवद्यं जयरथः।
तथाप्यस्यामङ्ग क्वचन् भुवि नास्ति त्रिकदृशि
क्रमार्थे वा मत्तः सपदि कुशलः कश्चिदपरः॥

—तन्त्रालोक, भाग १२, श्लोक ४७, पृ० ४३४-३५

वस्तुतः कुलपरम्परा से ही शैवागम के अध्ययनादि की परम्परा जयरथ के वंश में चली आ रही थी। इनके पूर्वजों में जहाँ अनेक राजसम्मानित पदों पर थे वहीं दूसरे अनेक शिवरथ, गुणरथ आदि मोक्षसेवा, मठादिनिर्माण और मन्दिरों के जीर्णोद्धार आदि को ही अपना एकमात्र कार्य मानते थे। वैदुष्य और आभिजात्य जयरथ को कुलक्रमागत ऋक्थ के रूप में मिला था; वैदग्ध्य इनका बन्धु था।

तदात्मजन्मा वैदग्ध्यबन्धुर्जयरथाभिधः।
व्यधादिदमसामान्यं श्रवणाभरणं सताम्॥ —वि० पृ० २५७

समय

जयरथ का समय निश्चित करना कठिन नहीं है। राजराज का (जिन्हें राजदेव के नाम से ऐतिहासिक जानते हैं)[1] समय १२०३ से १२२६ तक माना जाता है।[2] जयरथ के पिता इस राजा के मन्त्री थे ही, जयरथ को भी उससे विवेक लिखने का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था।[3] जयरथ का समय और भी निश्चित रूप से निर्णय करने का प्रमाण है पृथ्वीराजविजय से विमर्शिनी (पृ० ६४) में उद्धरण। पृथ्वीराज का अवसानकाल ११९३ ई० है। अतः जयरथ का समय द्वादश शतक का अन्तिमभाग तथा त्रयोदश शतक का प्रथम भाग विद्वानों को मान्य है।

रचनाएं

अलंकारविमर्शिनी के अतिरिक्त अभिनवगुप्त के विशाल तन्त्रालोक पर

---

१. देखिए जे० आर० ए० एस० १८९७, पृ० २८३।

२. राजराज इति भूभुजामभूदग्रणीर्गुणिगणाश्रयः परम्।
तां सतीसरसि राजहंसतामातनोत्किल घनागमेऽपि यः॥ —वि० २५०।

३. इह मम गतस्तन्त्रालोके विवेचयतो यतो, निरवधिमभिप्रेतोत्साहः स एव निमित्तताम्। —तन्त्रालोक १२ वां भाग, पृ० ४३२।

वैदुष्यपूर्ण टीका विवेक की हम चर्चा कर चुके हैं। विवेक और विमर्शिनी में किसका प्रणयन पहले हुआ, यह कहना कठिन है। विवेक में गम्भीर दार्शनिक विवेचन है अतः उसमें विमर्शिनी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ता है। विवेक का लेखक (जैसा कि वह आह्निकों की समाप्ति के समय सूचित करता है) न केवल '**कौमारिलनैयायिकमतविमतिसतत्त्वविद्**' या '**निःशेषषड्विधाध्वप्रविभाग-सतत्त्वविद्**' है अपितु वह कौलादि मत का दीक्षित भक्त भी है। इससे प्रतीत होता है कि ढलती वयस में जयरथ ने यह विशद व्याख्यान लिखा होगा और उसके पहिले विमर्शिनी लिखी जा चुकी होगी। विवेक और अलंकारविमर्शिनी के अतिरिक्त इनकी तीसरी कृति अलंकारोदाहरण है। इसकी रचना जयरथ ने अपने पौत्र को अलंकारज्ञान कराने के लिए की थी। यह अलंकारविमर्शिनी के बाद में लिखी गई थी। भाण्डारकर प्राच्यविद्या संस्थान से नागरीलिपि की एक पाण्डुलिपि के समाप्ति-पद्य हैं—

> **प्रतिज्ञामात्रमेवैतदित्युपेक्ष्यं विचक्षणैः ।**
> **अलंकारविमर्शिन्यां युक्तिरुक्तचरात्र यत् ॥**
> **संगकमुद्दिश्य निजं सत्यपि बाल्ये श्रुतार्थिनं पौत्रम् ।**
> **अलिखन्निखिलालंकृतिसिद्धान्तं जयरथः स्फुटार्थपदम् ॥**

इसके प्रायः सभी उदाहरण सर्वस्व, विमर्शिनी तथा शोभाकर के अलंकाररत्नाकर से लिए गए हैं। इसकी एक विशेषता यह है कि जिन अलंकारों का खण्डन जयरथ ने अपनी विमर्शिनी में किया है उन्हीं अलंकारों का बालावबोधाय इसमें संग्रह भी कर दिया गया है। प्रौढ़ि का कम सरलता का अधिक ध्यान रखा गया है। चूँकि अभी तक इसका प्रकाशन नहीं हुआ है अतः अलंकारोदाहरण के अलंकारों की सूची यहां दे दी जाती है। अनेक अलंकारों के लक्षण भी लिख दिए जारहे हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि जयरथ ने किस प्रकार सर्वस्व आदि से ही लक्षण का संग्रह किया है। विमर्शिनी में जिन मतों और विवेचनाओं की प्राप्ति होती है उन सभी का सरल रूप में सन्निवेश अलंकारोदाहरण में है। यह पूर्णतः स्वाभाविक भी है और उचित भी।

शब्दालंकार

१. अनुप्रास —**तत्र व्यंजनमात्रपौनरुक्त्यमनुप्रासः। प्रायश्चास्य एकद्वित्रिचतुरादेर्व्यंजनमात्रकस्य समस्तासमस्ताद्यत्वेन पौनरुक्त्येऽष्टौ भेदाः।**

२. यमक —इसके अनेक भेदों का विमर्शिनी के अनुसार विवेचन है।

३. अनुप्रास —वृत्त्यनुप्रासादि ।
४. चित्र —खंगबन्ध, मुरजवन्ध आदि अनेक भेदों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन है ।

अर्थालंकार

१. उपमा
२. अनन्वय
३. उपमेयोपमा —द्वयोरन्योन्यमुपमेयोपमा ।
* ४. असम
५. स्मरण
* ६. विनोद
‡ ७. तत्सदृशादर (प्रथम) —अभीष्टसिद्ध्यै तत्सदृशादरश्च ।
‡ ८. संस्कार —अनुभूतवासनानुमेयस्संस्कारः । शोभाकर इसे भ्रान्ति के अन्तर्गत मानते हैं ।
* ९. क्रियातिपत्ति —औप(?)पम्याद्यनिष्पत्तिः क्रियातिपत्तिः । यद्यर्थोक्तादसंभाव्यमानस्य क्रियातिपत्तिः—अ० र०।
१०. रूपक
११. परिणाम उपमानोपमेययोरन्यतरत्वेन परिणतौ परिणामः । रुय्यक तथा शोभाकर के लक्षण इससे भिन्न हैं ।
* १२. वितर्क —स्वातन्त्र्येण विकल्पवैचित्र्यं वितर्कः । ऊहापोहात्मकेन चास्य द्वैविध्यम् ॥ संभावित संभाव्यमानापोहो वितर्कः ।—अ० र० ।
‡ १३. तात्पर्य —अनेकनिर्देशे एकत्र तात्पर्येच्छा तात्पर्यम् (दो भेद)।
१४. भ्रान्तिमान्
* १५. विपर्यय —धर्मिधर्मविपर्यासो विपर्ययः । धर्मिधर्मभावस्य धर्माणां विनिमयो विपर्ययः ।—अ० र०।

---

* जो अलंकार वि० में खण्डनदशा आए हैं या जो सर्वस्वकार के अनुसार अलंकार नहीं हैं उन्हें * संकेत से सूचित किया गया है ।
यत्र तत्र तुलना के लिए पहले अलंकारोदाहरण से लक्षण लिखकर अ० र० से लक्षण भी दे दिए गए हैं ।

‡ जो अलंकार शोभाकर को भी सम्मत नहीं हैं वे ‡ चिह्नित हैं ।

१६. उल्लेख

१७. अपह्नुति

१८. उत्प्रेक्षा —प्रकृतस्याप्रकृतत्वेन सम्भावनमुत्प्रेक्षा ।

१९. अतिशयोक्ति – नौ भेद ।

२०. तुल्ययोगिता-दीपक —औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुताप्रस्तुतानां तुल्ययोगिता-दीपकम् ।

२१. दृष्टान्त

२२. निदर्शना

२३. व्यतिरेक —एक विशेषभेद है— सजातीयस्यातद्धर्मित्वं च ।

२४. सहोक्ति —उपमानोपमेययोः सहार्थेन सह सम्बन्धः सहोक्तिः ।

२५. विनोक्ति —अविनाभाविनां विनाभाववचनं विनोक्तिः ।

२६. समासोक्ति

२७. परिकर

२८. श्लेष —प्रस्तुताप्रस्तुतानां सभंगासभंगपदतया साम्ये श्लेषः

२९. अप्रस्तुतप्रशंसा

३०. अर्थान्तरन्यास

* ३१. उदाहरण —सामान्यस्य विशेषेण विशदीकरणमुदाहरणम् ।
सामान्योष्टिानामेकस्य निदर्शनमुदाहरणम् ।–अ० र० ।

३२. पर्यायोक्ति

३३. आक्षेप

३४. द्वितीय आक्षेप—अनिष्टविध्याभासश्च ।

* ३५. निश्चय —विहिताशंकितयोर्विशेषावगमाय निषेधे निश्चयः ।
विहितस्याशंकितस्य वा विशेषावगमाय निषेधो निश्चयः ।—अ० र० ।

३६. विरोध

३७. विभावना

३८. विशेषोक्ति

३९. असंगति

४०. विषम —अर्थानर्थपदे(?)तदन्यस्योत्पत्तिर्विषमम् ।

४१. (द्वितीय) विषम—विरूपकार्योत्पतिर्विरूपसंघटना च ।

४२. सम

४३. विचित्र —स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नेनानिष्फलश्च विचित्रम्।
विफलः प्रयत्नो विचित्रम् ।—अ० र० ।

* ४४. अनादर —अप्राप्तार्थं तत्तुल्यानादरोऽनादरः ।

* ४५. आदर (द्वितीय)—त्यक्तस्वीकार आदरः । अ० र० का भी शब्दशः यही लक्षण है ।

४६. अन्योन्य —रूपधर्मयोः परस्परजननेऽन्योन्यम् ।
रूपधर्मयोः परस्परनिबन्धनत्वमन्योन्यम् ।—अ० र०।

४७. विशेष

४८. व्याघात

४९. व्याघात (द्वितीय) —सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च ।

* ५० शृंखला —उत्कर्षार्थमन्यस्यान्यत्र बन्धनं शृंखला ।
उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वानुबन्धित्वं विपर्ययो वा शृंखला ।
—अ० र० ।

५१ अनुमान

* ५२. व्याप्ति —सर्वथा सम्भवासम्भवप्रतीतौ व्याप्तिः ।
सर्वथा सम्भवोऽसम्भवो वा व्याप्तिः ।—अ० र० ।

* ५३. प्रसंग —अनिष्टापादनं प्रसंगः
प्रसंगादन्यार्थः प्रसंगः ।—अ० र० सू० ८७ ।

५४. पर्याय

* ५५. समता —दोषगुणयोस्तदन्याभ्यां समाधानं समता ।
तदन्याभ्यां समाधानं समता ।—अ० र० सू० ६७ ।

* ५६. तुल्य —निवृत्तावन्योदयस्तुल्यम् ।
अ० र० का भी अक्षरशः यही लक्षण है ।

* ५७. वैधर्म्य —उद्दिष्टस्य प्रतिपन्नतयानुनिर्देशे वैधर्म्यम् । अ० र० का भी यही सूत्र है ।

* ५८ परभाग
अनुभूतस्यार्थान्तरोपलब्धौ विभागावगमः परभागः ।
अनुभूतस्यार्थान्तरोपलब्धौ परभागः विवेक इत्यनुषज्यते ।—अ० र० सू १०० तथा वृत्ति ।

* ५९. उद्रेक —गुणदोषयोः सुपराक्षेपयोरुत्कटत्वमुद्रेकः ।
सजातीयविजातीयाभ्यां तुच्छत्वमुद्रेकः ।
—अ० र० सू० ६७ ।

६०. परिसंख्या

* ६१. विधि —उत्कर्षार्थं प्रेषणं विधिः।
असम्भाव्यहेतुफलप्रेषणं विधिः।–अ० र० सू० ८२।

* ६२. प्रतिप्रसव —निवृत्तस्य पुनरुदयः प्रतिप्रसवः।
प्रत्यापत्तिः प्रतिप्रसवः। —अ० र० सू० ८५।
निवृत्तस्यार्थस्य पुनः प्राप्तिः प्रत्यापत्तिः।–वहीं वृत्ति

* ६३. तन्त्र —युगपदनेककार्यकारी यन्त्रस्तन्त्रम्।
नानाफलप्रयुक्तप्रयत्नस्तन्त्रम्।—अ० र० सू० ८६।

‡ ६४. अंग अङ्गिनः फलवत्त्वे परस्याफलत्वमङ्गम्।

‡ ६५. अनंग —तद्विपर्ययोऽनंगम्।

६६. अर्थापत्ति

* ६७. सम्भव —समुदाये समुदायता(?)मुपपत्तिः संभवः।

६८. विकल्प

६९. समुच्चय

‡ ७०. अभ्यास —दुष्करसिद्धिकृदभ्यसनमभ्यासः।

‡ ७१. अभीष्ट —स्वयंविधे यस्यापाततः सिद्धिरभीष्टम्।

७२. समाधि

* ७३. प्रत्यूह —प्राप्तस्य प्रतिबन्धः प्रत्यूहः।–अ० र० का यही लक्षण है।

७४. प्रत्यनीक —अनिष्टस्य तदीयस्य वा प्रातिकूल्यं प्रत्यनीकम्।
तच्चात्र स्वमुखेन परमुखेन वेत्यस्य चातुर्विध्यम्।

‡ ७५. अप्रत्यनीक

७६. प्रतीप —उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम्।

७७. मीलित

७८. सामान्य —प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम्।

* ७९. विवेक —साम्यादभेदेऽपि कुतश्चित् भेदे विवेकः।
—तस्यां कुतश्चिद्विवेको विवेकः।–अ० र० सू० ९९।

८०. तद्गुण

८१. उत्तर

८२. सूक्ष्म

८३. व्याजोक्ति

८४. वक्रोक्ति
८५. स्वभावोक्ति
८६. भाविक —विप्रकृष्टस्य प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् ।
८७. उदात्त
८८. रसवदादि
८९. संसृष्टि
९०. संकर

अलंकारोदाहरण की उपर्युक्त सूची से पता चलता है कि जयरथ ने चित्रालंकार के अनेक भेदों—खंगबन्ध, पद्मबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध अक्षरच्युतक, गूढकरक आदि का विवेचन किया है। उन्होंने ऐसे अनेक अलंकारों का भी विवेचन किया है जो सर्वस्व और अलंकाररत्नाकर में प्राप्त नहीं होते हैं जैसे कि अप्रत्यनीक, अंग, अनंग, अभ्यास, अभीष्ट, तात्पर्य, संभव तथा संस्कार ।

मुरारिदान ने अपने जसवन्तजसोभूषण में यशस्कर के नाम से अलंकारोदाहरण की चर्चा की है । जसवन्तजसोभूषण के अनुसार यशस्करकृत अलंकारोदाहरण में नीचे लिखे आठ अलंकार नवीन हैं—अंग, अनंग, अप्रत्यनीक, अभ्यास, अभीष्ट, तात्पर्य, तत्सदृशाकार तथा प्रतिबन्ध । यह सूची जयरथकृत अलंकारोदाहरण से मिलती है। केवल प्रतिबन्ध नामक अलंकार उस सूची में नहीं है और संभव तथा संस्कार दो और अधिक अलंकार हैं।

यशस्कर का अलंकारोदाहरण (—निबद्धदेवीस्तोत्र) की पाण्डुलिपि भाण्डारकर प्राच्यविद्यासंस्थान में २४१ संख्या के अन्तर्गत मिलती है। वस्तुतः यशस्कर ने जयरथ के अलंकारोदाहरण के आधार पर देवीस्तोत्र का निर्माण, अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए, किया है। अतः जसवन्तजसोभूषण के कथन से यह निष्कर्ष निकालना कि अलंकारोदाहरण यशस्क अथवा यशस्कर की रचना है, ठीक नहीं है। जिन अलंकारों का सर्वस्व में विवेचन नहीं है तथा जो अलंकाररत्नाकर और अलंकारोदाहरण में मिलते हैं उनकी सूची निम्नलिखित है—असम, उद्रेक,अनादर (अथवा तत्सदृशादर), क्रियातिपत्ति, आदर (द्वितीय), तन्त्र, उदाहरण, तुल्य, निश्चय, विनोद, परभाग, विपर्यय, प्रतिप्रसव, विवेक, प्रत्यूह, व्याप्ति, प्रसंग, वैधर्म्य, विधि, शृंखला तथा समता ।

अलंकाररत्नाकर के अनेक अलंकार ऐसे भी हैं जिनका उल्लेख अलं-

कारोदाहरण (तथा अलंकारसर्वस्व) में नहीं है। उनकी सूची यह है—अचिन्त्य, अनुकृति, अभेद, अवरोह, अशक्य, आपत्ति, उद्भेद, क्रम, गूढ, नियम, प्रतिभा, प्रतिमा, प्रत्यादेश, वर्धमानक, विकल्पाभास, विध्याभास, व्यत्यास, व्यासङ्ग, सन्देहाभास, संस्कार तथा हेतु।

इनमें से अनेक अलंकारों का खण्डन करने के लिए विमर्शिनी में उल्लेख मिलता है जैसे कि अभेद, प्रतिमा वर्धमानक आदि का।

अनेक अलंकारलक्षणों को जयरथ ने शब्दशः अलंकाररत्नाकर से लिया है जैसे कि तुल्य, वैधर्म्य, प्रत्यूह तथा प्रत्यनीक आदि। कुछ में बहुत थोड़ा परिवर्तन कर दिया है जैसे कि परभाग, प्रतिप्रसव आदि के लक्षणों में। अनेक अलंकार जैसे कि उद्रेक, तन्त्र आदि शब्दतः तो भिन्न हैं पर अर्थतः अलंकाररत्नाकर (वृत्ति के साथ) से मिलते हैं। जयरथ ने उदाहरण भी सर्वस्व, विमर्शिनी तथा अलंकाररत्नाकर से ही विशेषतया लिए हैं।

अप्रत्यनीक, अंग, अनंग आदि नौ अलंकार जयरथ द्वारा ही उद्भावित हैं, यह कहना कठिन है क्योंकि संभव है कि अलंकारसार (जिसका सन्दर्भ अ० र० पृ० ६ में भी मिलता है) तथा अलंकारभाष्य में इनका वर्णन हो[1]। अलंकारों के क्रमिक विकास का प्रामाणिक इतिहास लिखे जा सकने पर ही अलंकारों के मौलिक उद्भावक के रूप में जयरथ का स्थान निर्धारित हो सकेगा। अलंकारोदाहरण शिशुपौत्र को अलंकारों का ज्ञान कराने के लिए लिखा गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह अपने इस उद्देश्य में सफल कृति है। जयरथ का आलंकारिक के रूप में आदर का श्रेय सर्वस्व पर उनकी मौलिक, गम्भीर और वैदुष्यपूर्ण टीका अलंकारविमर्शिनी को है जो अलंकारोदाहरण के पूर्व लिखी जा चुकी थी।

अलंकारविमर्शिनी

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर की भाँति जयरथ की यह सर्वस्वटीका इतने अनेक सन्दर्भों से भरी पड़ी है कि सहसा यह निश्चय कर पाना कि टीकाकार का मौलिक अंश कितना है, ठीक उसी प्रकार होगा जिसप्रकार महासागर में गंगा को खोज निकालना। जयरथ के पूर्व आलंकारिकों की एक

---

१. उदाहरण के लिए संस्कार अलंकार, जो नौ अलंकारों की सूची में है, वि० पृ० ५३ के अनुसार, अलंकारभाष्य द्वारा उद्भावित अलंकार है।

लम्बी और अविश्रृंखल परम्परा है। मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, अलंकारसार-कार, अलंकारभाष्यकार और न जाने कितने (एक काश्मीर के ही अनेक) आलंकारिक अलंकार-सागर को अनवरत भरते जा रहे थे। विमर्शिनी का युग अलंकारों के चिन्तनमनन का चूडाकाल है। एक के बाद दूसरा आलंकारिक प्राचीन अलंकारों के अनुशीलन और नवीन अलंकारों की उद्भावना में अपना अपना योगदान देता चला जा रहा था। यही समय था जब ध्वनिवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। अलंकारों को उस समय पृष्ठभूमि में पड़ना चाहिए था। पर चाहें इसे अलंकारसम्प्रदाय की प्रतिक्रिया का फल कहें या सर्वतोमुखी चिन्तन की स्वतन्त्रता का, यह सच है कि अलंकारों पर जितना विवेचन उस समय हुआ उतनी गम्भीरता के साथ फिर बाद में नहीं हुआ। दीक्षित का कुवलयानन्द और जगन्नाथ का अलंकारविवेचन प्रौढ़ अवश्य है पर उसमें पूर्व की प्राप्तियों का लेखा-जोखा अधिक है। यह कहना भले ही अत्युक्ति हो कि अलंकारविमर्शिनी का टीका के रूप में वही स्थान है जो अभिनव गुप्त के लोचन का, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि अलंकारों के खण्डन-मण्डन की प्रौढि, गाम्भीर्य, विश्लेषणपूर्ण वैदुष्य तथा मौलिक चिन्तन का जो स्वरूप अलंकार-विमर्शिनी में मिलता है वह अलंकारग्रन्थ के किसी दूसरे टीका-ग्रन्थ में नहीं है। विमर्शिनी के आधार पर सर्वस्व का जो अध्ययन यहां प्रस्तुत किया गया है, उसमें यथास्थान इस टीका के मतों का उल्लेख है। पर निश्चित ही इसके अनेक मतों और विवरणों का उल्लेख छूट गया है, क्योंकि अलंकारों की विषय-सीमा इतनी विस्तृत है कि इस प्रबन्ध में सब कुछ को नहीं लाया जा सकता है। रुय्यक द्वारा सर्वस्व लिखने के कुछ ही समय बाद काश्मीर के शोभाकरमित्र ने अलंकाररत्नाकर लिखा था। अलंकाररत्नाकर के लेखक ने सर्वस्व से बहुत कुछ लिया है पर प्रारम्भ से ही अन्त तक उसने रुय्यक के मतों का यथासंभव खण्डन करना चाहा है। जिसप्रकार पण्डितराज जगन्नाथ को अप्पय्यदीक्षित से चिढ़ है बहुत कुछ उसीप्रकार शोभाकर को सर्वस्वकार से। वैदुष्य-क्षेत्र में यह लड़ाई पाण्डित्य-प्रसवा होती है। हुआ भी यही। शोभाकर ने सर्वस्व का खण्डनदृशा अत्यधिक मन्थन किया, अलंकारों के लक्षण और उदाहरणों पर वज्र-प्रहार किया। जयरथ की विमर्शिनी की एक विशेषता है—शोभाकर द्वारा उल्लिखित अनेक आलोचनाओं का उत्तर। पर जैसा कि स्वाभाविक है एक ओर तो अलंकाररत्नाकर सर्वस्व से अनजाने बहुत कुछ ग्रहण करता गया है और दूसरी ओर विमर्शिनी ने अलंकाररत्नाकर से खण्डन के साथ-साथ अपने विमर्श में सहायता ली है। आलोचनात्मक मैत्री और विवेकपूर्ण विरोध का

यह सहज परिणाम होता है। सर्वस्व के बाद और अलंकाररत्नाकर से पहिले दो और अलंकारग्रन्थ लिखे गए—अलंकारसार तथा अलंकारभाष्य। शोभाकर का अलंकाररत्नाकर पूना से प्रकाशित हो चुका है पर अभीतक उपर्युक्त ग्रन्थों का पता न चल सका है। अलंकारसार तथा अलंकारभाष्य दोनों ने ही विमर्शिनी के अनेक विमर्शों को अपने चिन्तन से प्रभावित किया है। इनका संक्षेप में परिचय पा लेना आवश्यक है।

अलंकारसार

जयरथ से पूर्ववर्ती शोभाकर द्वारा अलंकारसारकृत् के(अ०र०पृ०६) मत का उल्लेख इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि यह ग्रन्थ रुय्यक के किसी कनिष्ठ समकालीन ने लिखा था क्योंकि शोभाकर और रुय्यक के समय में पचास वर्ष से अधिक का अन्तर नहीं माना जा सकता है। अतएव यह अलंकारसार इसी नाम के परवर्ती ग्रंथों से भिन्न है।[1] शोभाकर तथा जयरथ ने इसका पर्याप्त उपयोग किया है। विमर्शिनी में अलंकारसार के जितने संदर्भ हैं वे सभी सर्वस्व के मत से भिन्न हैं। जयरथ ने कहीं तो समर्थनदृशा उनका उल्लेख किया है और कहीं उसकी मान्यता के विपरीत सर्वस्व के मत की रक्षा की है। शोभाकर ने सर्वस्व तथा अलंकारसार दोनों ही की आलोचना की है। किन्तु वे भी उसके मतों से कम प्रभावित नहीं हैं। वस्तुतः जयरथ तथा शोभाकर को अलंकारों की मीमांसा करने में अलंकारसार से बहुत अधिक सहायता मिली है। विमर्शिनी के निम्नलिखित सन्दर्भ खोए हुए अलंकारसार के अलंकारसाहित्य के इतिहास तथा विमर्शिनी और अलंकाररत्नाकर आदि पर उसके प्रभाव पर प्रकाश डाल सकेंगे।[2]

रुय्यक 'पाण्डचोऽयमंसार्पितलम्बहारः' (अ० स० पृ० ३४) में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से उपमा मानते हैं। इनके अनुसार पाण्डच उपमेय है और अद्रिराज उपमान। हार और अंगराज क्रमशः निर्झर तथा बालातप के बिम्ब-

---

१. बालकृष्णभट्ट(१६२५-१७०० ई०), कवीश्वरराज, नृसिंह तथाभावदेव के ग्रन्थों का भी यही नाम है। N.C.C. पृ०२६६।

२. इस सम्बन्ध में देखिए इस लेखक का निबन्ध—Alaṅkārasāra and the Alaṅkārabhāṣya: Their contribution to the History of Alaṅkāras. V. I. J. जिल्द १, खण्ड २, पृ० ३०६-१४।

प्रतिबिम्बरूप धर्म हैं। यह है सर्वस्वकार का मत। अलंकारसारकार इस पूरे श्लोक को वाक्यार्थोपमा का उदाहरण मानते हैं। उनके अनुसार हार निर्झ-रादि भी गम्यमान धवलता आदि धर्म के आधार पर धर्मी हैं और उनमें परस्पर उपपमानोपमेयभाव है। अलंकाररत्नाकर (पृ० ६) में इस मत का खण्डन है। विमर्शिनी में अलंकारसार के मत का पूर्णतः उपबृंहण है (पृ० ३४-३५) और सर्वस्व के समर्थन में उसका खण्डन भी।

रुय्यक का श्लेष के सम्बन्ध में मत है—

तेनालंकारान्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालंकारापवादोऽय-मिति। —अ० स० पृ० १३२

अलंकारसार का मत ठीक इसके विपरीत है। इसके अनुसार अन्य अलंकारों की भांति श्लेष-स्थल में भी बाध्यबाधकभाव स्पष्ट रहता है और उसे सर्वालंकारापवाद कहना अनुचित होगा। अलंकारसारकार के इस मत का विमर्शिनी में (पृ० १२५) उल्लेख है, अनुसरण या समर्थन नहीं, पर अलंकार-रत्नाकर में सर्वस्व की आलोचना का आधार यही अलंकारसार है। सर्वस्व के मत की आलोचना में शोभाकर का यह वक्तव्य देखिए :—

अलंकारान्तरविविक्तविषयत्वाभावात् निरवकाशत्वेन तद्बाधकत्वात्
तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वमेव न वाच्यम्..................तस्मादेवमादौ
अलंकारान्तरविविक्तविषयत्वान्न निरवकाशः श्लेषः। —अ० र० पृ० ७५-७६

रुय्यक के अनुसार उत्कृष्ट गुण की प्रत्यासत्ति होने पर भी न्यूनगुण द्वारा उसके गुणों का अनुहरण (जो कि स्वाभाविक है) न करना अतद्गुण अलंकार है—

सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः। —अ० स० पृ० २१४

इसका उदाहरण है—

धवलो सि जह वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअम्।
राअभरिते वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तोऽसि॥

नायक धवल वर्ण है पर कामिनी के हृदय को वह राग (लालिमा) से रंग देता है। किन्तु नायिका के अनुरागी हिय में रहने पर भी उसमें राग (अनुराग तथा लालिमा) नहीं आ पाता है। अलंकारसारकार अतद्गुण को एक पृथक् अलंकार ही नहीं मानते।[1] उनके अनुसार विशेषोक्ति (कारण-सामग्री रहने पर भी फलोत्पति न होना) में ही अतद्गुण का अन्तर्भाव करना

---

१. वि० पृ० २१५।

चाहिए। जयरथ का कहना है कि अतद्गुण अलंकार का निरूपण रुय्यक ने चिरन्तन आलंकारिकों के आधार पर कर दिया है। शोभाकर भी अलंकार-सार के इस मत से सर्वदा सहमत हैं और सर्वस्व की (उपर्युक्त उदाहरण के साथ) प्रबल आलोचना करते हैं, जो वस्तुतः शोभाकर की नहीं, अलंकारसार के लेखक की है—

..........सति हेतौ तद्रूपाननुहारोऽतद्गुण[1] इत्यतद्गुणालंकारो न वाच्यः।
हेतुसाकल्ये फलानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिरिति[2] विशेषोक्तावन्तर्भावात्।
—अ० र० पृ० १६९

सर्वस्वकार उत्तर नामक अलंकार दो मानते हैं। एक का लक्षण है प्रश्न का उपादान न होने पर भी उत्तर का उन्नयन; और दूसरे का लक्षण हैं उपात्त प्रश्न का असम्भाव्य और असकृत् उत्तर देना—

उत्तरात्प्रश्नोन्नयनमसकृदसम्भाव्यमुत्तरं चोत्तरम्। —अ० स० पृ० २१६।

अलंकारसार इन दोनों को ही अलंकार नहीं मानता।[3] शोभाकर ने इन दोनों का ही अन्तर्भाव (संभवतः अलंकारसार के आधार पर ही) नियमालंकार के अन्तर्गत किया है।[4] उन्होंने न केवल सर्वस्व के उत्तरालंकार के लक्षण की अपितु उदाहरण (का विसमा देवगई) की भी आलोचना करते हुए लिखा है—

इत्यादावन्यवैलक्षण्येन.............नियम एव नतु पृथगुत्तरालंकारो वाच्यः।
—अ० र० पृ० १४४

जयरथ अलंकारसारकार से इस बात पर पूर्णतः सहमत नहीं है। वे सर्वस्व के उदाहरणों को तो सदोष समझते हैं

एतच्चोदाहरणद्वयं ग्रन्थकृता प्राच्यमतानुरोधेन दत्तम्।
वस्तुतस्त्वत्र नास्त्येतदलंकारद्वयम्। —वि० पृ० २१६

किन्तु लक्षण को नहीं। इसीलिए उन्होंने दूसरे उदाहरण देकर सर्वस्व के दोनों उत्तरालंकार का समर्थन किया है।[5] विमर्शिनीकार ने शोभाकर की इस

---

१. निर्णयसागर का पाठ है 'तद्गुणाननुहारः'।
२. यह अ० र० का सूत्र (संख्या ५४) है।
३. वि० पृ० २१६।
४. तत्र त्वन्यमते उत्तरालंकारो हि युक्तोऽस्मन्मते तु वक्ष्यमाणनीत्या नियम एव—अ० र० पृ० १४३।
५. वि० पृ० २१६-१७।

मान्यता को भी नहीं माना है कि उत्तरालंकार का अन्तर्भाव नियमालंकार में करना चाहिए ।

सर्वस्व के उदात्तालंकार (प्रथम) का स्वरूप है—किसी समृद्धिमत् वस्तु में कविप्रतिभोत्थापित ऐश्वर्य का वर्णन—

तत्रासंभाव्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं कविप्रतिभोत्थापितमैश्वर्य-लक्षणमुदात्तम् । —अ० स० पृ० २३०

अलंकारसार के अनुसार इसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति में करना चाहिए ।[1] रुय्यक की आलोचना में शोभाकर ने उनके लक्षण को सदोष तथा उदाहरण '**मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः**' आदि को '**असम्बन्धे सम्बन्धरूपा**' अतिशयोक्ति का माना है[2] और इस प्रकार शोभाकर ने रुय्यक की आलोचना में यहां भी अलंकारसार का अनुसरणमात्र किया है ।

सन्देहसंकर के सम्बन्ध में भी अलंकारसार के विचार बहुत मौलिक हैं । जयरथ ने तो उनका उल्लेख किया ही है शोभाकर ने तो उसका पूर्णतः अनुसरण किया है । सर्वस्व के अनुसार सन्देहसंकर का स्वरूप है—

यत्रान्यतरपरिग्रहे साधकं प्रमाणं नास्ति बाधकं वा प्रमाणं न विद्यते तत्र न्यायप्राप्तः संशय इति सन्देहसंकरस्तत्र विज्ञेयः --अ० स० पृ० २५० ।

इसके एक उदाहरण '**यः कौमारहरः**' आदि (अ० स० पृ० २५०) में रुय्यक विभावना और विशेषोक्ति का तथा दूसरे उदाहरण '**यद्वक्त्रचन्द्रे नवयौवनेन**' (पृ० २५१) आदि में उपमारूपक का सन्देहसंकर मानते हैं । तीसरा उदाहरण सर्वस्व के समासोक्तिप्रकरण का है—'**दन्तप्रभापुष्पचिता**' (पृ० ११०) आदि जिसमें '**परीता हरिणेक्षणा**' पाठ स्वीकार करनेपर उपमा-रूपक का सन्देहसंकर होगा । अलंकारसारकार सन्देहसंकर अलंकार ही मानने को प्रस्तुत नहीं है । उनका कहना है कि सन्देह सदा किसी प्रमाता-विशेष को किसी नियतकाल और देश में होता है '**स्थाणुर्वा पुरुषो वा**' के सन्देह में सभी प्रमाता नहीं पड़ते हैं । इस प्रकार सन्देह 'नियतदेशकालप्रमातृगत' है । दूसरे सन्देह कभी अन्त तक नहीं रहता है । साधक या बाधक प्रमाण पाकर उसकी किसी एक कोटि का निवृत्त और दूसरी का प्रतिष्ठित होना आवश्यक है । कोई भी अलंकार पहले तो नियतप्रमाता के लिए नहीं होता और फिर यदि उसमें

---

१. वि० पृ० २३०-३१ ।

२. अ० र० पृ० १८८ ।

सन्देह का निबन्धन हो भी तब भी वाक्य के पर्यवसान में उसका निवृत्त होना आवश्यक है अतएव सन्देहसंकर को अलंकार ही नहीं माना जा सकता है। जयरथ ने अलंकारसार के इस मत का विशद रूप में (वि० पृ० ११३, २५१-५२) उल्लेख किया है। शोभाकर ने न केवल इस मत का प्रतिपादन किया है बल्कि सर्वस्व के उदाहरणों में क्रमशः विभिन्न अलंकारों का निर्देश भी किया है[1]; इस प्रकार अलंकारसार का अलंकारचिन्तन में महत्त्वपूर्ण योग है। अलंकारों के इतिहास में उसका कितना मौलिक योगदान है इसका अनुमान ऊपर के कतिपय सन्दर्भों से ही हो जाता है। उपर्युक्त सन्दर्भों से एक बात और स्पष्ट है कि यह ग्रंथ सर्वस्व से परवर्ती है तथा इससे शोभाकर तथा जयरथ ने सर्वस्व के विरोध या समर्थन में लाभ उठाया है। अलंकारसर्वस्व में इसका उल्लेख न होना तथा शोभाकर एवं जयरथ द्वारा इसके मत का निर्देश इस बात का प्रमाण है कि अलंकारसार १२वीं शती के अन्तिम भाग की रचना है।

अलंकारभाष्य

अलंकारभाष्य ने भी जयरथ की विमर्शिनी को प्रभावित किया है। नाम के अनुसार यह टीकाग्रंथ प्रतीत होता है पर सूत्रात्मक उद्धरण से इसमें सन्देह अवश्य पैदा होता है। अलंकारभाष्यकार ने संस्कार[3] और वितर्क[4] नामक दो नवीन अलंकार प्रतिपादित किए थे। उन्होंने सादृश्य तथा सादृश्येतर दोनों ही प्रकार के सम्बन्ध से लक्षणा का रूपक में उपयोग है, यह प्रतिपादित

---

१. अ० र० पृ० ७२ तथा १९८-९९।

२. (क) लक्षणापरमार्थं यावता रूपकस्वरूपम्—वि० पृ० ४४ रसग० पृ० २३९।
(ख) सारोपान्या च सादृश्याद्वा सम्बन्धान्तराद्वा—वि० पृ० ४४।

३. देखिए वि० पृ० ५७। जयरथ ने अलंकारोदाहरण में संस्कारालंकार को स्वीकार किया है, यद्यपि विमर्शिनी में उन्होंने भ्रान्तिमान् में इसका अंतर्भाव उचित समझा है। शोभाकर (अ० र० पृ० ५३) भ्रान्तिमान् को सादृश्योत्थापित तथा सादृश्येतर निमित्त से उत्थापित मानते हैं और यह मानकर संस्कार के उदाहरण 'दातुं वाञ्छति' आदि का भ्रान्तिमान् में ही अंतर्भाव करते हैं।

४. अलंकारभाष्यकारोक्तः...वितर्कालंकारः।—वि० पृ० १७४।

किया था जबकि रुय्यक केवल प्रथम प्रकार की लक्षणा से ही रूपक मान सकते हैं। 'वास्तवत्वं नालंकारः' इस मत को मानने के कारण अलंकार-भाष्यकार रुय्यक के विनोक्तिलक्षण से भी सहमत नहीं है। भाष्यकार का विनोक्ति लक्षण है—**नित्यसम्बद्धानामसम्बद्धवचनं विनोक्तिः** ।–वि० पृ० ३१७

इसी प्रकार अलंकारभाष्य का मत है कि सूक्ष्मालंकार केवल संलक्षित सूक्ष्मार्थ के प्रकाशन में ही नहीं होता (जैसा कि रुय्यक मानते हैं) अपितु इसे सूक्ष्मार्थ के संलक्षणमात्र या प्रकाशनमात्र में भी मानना चाहिए। रुय्यक द्वारा सर्वस्व में प्रतिपादित मतों से अलंकारभाष्य का मतभेद यह सूचित करता है कि इस भाष्य का लेखक सर्वस्व से परिचित था। विमर्शिनी के 'इत्येतद्ग्रन्थप्रक्रियया-लंकारोदाहरणजातं कुर्वताप्यलंकारभाष्यकृता सूक्ष्मालंकारे यत्तदननुगुणमुदाहृतम्' (वि० पृ० २१७-१८) आदि से यह भी समझा जा सकता है कि सर्वस्व का अनुसरण करते हुए अलंकारभाष्य में अलंकार और उनके उदाहरण का प्रणयन किया गया था। यह सन्दर्भ इस बात का भी द्योतक है कि अलंकारभाष्य सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण की परम्परागत शैली का स्वतन्त्र ग्रन्थ था। इसका प्रणयन अलंकाररत्नाकर के पूर्व हुआ था। यद्यपि शोभाकर ने इसका नामतः कहीं उल्लेख नहीं किया हैं किन्तु उन्होंने अलंकारभाष्य के संस्कारालंकार का खण्डन किया है तथा उसके रूपक सम्बन्धी विवेचन से शोभाकर प्रायः सहमत हैं; साथ ही भाष्यकार के वितर्कालंकार को उन्होंने अपने ग्रन्थ में स्थान भी दिया है। रसगंगाधर में केवल दो बार अलंकारभाष्य से उल्लेख है; एक रूपक और दूसरा विनोक्ति के सम्बन्ध में। उसके मत के ये दोनों ही सन्दर्भ विमर्शिनी में उल्लिखित हैं। स्वभावतः यह सोचना अनुचित न होगा कि पण्डितराज ने जयरथ की विमर्शिनी से ही, जिसके अनेक सन्दर्भ रसगंगाधर में है, अलंकारभाष्य के इन मतों को लिया है। और यही निष्कर्ष विमर्शिनी से परवर्ती अन्य ग्रन्थों में प्राप्त सन्दर्भों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ है।

विमर्शिनी के अनुसार, अलंकारभाष्यकार द्वारा सर्वस्व की रूपविधा एवं प्रतिपादन का प्रतिपद अनुसरण तथा शोभाकर द्वारा अप्रत्यक्षरूप में भाष्यकार के मत का खण्डन-मण्डन यह सिद्ध करता है कि काश्मीर का यह आलंकारिक रुय्यक का तरुण समकालीन रहा होगा।

अलंकारविमर्शिनी : एक आलोचनात्मक टीका

जयरथ का अलंकारज्ञान कुशाग्र की तरह तीक्ष्ण है। रुय्यक के व्याख्याता के रूप में उन्होंने शोभाकर आदि द्वारा की गई सर्वस्व की आलो-

चना का जहां एक ओर उत्तर दिया है, वहाँ अनेकत्र सर्वस्व के मतों पर भी विमर्श प्रस्तुत किया है। भारत का प्राचीन व्याख्याकार अपने आचार्य का जब कभी आलोचन करता है वह अपनी स्वभावशालीनता नहीं छोड़ता है। यही कारण है कि जयरथ अपने विमर्श का **'चिन्त्यं चैतत्'** कहकर संकेत कर देते हैं। अनेकत्र उन्होंने लिपिकार का प्रमाद मान लिया है और बहुधा वे अपने ग्रन्थकार की आलोचना **'ग्रन्थकृता पुनरेतच्चिरन्तनानुरोधात् कृतम्'** कहकर प्रस्तुत करते हैं। उन अगणित स्थलों को छोड़ भी दें, जहां जयरथ ने अलंकारों के स्वरूपभेद तथा विभागोपविभाग आदि की चर्चा की है (जो हमें रुय्यक में प्राप्त नहीं होते हैं), तब भी लगभग पचास स्थल ऐसे बचते हैं जहाँ विमर्शिनी में रुय्यक की मान्यताओं पर विमर्श मिलेगा। यह विमर्श ग्रन्थकार रुय्यक की आलोचना के साथ स्वन्त्र चिन्तन का परिणाम है। यह अवश्य है कि अपने विमर्श प्रस्तुत करने में जयरथ ने काश्मीर में चन्द्रकला की भाँति विकास-शील अलंकारशास्त्र के अनेक ज्ञात और अज्ञात आचार्यों के चिन्तन-मनन से सहायता ली है। जयरथ मूलग्रन्थ के प्रतिपद व्याख्यान से अधिक विमर्श प्रस्तुत करने में रस लेते हैं। उदाहरणों के अक्षरार्थ की तो उन्होंने सदा उपेक्षा की ही है, हम लोगों के लिए कठिन पंक्तियों को भी संभवतः उन्हें सरल समझकर वे उपेक्षा कर देते हैं और अपने विमर्श प्रस्तुत करने में या विषय-विस्तार करने में लग जाते हैं। वस्तुतः टीकाकार की अपेक्षा जयरथ भाष्यकार अधिक हैं। इसीलिए उनकी टीका का नाम अलंकार-विमर्शिनी (जिसे आलंकारिक परम्परा केवल विमर्शिनी कहती आई है) अत्यंत उपयुक्त है। जयरथ के विमर्श सर्वथा नहीं तो अधिकांशतः ग्रन्थ से स्वतन्त्र, प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण हैं। इनमें से अनेक की चर्चा विशेषतः चतुर्थ अध्याय तथा सामान्यतः इस पूरे प्रबन्ध में की गई है। यहां उन कतिपय स्थलों का आकलन अप्रासंगिक न होगा जिनके सम्बन्ध में चर्चा अत्यन्त न्यून है या विशद नहीं हुई है।

(१) जयरथ के अनुसार लक्षणा में **'स्वसिद्धये पराक्षेपः'** नहीं होता

---

१. जैसे कि वि० पृ० ६, २०, २४, २८, ३४, ५०, ७०. ७२, ७५, ८८-६१, ६३, १०६, ११२, १३१, १४०, १५४, १६०, १६६, १७०, १७२ १८२, १८३, १८६, १८८-८६, १६२, १६६, २०८, २१०, २१५-१६ २२६, २३६, २४६, २५३-५४, २५६-७७।

है। लक्षणा में मुख्यार्थबाध होना आवश्यक है अतः स्वसिद्धि या वाच्यसिद्धि से तो लक्षणा के स्वरूप की ही हानि हो जाती है। अतः गम्यमान वस्तु को **'स्वसिद्धये पराक्षेपः'** तथा **'परार्थं स्वसमर्पणम्'** इन द्विविध प्रकारों में न बांट कर केवल अन्तिम भंगी में ही अन्तर्भूत करना चाहिए। प्रथम भंगी में अन्तर्भावित समस्त उदाहरणों की जयरथ के अनुसार वस्तुतः आक्षेप द्वारा व्याख्या की जा सकती है। रुय्यक द्वारा द्विविध भंगी का निर्देश केवल प्राचीन आचार्यों का अनुसरण मात्र (वि० पृ० ५-६) है।

(२) शब्द की प्रतीति अर्थ की प्रतीति से पूर्वभाविनी है। अतः शब्दालंकार का पहले और बाद में अर्थालंकार का वर्णन करना चाहिए। यही नहीं, शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि अप्रकृष्ट का पहले और प्रकृष्ट का बाद में वर्णन होना चाहिए—**वर्धमानोत्कर्षाणि शास्त्राणि प्रथन्ते।** शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकार में चमत्कार अधिक होता है। प्रथम का चमत्कार परिमिति है और अन्तिम का अपरिमित। अतः औचित्य की दृष्टि से पुनरुक्तवदाभास से (जिसे रुय्यक उद्भट के अनुसार अर्थालंकार मानते हैं) सर्वस्व का प्रारम्भ न कर किसी शब्दालंकार से होना चाहिए था। सर्वस्वकार ने पुनरुक्तवदाभास से ग्रन्थ का प्रारम्भ चिरन्तन उद्भट का अनुसरण करने के लिए किया है, जो अयुक्त है। और इसी प्रसंग में ही क्यों, अनेकत्र रुय्यक ने चिरन्तन मत का (जो विशेषतः उद्भट का है) भले ही वह अयुक्त हो, अनुसरण किया है। इन शब्दों में जयरथ ने रुय्यक की आलोचना कितने शालीन पर युक्तिपूर्ण शब्दों में की है—

> **चिरन्तनमतानुल्लंघनेन च वयं प्रवृत्ता इत्ययुक्तमपि ग्रन्थकृता तन्मतमाश्रितम्। अग्रेऽप्यनेनाशयेन तन्मताश्रयणं करिष्यत्येव।**
>
> —वि० पृ० १९-२०।

जयरथ ने यथास्थान इस 'चिरन्तनमतानुसृति' के निर्देश द्वारा जो आलोचना की है वह उन्हीं के अनुसार सयुक्तिक आलोचना है—

तेन वयं यच्चिरन्तनमताश्रयणं व्याख्यास्यामस्तद्युक्तमेव।—वि० पृ० २०

(३) जिस पौनरुक्त्य में शब्दार्थ तो वे ही रहें किन्तु केवल तात्पर्य बदल जाए उसे लाटानुप्रास कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि जहाँ केवल किसी शब्द के प्रकृत्यंश और उसके अर्थ की तो पुनरुक्ति है किन्तु प्रत्ययांश और उसके अर्थ की पुनरुक्ति नहीं है वहाँ लाटानुप्रास मानना चाहिए या नहीं? रुय्यक का उत्तर है मानना चाहिए। उनका कहना है कि लाटानुप्रास के लिए

'बहुतर-शब्दार्थ-पौनरुक्त्य' और तात्पर्यभेद पर्याप्त है। यह आवश्यक नहीं है कि पौनरुक्त्य आदि किसी शब्द के प्रकृति और प्रत्यय दोनों तथा उनके अर्थों का ही हो। इसी आधार पर रुय्यक **'अत्राब्जपत्रनयने नयने निमील्य'** में लाटानुप्रास मानते हैं। यहां प्रथम नयन शब्द बहुव्रीहि समास का अंग है। अतः उसकी विभक्ति, वचन तथा लिङ्ग द्वितीय नयन शब्द (द्वितीया द्विवचनान्त) से सर्वथा भिन्न हैं। अन्तिम स्वलिङ्गवचन-विभक्तिक[1] है और प्रथम परलिंग-वचनविभक्तिक। दूसरे शब्दों में इस उदाहरण में प्रकृति और उसके अर्थ की तो पुनरुक्ति है किन्तु प्रत्यय और उसके अर्थ की नहीं। पर जयरथ इस उदाहरण में लाटानुप्रास मानने को प्रस्तुत नहीं है। लाटानुप्रास में दो तत्त्व हैं। एक तो है पौनरुक्त्य और दूसरा है तात्पर्यभेद। प्रथम तत्त्व अन्य अनेक अलंकारों में रहता है, स्वभावतः द्वितीय तत्त्व को ही प्रस्तुत अलंकार का जीवातु तत्त्व मानना चाहिए अन्यथा केवल अनुप्रास और लाटानुप्रास में कोई अन्तर सिद्ध न हो सकेगा। इस आधार पर अब **'अत्राब्जपत्रनयने नयने निमील्य'** का विश्लेषण कीजिए। जहाँ तक द्वितीय नयन का सम्बन्ध है, वह 'आँख को' इस द्वितीया द्विवचनान्त वाच्य अर्थ को बताता है, इस प्रकार स्वार्थविश्रान्त है। उसमें तात्पर्य-भेद का प्रश्न ही नहीं। **'अत्राब्जपत्रनयने'** में बहुव्रीहि समास है। इसमें अन्य पदार्थ प्रधान होता है। दूसरे शब्दों में बहुव्रीहि समास में उपात्त शब्द संज्ञी को प्रधान बनाते हैं और स्वयं गौण रहते हैं। इस गुणी-भाव को दृष्टि में रखकर शोभाकर (अ० र० पृ० ३) ऐसे स्थलों में स्वार्थत्याग और परार्थवृत्तिता के आधार पर लक्षणा मानते हैं। पर क्या प्रथम नयन शब्द का यह गुणीभाव मुख्यार्थबाध है? बहुव्रीहि समास में उपात्त शब्दों की गौणता क्या किसी प्रयोजन या रूढ़ि के आधार पर होती है? स्पष्ट है कि इन प्रश्नों का उत्तर हाँ में नहीं दिया जा सकता है। संज्ञी का अभिधान करना—अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि समास में गौण बनना—मुख्यार्थबाध नहीं है। गुणीभाव का यह अर्थ नहीं है कि मुख्यार्थ अनुपपन्न हो या स्वविश्रान्त ही न हो।[2]

---

१. संजी० पृ० ३५।

२. गुणीभाव और मुख्यार्थबाध का भेद जयरथ के शब्दों में उल्लेखनीय है--
न च गुणीभावमुख्यार्थबाधयोरेकत्वम् सतो हि मुख्यार्थस्य कंचिदपेक्ष्य गुणीभावः, बाधः पुनः स्वस्मिन्नेवाविश्रान्तिरित्यनयोर्महान् भेदः।
—वि० पृ० २६।

मुख्यार्थ के उपपन्न और स्वविश्रान्त होने पर भी किसी दूसरे की प्रधानता को लेकर ही बहुव्रीहि समास के पद केवल गौण बन जाते हैं अतः '**अत्राब्जपत्रनयने**' के नयन पद में तात्पर्यभेद नहीं माना जा सकता है क्योंकि यहाँ लक्षणा की कोई सामग्री नहीं है जिसके आधार पर नयन शब्द का तात्पर्य लक्ष्यार्थ में माना जा सके । यही बात समास में आए अन्य उदाहरणों के लिए भी चरितार्थ होती है अतएव शोभाकर द्वारा उल्लिखित लाटानुप्रास के उदाहरण—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकारधरणिधरकीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥—अ० र० पृ० ५ ।

में लाटानुप्रास नहीं माना जा सकता है क्योंकि भले ही 'सितकर विभाकर' में या 'नयने नयने' में पौनरुक्त्य हो किन्तु तात्पर्यभेद न रहने के नाते इन्हें पौनरुक्त्य का ही उदाहरण मानना चाहिए लाटानुप्रास का नहीं । और समास में आए शब्द को केवल गुणीभाव के आधार पर लक्ष्यनिष्ठ मानना भी उचित नहीं है ।

(४) जयरथ के अनुसार छेकानुप्रास का अनुप्रास के सामान्य लक्षण में समावेश हो जाता है । अतः उसे वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास से भिन्न मानना उद्भट का (जो छेकानुप्रास को अतिरिक्त तीसरा अलंकार मानते हैं)।[1] अनुसरण मात्र है । जयरथ इस सम्बन्ध में भामह के अनुयायी हैं ।

रुय्यक ने विनोक्ति का लक्षण '**विना कंचिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः**' किया है ।[2] किंतु यह लक्षण केवल वास्तव का निबन्धन करता है और '**वास्तवं च नालंकारः**' यह जयरथ का ही नहीं रुय्यक का भी अभिमत है । इसके अतिरिक्त—

तस्याः शैत्यं विना ज्योत्स्ना पुष्पर्द्धिः सौरभं विना ।
विनोष्णत्वं च हुतभुक् त्वां विना प्रतिभासते ॥
—वि० पृ० १०६ ।

यह उदाहरण उपर्युक्त लक्षण के अनुसार विनोक्ति का नहीं हो सकता है । ज्योत्स्ना और शैत्य का, सौरभ और पुष्पश्री का तथा अग्नि और उष्णत्व का अविनाभाव सम्बन्ध है । अलंकारभाष्य के शब्दों में ये नित्यसम्बद्ध हैं । इस

१. देखिए—वि०पृ० २४ ।
२. अ० स० पृ० १०५ ।

नित्य-सम्बन्ध अथवा अविनाभाव का असम्बन्ध-वर्णन या विनाभाव का निबन्धन ही जयरथ के अनुसार विनोक्ति का लक्षण होना चाहिए । इस सम्बन्ध में जयरथ ने अलंकारभाष्यकार का अनुसरण किया है और रुय्यक ने प्राचीन आचार्यों का ।

ग्रन्थकृता पुनरियं चिरन्तनलक्षितत्वाल्लक्षिता । —वि० पृ० १०६ ।

यहां **'चिरंतन'** शब्द का प्रयोग किसके लिए हुआ है ? भामह से लेकर भोज तक कोई भी आलंकारिक विनोक्ति को नहीं मानता है । भले ही कुन्तक सहोक्ति का स्वरूप प्राचीन आचार्यों से भिन्न मानते हैं, किन्तु विनोक्ति की चर्चा उन्होंने भी नहीं की है । मम्मट संभवतः सर्वप्रथम आलंकारिक है जिन्होंने इस अलंकार का निरूपण किया है । रुय्यक और मम्मट के विनोक्ति-लक्षण समानार्थ हैं[1] । स्वभावतः **चिरन्तन** शब्द मम्मट के लिए ही आया है । अतः एक तो जयरथ रुय्यक के विनोक्ति-लक्षण से सहमत नहीं हैं । दूसरी बात यह भी संभव है कि विमर्शिनीकार विनोक्ति को एक पृथक् अलंकार ही न मानना चाहते हों; किन्तु इस पर उनका कथन संकेतमात्र है—

विनोक्तिकृतवैचित्र्याभावाच्छब्दमात्रयोगेनालंकारकल्पने हा धिगाद्युक्तावप्यलङ्कारत्वप्राप्तेश्च विनोक्त्यलङ्कारं न मन्यन्तेऽन्ये । सहार्थबलात् साम्यप्रतीतेः सहोक्तिस्तु युक्तैव ।—माणिक्यचन्द्र से उद्धरण का० प्र० (बम्बई), पृ० १९१ ।

पण्डितराज ने उन आचार्यों के मत का उल्लेख किया है जिनके अनुसार विनोक्ति स्वतः चमत्कारिणी नहीं होती है । दूसरे अलंकार के साथ ही यह अलंकार चारु प्रतीत होता है अतः इसे भिन्न अलंकार मानने में अधिक बल नहीं है—

अलंकारान्तरसमालिङ्गनाविर्भूतमेवास्या हृद्यत्वं न स्वतः । तेन अलंकारान्तरत्वमपि शिथिलमेवेत्यपि वदन्ति । —रसग० पृ० ३५६ ।

जयरथ ने सर्वस्व के **'अमिमरतिमलस'**[2] (९०), **'योगपट्टो जटाजालम्'**(९०) **'धावत्त्वदश्वपृतनापतितं'** (९१) **'साधूनामुपकर्तुम्'** (९३), **'अरण्यानी क्वेयम्'** (१६६) **'द्यौरत्र क्वचिदाश्रिता'** (१६९) तथा **'निमेषमपि यद्येकम्'** (१७२)

---

१. (क) **विना कंचिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः ।**—अ०स०पृ० १०५ ।
(ख) **विनोक्तिःसा विनान्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।**
—का०प्र० (पूना) पृ० ६७३ ।

२. **कोष्ठक की संख्या वि० के पृष्ठों की है ।**

आदि उदाहरणों को भी सदोष मानकर दूसरे उदाहरण दिए हैं। इस प्रकार अलंकार के स्वरूप, विभाग और उदाहरण सभी पर जयरथ ने आलोचनात्मक दृष्टि से लिखा है, इसीलिये उनकी टीका सचमुच विमर्शिनी है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व दोनों पर ही टीकाएँ (सम्भवतः थोड़े ही समय के अन्तर से) लिखी हैं—

> काव्यप्रकाशेऽलंकारसर्वस्वे च सचेतसाम्।
> अत्यादरो जगत्यस्मिन् व्याख्यातमुभयं सह ॥—संजी०

उनके अनुसार अलंकारमीमांसा के लिये अपेक्षित सूक्ष्मदृष्टि वही पा सकता है जिसने सर्वस्व तथा काव्यप्रकाश का सुपरिशीलन किया हो—

> सेयलंकारमीमांसासूक्ष्मेक्षिका तेषामेव गोचरा, यैरेवालंकारसर्वस्वं सुपरिशील्य विशेषाय काव्यप्रकाशहृदयं निर्ज्ञातम्।
> —सं० प्र० (द्वितीयभाग) पृ० २८६।

'होनहार बिरवान के हीत चीकने पात' की कहावत के अनुसार शैशव से ही श्रीचक्रवर्ती को प्रतिभा और वैदुष्य का वरदान मिला था। उनकी शैवागम में तो विशेष श्रद्धा थी, पर साथ ही उपनिषद्, पुराण, भरतशास्त्र, कामशास्त्र एवं षड्दर्शन का वैदुष्य तथा छह भाषाओं में कविता की शक्ति भी, उन्हीं के अनुसार, उन्हें प्राप्त थी।

> शैवं विष्णुनिबद्धमौपनिषदं साख्यं सपातञ्जलम्।
> शास्त्रं स्वात्महिताय वेद सकलैः साकं पुराणादिभिः॥
> भूपानां तु विनोदनाय भरतं नीतिं च वात्स्यायनं।
> षड्भाषाकवितां च लक्षणवतीं श्रीचक्रवर्ती कविः॥ —संजी०पृ० ५६।

जरत्तार्किकों से इनकी नहीं बनती थी। सांख्यदर्शन, शैवागम तथा प्राचीन काव्यों के प्रचार में इनका योग भूत की तरह उन नैयायिकों के सिर पर चढ़ कर बोलता था—

> सांख्यं वेश्मनि वेश्मनि श्रुतिशिरः कक्ष्यासु कक्ष्यासु च,
> द्वारि द्वारि शिवागमाः पथि पथि प्राचां कवीनां गिरः।
> पठ्यन्ते यदसूयभिर्जडतरप्रज्ञैर्जरत्तार्किकै—
> स्तत् सर्वं खलु चक्रवर्तिकवितुर्विद्यायशोडिण्डिमः ॥—वहीं

श्रीचक्रवर्ती ने अपनी आत्मश्लाघा में बहुत कुछ लिखा है। यह अनुचित होगा

यदि हम उनकी इस स्वात्मप्रशस्ति को संजीविनी से उद्धृत न करें। यह प्रशस्ति उपर्युक्त श्लोक का ही व्याख्यान है—

महाराजवीरवल्लालास्थानजुषां विदुषां हि प्रसादाशिषो हि मय्येताः प्रथन्ते। कास्ताः ? संस्कृतसार्वभौम प्राकृतपृथ्वीश्वर शौरसेनीशिरोमणे मागधीमकरध्वज पैशाचीपरमेश्वर अपभ्रंशराजहंस आलंकारिकचक्रवर्तिन् ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य सहजसर्वज्ञ परमयोगीश्वर शैववैष्णवयोगसांख्यप्रमुखसमस्तस्वात्मविद्यातत्त्वनित्यनिष्णात अश्रुताधिगतसमस्तविद्याकलाप अद्वैतविद्याविद्वेषिवनदावानल कलियुगस्कन्द अभिनवभट्टाचार्य वैदिकविद्याप्रतिष्ठापनपरमाचार्य, काव्यमीमांसाप्रभाकर वादिमृगेन्द्रवेश्याभुजङ्ग इत्याद्याः। महाराजहोसलराजकुलद्वारि प्रशस्तिशिलाशासनप्रतिष्ठापनात् प्रभृति वयमुपशान्तरभसाः। अत्र तु ग्रन्थे काव्यमीमांसानिकषवतां ममोपयान्तु वत्सलाः सचेतसः।—संजी० पृ०५६-५७।

संजीविनीकार ने अपनी अपूर्व प्रशस्ति लिख डाली है। यदि यह प्रशंसा किसी दूसरे आलोचक या साहित्यिक द्वारा होती तो इसका महत्त्व और भी अधिक होता। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि श्रीविद्याचक्रवर्ती को वैदुष्य और कवित्व दोनों ही मिला था। उन्होंने उस शक्ति और निपुणता का यथासम्भव उपयोग भी किया है और इसमें सन्देह नहीं वे सफल भी हैं, भले ही, हम उनकी आत्मप्रशस्ति का अक्षरशः अनुमोदन न कर सकें।

नाम

सर्वस्व तथा काव्यप्रकाश पर टीका लिखने वाले लेखक का पूरा नाम श्रीविद्याचक्रर्ती[1] है। उसने अपना उल्लेख श्रीचक्रवर्ती[2] और चक्रवर्ती के[3] रूप में

---

१. (अ) संजीविनीति टीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते।—संजी० पृ० १।
(ब) सम्यक् समापिता सेयं श्रीविद्याचक्रवर्तिना।
—सं० प्र० द्वितीय भाग, पृ० ४५०।

संजीविनी तथा सं० प्र० की पुष्पिकाओं में यही नाम आता है।

२. षड्भाषाकवितां च लक्षणवतीं श्रीचक्रवर्तीकविः।—संजी० पृष्ठ५६।

३. तत् सर्वं खलु चक्रवर्तिकवितुर्विद्यायशोडिण्डिमः।—वहीं।

भी किया है। मल्लिनाथ तथा दीक्षित ने चक्रवर्ती के रूप में इनका प्रायः उल्लेख किया है।[१] अलंकारसर्वस्व के टीकाकार के रूप में इन्हें संजीविनीकार[२] अलंकारसर्वस्वसंजीविनीकार[३] तथा सर्वस्वसंजीविनीकार[४] भी कहा जाता है। स्पष्ट है कि सर्वस्व के उपर्युक्त टीकाकार श्रीविद्याचक्रवर्ती न तो अलक हैं (जैसा कि श्री जैकोबी सोचते थे) और न परमानन्द चक्रवर्ती।

कृतियाँ

श्रीविद्याचक्रवर्ती की केवल दो कृतियाँ अभी तक प्रकाशित हुई हैं। एक है काव्यप्रकाश पर सम्प्रदायप्रकाशिनी नामक टीका[५] और दूसरी है विरूपाक्षपञ्चाशिका नामक शैवदर्शन के लघुकाय ग्रन्थ पर विवृति नाम से टीका।

संविस्सिद्धान्तसिद्धार्थसारसंग्रहरूपिणीम्।
पञ्चाशिकां विरूपाक्षप्रोक्तां व्याकुर्महे वयम्॥

समाप्तिपद्य के अनुसार इस विवृति को श्रीविद्याचक्रकर्ती ने गोविन्दचन्द्र नामक एक विद्वान् (जो संभवतः इनके गुरु हों) को समर्पित किया है।[६] इसका प्रकाशन अनन्तशयनम् संस्कृतग्रंथावलि, ग्रथांक ६ (सन् १९१६) के अन्तर्गत त्रिवेन्द्रम से हुआ है। उनकी अन्य कृतियों को टीकाग्रन्थ, शास्त्रीय स्वतंत्र ग्रंथ तथा काव्यग्रंथ इन तीनों कोटियों में विभाजित कर सकते हैं।

टीकाग्रन्थ

काव्यप्रकाश पर सम्प्रदायप्रकाशिनी एक विस्तृत, सारगर्भ तथा वैदुष्य-पूर्ण टीका है। इसी पर इन्होंने एक लघुकाय व्याख्यान भी लिखा था जिसे वे लघुटीका कहते हैं।[७] इसे उन्होंने बृहट्टीका के पूर्व ही लिखा था (जैसा कि नीचे दी हुई (२ख) पाद-टिप्पणी से ज्ञात होता है। लघुटीका में यद्यपि समा-

---

१. देखिए—रत्नापण, पृ० ५४, ३१६, ३७७, ३८७ ३८९,४५० तथा ४६५-६६, तरल, पृ०२२१, चित्रमी० पृ० ९।

२. तरल, पृ० २३७।

३. वहीं, पृ० ३१, ५७।

४. वहीं, पृ० २२१।

५. अनन्तशयनम् संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक १००, त्रिवेद्रम, सन् १९३०।

६. कृतेयं विवृतिर्लध्वी श्रीविद्याचक्रवर्तिना।
गोविन्दचन्द्रधीनाम्नि निकषे विनिवेशिता॥—विरूपाक्ष-पञ्चाशिका।

७. इस टीका के सम्बन्ध में दो संदर्भ हैं, वे इस प्रकार हैं :—

सत: विषय-विवेचन था पर अनेक विषयों का विवेचन बृहट्टीका से अधिक भी था जैसे कि "लक्षणा तेन षड्विधा" काव्यप्रकाश की इस कारिका का बृहट्टीका से भी अधिक विशद व्याख्यान उन्होंने अपनी इस लघुटीका में किया था।[1] यह विश्वास करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि लघुटीका, अलंकारसर्वस्व-निकृष्टार्थकारिका की भांति, पद्य में लिखी गई थी क्योंकि अर्वाचीन अलंकार-टीकाओं या अलंकारग्रंथों में लघुटीका के नाम से एक भी पद्य नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त टीका शब्द का प्रयोग भी इस बात का परिचायक है कि लघुटीका गद्य में लिखी गई थी। उनकी तीसरी टीका अलंकारसर्वस्व पर है। यह अभी तक अप्रकाशित रही है।[2] प्रस्तुत लेखक ने त्रिवेन्द्रम विश्वविद्यालय के पाण्डुलिपि-पुस्तकालय तथा मद्रास पुस्तकालय के अधिकारियों के अनुग्रह से संजीविनी तथा अलंकारसर्वस्व-निष्क्रार्थकारिका में से प्रत्येक की दो प्रतियां प्राप्त की हैं। त्रिवेन्द्रम की पाण्डुलिपि काफी शुद्ध है, पर मद्रास की त्रुटित, भंग और अपूर्ण। निष्कृष्टार्थ-कारिका में अलंकारसर्वस्व के मतों का श्लोकबद्ध संक्षेप है अतः सर्वस्व को समझने के लिए वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इस लेखक ने अपने प्रबन्ध में संजीविनी का यथासम्भव पूरा उपयोग किया है। संजीविनी के सारे सन्दर्भ मुझे प्राप्त इसी पाण्डुलिपि के हैं। सर्वस्व की इस टीका का नाम है तो केवल संजीविनी[3] पर इसका उल्लेख श्रीविद्या-

---

(क) अस्माभिः सम्प्रदायप्रकाशिन्यां काव्यप्रकाशबृहट्टीकायां वितत्य दर्शितं लघुटीकायां च यथोपयोगम्— —संजी पृ० ४०।

(ख) लक्षणाप्रघट्टकोऽयमस्माभिर्लघुटीकायां वितत्य विवेचित ···
—सं० प्र० (प्रथमभाग) पृ० ६२।

१. तरल पृ० ३१, ४७।

२. प्रस्तुत लेखक ने अलंकारसर्वस्व के आलोचनात्मक संपादन तथा अनुवाद के साथ संजीविनी की प्रकाशनार्थ पाण्डुलिपि तैयार की है। अलंकारसर्वस्व-संजीविनी के नाम से यह शीघ्र ही मोतीलाल बनारसीदास, जवाहरनगर, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हो रही है। (२९.९.१९६४)

३. (अ) संजीविनीति टीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते। —प्रारम्भपद्य।
(ब) टीकास्माभिः समुपरचिता तेन संजीविनीयम्॥ —समाप्तिपद्य।
(स) इस टीका की पुष्पिका है—(१) समाप्ता चेयं संजीविन्याख्यालंकार-सर्वस्वटीका—त्रिवेन्द्रम पाण्डुलिपि।
(द) तथा देखिए—रत्नापण, पृ० २६, ३२, १५२,२८३, तरल पृ० २२१।

चक्रवर्ती ने स्वयं तथा मल्लिनाथ आदि ने 'सर्वस्वसंजीविनी'[१] के रूप में भी स्पष्टता की दृष्टि से किया है। श्रीचक्रवर्ती तथा मल्लिनाथ इस टीका का सन्दर्भ अलंकारसर्वस्वसंजीविनी के नाम से भी देते हैं।[२] सरलता, गम्भीरता और ग्रन्थानुसारिता इस टीका की विशेषताएं हैं। टीकाकार की मौलिकता और विवेचनशक्ति का भी प्रमाण संजीविनी में मिलता है। निष्कृष्टार्थकारिका को हम श्रीचक्रवर्ती का चौथा टीका-ग्रन्थ मान सकते हैं। यह पद्यबद्ध है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है टीकाकार ने अलंकारसर्वस्व का निचोड़ इन पद्य-बद्ध कारिकाओं में रखा है। निष्कृष्टार्थ का अर्थ एक पाण्डुलिपि के अन्त में इस प्रकार दिया है—

अवान्तरविशेषनिर्व्यपेक्षो निष्कृष्टार्थः

और सचमुच ये कारिकाएं अलंकार के रुय्यक-सम्मत स्वरूप, उनका परस्पर विभाग तथा अलंकार के अनेक भेदों का निरूपण करती हैं। इनके अध्ययन और अवबोध के लिए संजीविनी की विशेष अपेक्षा भी नहीं है। कुमारस्वामी ने जो श्रीविद्याचक्रवर्ती का अनेकधा 'तातपादैः के रूप में स्मरण करते हैं, प्रताप-रुद्रयशोभूषण पर रत्नापण नामक अपनी टीका में संजीविनी के अतिरिक्त सर्वंकषा का भी उल्लेख किया है[३] सम्भव है कि सर्वंकषा काव्यशास्त्र या व्याकरण के किसी ग्रन्थ पर टीका हो पर अभी तक कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार श्रीचक्रवर्ती के टीकाग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. सम्प्रदायप्रकाशिनी—बृहट्टीका[४]
२. सम्प्रदायप्रकाशिनी—लघुटीका[५]
३. संजीविनी
४. अलंकारसर्वस्वनिकृष्टार्थकारिका अथवा निष्कृष्टार्थकारिका
५. सर्वंकषा[६]
६. विरूपाक्षपञ्चाशिकाविवृति

---

१. सं० प्र० पृ०, २८९, तरल, पृ० २२१।
२. देखिए सं० प्र० पृ० १९, तथा तरल, पृ० ३५ तथा ४७।
३. एतच्च संजीविनीसर्वङ्कषादावस्मृकदुक्तं तातपादैः।—रत्नापण,पृ० ३२।
४. संजी० में उद्धृत, पृ० २५, ३८, ४०, तथा २०८
५. सं० प्र० भाग १, पृ० ६२ तथा संजी० पृ० ४० पर उद्धृत।
६. रत्नापण, पृ० ३२।

स्वतन्त्र शास्त्रीय ग्रन्थ

प्रयोगदीपिका के नाम से पद्यबद्ध एक ग्रन्थ श्रीचक्रवर्ती ने व्याकरण सम्बन्धी विषयों पर लिखा था। इसका एक उद्धरण संजीविनी में प्राप्त होता है—

तेऽस्त्यर्था धातवो ज्ञेया य उदासीनकर्तृकाः।
विकुर्वाणप्रयुञ्जानकर्तृका भूक्रन्नर्थकाः॥ —संजी० पृ० ४०।

इसी तरह उन्होंने भरतनाटचशास्त्र के विषयों को भी समासतः श्लोकबद्ध किया था। इसका नाम उन्होंने भरतसंग्रह रखा था। भरत शब्द सामान्यतः नाटचशास्त्र के लिए आ सकता है अतः भरतसंग्रह नाम देखकर यह निर्णय कर लेना ठीक नहीं है कि भरत के नाटचशास्त्र का ही यह श्लोकबद्ध संक्षेप होगा। संजीविनी में उन्होंने इसी स्वरचित भरत-संग्रह से, 'न्यंचत्कुञ्चितमुखं' आदि श्लोक[२] में आए दृष्टिभेदों के वर्णन के प्रसंग में (बीच-बीच में व्याख्यान के साथ), उद्धरण दिए हैं।[३] व्याकरण पर प्रयोगदीपिका और नाटचशास्त्र पर भरतसंग्रह के अतिरिक्त श्रीविद्याचक्रवर्ती के नाम से संगीत-सम्बन्धी ग्रन्थ का उल्लेख भी मिलता है।

काव्यादिग्रन्थ

टीकाग्रन्थों तथा विभिन्न शास्त्रीय विषयों से सम्बन्धित स्वतन्त्र ग्रन्थों के अतिरिक्त श्रीविद्याचक्रवर्ती के नाम से रुक्मिणीकल्याण नामक एक काव्य का भी उल्लेख मिलता है।[४] अपने अनेक पद्यों का यथास्थान उल्लेख श्री चक्रवर्ती ने काव्यप्रकाशटीका[५] तथा अलंकारसर्वस्वटीका[६] में किया है। इनमें से

१. संजी० पृ० १८०-८१।

२. अ० स० पृ० २०१।

३. देखिए—लेखक द्वारा संपादित अलंकारसर्वस्व-संजीविनी।

४. देखिए Report on the working of the Peripatetic Party of the Government Oriental Manuscripts Library 1916-17-, 1918-19

५. सं० प्र० (भाग १), पृ० १४३ (भाग २) पृ० १३६, १३७, ३३८।

६. संजी० के प्रारंभ में ही रसादि के अनेक उदाहरण टीकाकार ने स्वरचित दिए हैं।

कुछ पद्य स्फुट हो सकते हैं और कुछ संभवतः किसी स्वरचित काव्यग्रन्थ से लिए गए थे। रुय्यक ने सर्वस्व की भूमिका में साहित्यशास्त्र का विहंगम आलोचन करते हुए जिन अनेक विषयों की चर्चा की है उन पर उन्होंने उदाहरण नहीं दिए हैं। इसके अतिरिक्त अलंकारों के अनेक भेदप्रभेदों के (जिनकी चर्चा की है अथवा नहीं) उदाहरण भी रुय्यक ने नहीं दिए हैं, ऐसे सभी स्थलों के लिए उपयुक्त श्लोकमय उदाहरणों का प्रणयन श्रीचक्रवर्ती ने किया है। संजीविनी के उपोद्घातपद्यों में वे स्वयं कहते हैं—

> उदाहरणशेषोऽत्र ध्वनौ ग्रन्थकृता कृतः।
> तदीयन्यायसम्पन्नैः स्वपद्यैः पूरयामि तत्॥—संजी० पृ० १।

श्रीचक्रवर्ती ने, सर्वस्व के भूमिका-भाग की टीका में विशेषतः, और वैसे यथाप्रकरण, ध्वनिदर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन किया है।[1] विमर्शिनी की व्याख्यापद्धति का एक अनूठापन ग्रन्थ में दिए हुए उदाहरणों की व्याख्या न करना है। किन्तु संजीविनी में समग्र उदाहरणों की व्याख्या तो है ही साथ ही विमर्शिनी की भांति इसमें अनेक विषयों के उदाहरण भी दिए गए हैं जिनमें से अनेक श्रीचक्रवर्ती की रचनाएँ हैं।[2] इस टीका की एक असाधारण विशेषता है—अनेक (और प्रायः सभी) लक्षणों का सूत्रार्थ रूप में संक्षेप जैसे कि—

(अ) स्वरव्यञ्जनात्मकस्य शब्दसमुदायस्य यत् तेनेव रूपेण पुनर्वचनं तद् यमनाद् यमकम्।

(ब) तयोः (उपमानोपमेययोः) यस्तुलितभेदाभेदांशः समानधर्माभिसंबन्धः स उपमालंकार इति सार्थः।

(स) विभावादिरभिव्यञ्जितो रत्यादिर्भावो रसः। तथा विभावानुभावसूचिताः व्यभिचारिणः। देवतादिविषया रतिश्च भावः। तावेवाविषयप्रवृत्तावाभासो। प्रयास्यदवस्था तु प्रशमः। एषां चतुर्णामुपनिबन्धे परिपाट्या रसवान्, प्रेयः, ऊर्जस्वी, समाहितमित्यलंकारा इति सूत्रार्थः।

---

१. ध्वनिदर्शनानुरक्ता सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्य टीका मे।
कवयः सचेतना अपि वितनुत साहित्यसाम्राज्यम्॥ —संजी० पृ० १।

२. ······स्वपद्यैः पूरयामि तत्। —वहीं।

अनेक स्थलों की व्याख्या अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण तथा मौलिक है। उपमालंकार, स्वभावोक्ति और भाविक[1] जैसे अलंकारों का सुन्दर व्याख्यान है, अलंकारों का रसानुसारी वर्गीकरण, उपमा-उत्प्रेक्षा, रूपक-परिणाम, श्लेष-रूपक, अनुमान-काव्यलिंग आदि का विषय-विभाग श्रीचक्रवर्ती के अलंकारों से सम्बन्धित परिनिष्ठित पाण्डित्य का परिचायक है। सर्वस्व का सार और स्फुटार्थ संजीविनी में है। रुय्यक के संक्षिप्त, गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण किन्तु कर्कश वाग्विस्तार की सूक्ष्म और स्फुट व्याख्या संजीविनी है—

सूक्ष्मामव्याकुलामत्र शास्त्रयुक्त्युपबृंहिताम्।
मीमांसामुपजीवन्तु कृतिनः काव्यतान्त्रिकाः॥

—संजी० (समाप्तिपद्य)

सम्प्रदायप्रकाशिनी के सम्बन्ध में निम्नांकित उक्ति इस टीका के बारे में भी चरितार्थ है—

नेह सन्तन्यतेऽस्माभिर्वृथा सन्दर्भडम्बरः॥
व्याख्येयवस्तुयाथात्म्यप्रकाशैकपरायणैः॥

—सं० प्र० (प्रथम भाग), पृ० २।

समुद्रबन्ध

अलंकारसर्वस्व के दाक्षिणात्य टीकाकार समुद्रबन्ध हैं। अनन्तशयनम् संस्कृतग्रन्थावली से इनकी टीका के दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इस टीका का विमर्शिनी या संजीविनी की भांति कोई विशेष नाम नहीं है। पुष्पिका के अनुसार इसे साधारणतया अलंकारसर्वस्व-व्याख्या कहा जा सकता है। समाप्तिपद्य के '**मंखुकनिबन्धविवृतौ विहितायामिह समुद्रबन्धेन**' के अनुसार इसे **विवृति** या इस टीका के सम्पादक के शब्दों में **वृत्ति** कह सकते हैं। समुद्रबन्ध की व्याख्या यद्यपि विमर्शिनी की भाँति गम्भीर या संजीविनी की भाँति प्रसन्न नहीं हैं पर इसके अपने अनेक गुण हैं। काव्य के विभिन्न प्रस्थानों का काव्य-लक्षण (विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्) के साथ समन्वयात्मक विवेचन, अनेक अलंकारों के विभागोपविभाग का (प्रायः मम्मट के अनुसार) निर्देश तथा उप-

---

१. **भाविके बुद्धिसम्वादो मया स्याद् यदि कस्यचित्।**
व्याख्याशिल्पस्य निकषः स मे धीमान् भविष्यति॥ —नि० का०।

युक्त उदाहरणों[1] का निर्माण, अनेक स्थलों के शास्त्रीय व्याख्यान, विभिन्न आलंकारिकों के मतों[2] का यथास्थान उल्लेख, सर्वस्व के सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण के भागों पर विभिन्न व्याख्यानों का संकलन तथा पर्यालोचन व्याख्यानकार की प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के प्रमाण हैं। व्याख्या में जिन विभिन्न पूर्वाचार्यों के सन्दर्भ हैं उनमें मम्मट तक के सभी परिचित आलंकारिक आ जाते हैं। जयरथ की विमर्शिनी में सर्वस्व के उदाहरणों का व्याख्यान नहीं है, अन्य अनेक उदाहरण बढ़ा अवश्य दिए गए हैं। संजीविनी में उदाहरणांश का व्याख्यान है पर अन्यत्र से उतना उदाहरणबाहुल्य नहीं है; समुद्रबन्धव्याख्या में मूलग्रन्थ के प्रायः सभी उदाहरणों का व्याख्यान है, साथ ही स्वचरित उदाहरणों से व्याख्यान को और भी उपयोगी बना दिया गया है। विमर्शिनी की भाषा का गाम्भीर्य और

---

१. समुद्रबन्ध ने यमक (पृ० १०-१६), उपमा (पृ० २२-२४), रूपक (पृ० ३४-३५), उल्लेख (पृ० ४५), दीपक (पृ० ७०), सहोक्ति (पृ० ८०-८१), शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष (पृ० १०४), अप्रस्तुतप्रशंसा (पृ० ११७), चतुर्विध जातिविरोध (पृ० १३६), अलंकारान्तरसंकीर्ण व्याजस्तुति (पृ० १४६), श्लिष्ट विचित्र (पृ० १५१), यथासंख्य (पृ० १६७), समुच्चय (पृ० १८१), तत्कर (पृ० १८४), अपह्नवमात्रपर्यवसायिनी व्याजस्तुति (पृ० १६६), भाविभाविक (पृ० २०५), उभयालंकार संसृष्टि(पृ० २१७), परिसंख्या और वृत्त्यनुप्रास-संकर के स्वरचित उदाहरणों का निर्माण करके उपबृंहण किया है।

२. समुद्र० पृ० ४८, ५८, ७६, १३३, १४६।

३. ग्रन्थार्थ के व्याख्यानान्तर की सूचना समुद्रबन्ध ने 'केचित्' 'अन्ये तु' 'अत्र केचिदाहुः' आदि के द्वारा दी है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्याख्यानान्तर के अनेक सन्दर्भ विमर्शिनी में प्राप्त नहीं होते हैं। स्वभावतः यह संभावना करनी पड़ती है कि या तो दक्षिण में अलंकारसर्वस्व के किसी दूसरी व्याख्या की कोई मौखिक परम्परा प्रचलित थी अथवा कोई टीका ही थी जो अभी तक उपलब्ध न हो सकी है। व्याख्यानान्तर के सन्दर्भ विशेषतः निम्न पृष्ठों पर उल्लेख्य हैं—पृ० २५-२७, ३७, ४३, ४४, ५१, ५३, ८६, १८६ तथा २२७।

४. अलंकारसर्वस्वव्याख्यायां स्मृतानि ग्रन्थान्तरवाक्यानि के अन्तर्गत सूची देखिए। ——समुद्र० परिशिष्ट पृ० १-५।

संजीविनी की भाषा की सरलता और सुबोधता समुन्द्रबन्द की व्याख्या में, पूरी तौर से न सही, मिलती हैं। इस प्रकार समुद्रबन्ध की व्याख्या नवीन पाठ-परम्परा तथा नवीन व्याख्यापरम्परा दोनों ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

समय

व्याख्या के उपोद्घात पद्यों के अनुसार केरल की कोलम्ब (किलोन) नगरी के यदुवंशीय नृपति रविवर्मा का, जिसका उपनाम संग्रामधीर था, समुद्र-बन्ध को अनुग्रह प्राप्त था। इस राजा की प्रशंसा में व्याख्याकार ने अपने सभी उदाहरणों का निर्माण किया है।[1] प्रद्युम्नाभ्युदय (अनन्तशयनम् संस्कृतग्रंथा-वली, ८) के उपोद्घात के अनुसार रविवर्मा का, जो संभवतः त्रावन्कोर के महाराज के पूर्वज थे, समय १२६५ ई० है। समुद्रबन्ध इसकी बुधपरिषद् के अलंकार थे। अतः इसका समय ईसा की १३ वीं शती के अन्तिम भाग से चतु-र्दश शतक के प्रथम चरण तक के बीच में माना जा सकता है।

व्याख्यानान्तर की संभावना

समुद्रबन्ध ने सर्वस्व के सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण इन तीनों ही अंशों की अनेक पंक्तियों के 'केचित्तु' 'अन्ये तु' आदि के रूप में किसी टीकाकार के (जो न तो जयरथ का है, और न चक्रवर्ती का) व्याख्यान का उल्लेख किया है। कतिपय स्थलों की चर्चा से हम यह सिद्ध करने का प्रयास करेंगे कि समुद्र-बन्ध द्वारा निर्दिष्ट ये व्याख्यानान्तर उनके अपने अथवा विमर्शिनी तथा संजी-विनी के नहीं हैं, और ये सन्दर्भ इस बात के निर्णायक प्रमाण हैं कि समुद्रबन्ध को किसी ऐसी टीका से परिचय है जो अभी तक प्राप्त न हो सकी है।

वाच्याभिप्रायेणात्र पूर्वरूपानुगमः। —अ० स०[2] पृ० २६।

विमर्शिनी के अनुसार उपर्युक्त उद्धरण के वाच्याभिप्राय का अर्थ है शाब्दी सादृश्य-प्रतीति और पूर्वरूप से अभिप्राय है सादृश्य। इस प्रकार जयरथ के अनुसार शाब्दी सादृश्य-प्रतीति के आधार पर अनन्वय को सादृश्याश्रित अलंकार के अंत-र्गत रखा गया है। संजीविनी के अनुसार पूर्वरूप का अर्थ है उपमेय, जिसकी

---

१. देखिए समुद्र० पृ० १७-१८, २२-२४, ३४-३५, ४५, ७०, ८१-८२, १०४, ११७, १३६, १४८, १५१, १६७, १८१, १८४, १९६, २०५, २१७ तथा २२६।

२. इस शीर्षक के अन्तर्गत अ० स० के समस्त सन्दर्भ त्रिवेंद्रम संस्करण के हैं; यदि उनका अन्यथा-निर्देश नहीं है।

वाच्याभिप्रायेण अर्थात् वाच्यार्थ को लेकर प्रतीत होती है। चक्रवर्ती के अनुसार अनन्वय (जैसे कि **अर्जुनः अर्जुनः इव**) में उपमेय का ज्ञान वाच्यार्थ से और उपमान का ज्ञान व्यंग्यार्थ को लेकर होता है। समुद्रबन्ध ने इस स्थल की जो व्याख्या की है वह जयरथ से प्रायः मिलती है। इसी पंक्ति की दूसरी आचार्य की व्याख्या भी उन्होंने उद्धृत की है—

> **अन्ये तु पूर्वमुपमानोपमेययोरेकतरप्रतिपादनायोपात्तस्य शब्दरूपस्य पर्यायव्यवच्छेदेन द्वितीयेऽप्यनुगमोऽनुवृत्तिः वाच्याभिप्रायेण वाच्यस्यार्जुनादेः शब्दभेदोपाधिकभेदप्रतिभासापनयनेन वास्तवस्यैकत्वस्य स्फुटप्रतिपत्तिमभिप्रेत्य क्रियत इति**—पृ० २६।

इस व्याख्या के अनुसार वाच्याभिप्राय का अर्थ है वास्तविक एकत्व, जिसकी दृष्टि से पूर्वरूप उपमेय या उपमानवाचक शब्द की अनुवृत्ति होती है। यह व्याख्यान न तो जयरथ का है, न चक्रवर्ती का और न समुद्रबन्ध का फिर 'अन्ये तु' से किसे समझा जाए?

उत्प्रेक्षाप्रकरण के **'असत्यत्वं .. अध्यवसितप्राधान्यम्'** की अपनी व्याख्या करने के बाद समुद्रबन्ध ने दूसरे आचार्य की टीका, अक्षरशः केवल तात्पर्य ही नहीं, उद्धृत की है।[२] यह ग्रन्थार्थ [और व्याख्यान के अक्षर] न विमर्शिनी में हैं, न संजीविनी में, फिर यह अक्षरशः व्याचक्षण किसका है?

समुद्रबन्ध ने इसी प्रकरण में आगे चलकर किसी दूसरे आचार्य के अनुसार **एषा चार्थाश्रयापि धर्मविषये श्लिष्टशब्दहेतुका क्वचित् दृश्यत इति। उदाह्रियते च प्रस्थे स्थितां हिमवतोऽपि ......सा शारदा नवसुभाषितकामधेनुः,** यह पाठ दिया है।[३] इस पाठ का है केवल गद्य भाग ही विमर्शिनी[४] और संजीविनी के अनुसार है सर्वस्वकार का उदाहरणांश तो इन टीकाओं के अनुसार सर्वस्व का है ही नहीं। समुद्रबन्ध स्वयं इस पूरे अंश को ग्रन्थकार के मत से विप्रतिपन्न समझते हैं—

धर्मस्य तु विषयत्वं ग्रन्थकारस्याभिमतमनभिमतं वेति चिन्त्यम्।—समुद्र० पृ० ५३। पर उन्होंने **'केचित्तु'** के रूप में गद्य-पद्य दोनों अंशों का व्याख्यान दिया है।[५]

---

१. समुद्र० पृ० ४६-५०।

२. वहीं, पृ० ५१।

३. वहीं, पृ० ५२-५३।

४. वि० पृ० ७३।

५. समुद्र० पृ० ५३-५४।

सम्भवतः यह किसी दूसरे आचार्य की व्याख्या है जो एक भिन्न पाठपरम्परा का अनुसरण करती है।

'मार्गितलब्धे बलात्कारचुम्बिते' आदि (पृ० ६२) पर रुय्यक की वृत्ति है—**अत्राभिन्नस्यापि प्रियाधररसस्य विषयविभागेन भेदोपनिबन्धः**—अ० सा० पृ० ६३। यह अतिशयोक्ति-प्रकरण की बात है। अगर विषयविभाग से भेद होने पर अतिशयोक्ति को मान लिया जाता है तो फिर उल्लेख का उससे अन्तर क्या होगा क्योंकि इसमें भी तो रुय्यक के ही शब्दों में **'विषयविभागेनानेकधात्वोट्टंकन'** होता है। इस पर समुद्रबन्ध ने दो अन्य व्याख्यानों का उल्लेख किया है। प्रथम के अनुसार (**केचिदाहुः**) अतिशयोक्ति में केवल भेद-मात्र का निर्देश होता है जबकि उल्लेख में (जैसेकि **'तपोवनमिति मुनिभिः संगीतशालेति लासकैः'** आदि उदाहरण में) विशेष का उपादान होता है। दूसरे व्याख्यान के अनुसार (**अन्ये तु**) अतिशयोक्ति में विषय-भेद अस्फुट रहता है जबकि उल्लेख में स्फुट।

'तत्र शब्दालंकाराः यमकादयः। अर्थालंकारा उपमादयः' सर्वस्व के इस वृत्तिभाग[२] में शब्दालंकारों में यमक और अर्थालंकारों में उपमा का उपादान किसी आचार्य (**अन्ये तु**) के मत से इसलिए किया गया है क्योंकि पहले में शब्दाश्रयता और दूसरे में अर्थाश्रयता स्फुट रहती है। **'उभयालंकारा लाटानुप्रासादयः'** के आदि पद से समुद्रबन्ध श्लिष्टपरम्परित का ग्रहण करते हैं तो उन्हीं के अनुसार कोई दूसरा आचार्य शब्दालंकार और अर्थालंकार की संसृष्टि का। समुद्रबन्ध ने केवल वृत्तिभाग पर ही व्याख्यानान्तर की सूचना नहीं दी है, अपितु सूत्रभाग पर भी अनेकधा व्याख्या-भेद का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए **'वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहनम्'** इस सूत्र के प्रथम पद में कोई आचार्य षष्ठी मानता है। इस पद में समुद्रबन्ध तो सम्बन्धसामान्य के अर्थ में षष्ठी मानते हैं किन्तु दूसरे व्याख्याकार (**अपरे**) कर्म में षष्ठी मानते हैं।

उदाहरणों में जैसे कि **'सच्छायाम्भोजवदना'** आदि (पृ० २७) में दूसरा व्याख्याकार वस्तुप्रतिवस्तुभाव मानता है; **'तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजम्'** आदि (पृ० २७) का दूसरी व्याख्या के अनुसार अन्वय दूसरे प्रकार से किया गया है,

---

१. समुद्र० पृ० ४३।
२. अ० अ० पृ० २२७।
३. समुद्र० पृ० २२७।

'युधिष्ठरः सत्यवचसि' आदि (पृ० ४४) में केवल उल्लेख की ही नहीं रूपक की भी विच्छित है, 'मदनगणनास्थाने लेख्यप्रपञ्चमुदञ्चयन्' आदि (पृ० ८८) में प्रकृतार्थ और अप्रकृतार्थ के विवेचन में समुद्रबन्ध से दूसरी व्याख्या का मत-भेद है, तर्कशास्त्र की वस्तु के समारोप के दो उदाहरण ('दशवक्त्रविवादे... तथा 'स्वपक्षलीलाललितैः' आदि उदाहरण, पृ० ९२) दूसरे आचार्य के मत के अनुसार इसलिए दिए गए हैं क्योंकि सर्वस्वकार को तर्क के दो भेद जल्प और वितण्डा के भिन्न उदाहरण देना अभिप्रेत था।

इस प्रकार समुद्रबन्ध द्वारा सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरणों पर दूसरे आचार्य की व्याख्या (जिससे प्रायः समुद्रबन्ध सहमत नहीं हैं और जो विमर्शिनी तथा संजीविनी में उपलब्ध नहीं होती है) का उल्लेख इस मत के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि विमर्शिनी, संजीविनी तथा समुद्रबन्धव्याख्या के अतिरिक्त एक और व्याख्या थी जिससे केवल समुद्रबन्ध ही परिचित है। बहुत संभव है कि इस टीका का लेखक दक्षिण का हो। यही कारण है कि काश्मीर के जयरथ तथा गुर्जर देश के श्रीचक्रवर्ती को उस टीका के सम्बन्ध में कुछ भी मालूम नहीं है।

जयरथ ने भी सर्वस्व के कतिपय स्थलों पर भिन्न व्याख्यान[1] की, जिनसे प्रायः वे सहमत नहीं है, सूचना दी है। कुछ स्थलों की चर्चा करने के बाद हम अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करेंगे।

(१) रुद्रटेन तु भावालंकारो द्विधैवोक्तः (अ० स० पृ० ६) में रुय्यक ने रुद्रटसम्मत भावालंकार के द्विविध भेदों[2] की चर्चा की है। जयरथ

---

१. देखिए—वि० पृ० ६, ७, ६५, ८०, १५४, २४५ आदि।

२. दो प्रकार के भावालंकार के क्रमशः लक्षण और उदाहरण हैं––

प्रथम का लक्षण—यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ॥
ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥
—काव्यालंकार, ७-३८-३९।

द्वितीय भावालंकार का लक्षण—
अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः॥

तथा समुद्रबन्ध की इस पर व्याख्या के अनुसार प्रथम भेद में व्यंग्य (वस्तु) वाच्य के प्रति गुणीभूत हो जाता है। तथा इसमें वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए प्रतीयमान अर्थ का आक्षेप होता है। इस प्रकार 'ग्रामतरुणं तरुण्या' आदि में वाच्यार्थ मुखमालिन्य है जो 'वञ्जुललतागृहे संकेतोऽकारि' इस प्रतीयमान वस्तु से अधिक चमत्कारी है। भावालंकार के द्वितीय भेद में व्यंग्य (वस्तुरूप-अर्थ) वाच्य के प्रति गुणीभूत नहीं होता है। दूसरे शब्दों में इसमें वाच्यार्थ का प्रतीयमान के प्रति समर्पण रहता है। चक्रवर्ती की व्याख्या इन दोनों से भिन्न है। इसके अनुसार आकारव्यंग्य तथा वाक्यव्यंग्य भावालंकार के ये दो भेद हैं। इसी स्थल की एक और इन सभी से भिन्न व्याख्यान की सूचना विमर्शिनी में खण्डनदृशा इस प्रकार है—

यत्त्वत्रान्यैर्भावैर्निर्वेदादिभिरुपलक्षितो वाच्यप्रतीयमानत्वेन द्विविधो भावालंकारो व्याख्यातस्तदुत्सूत्रमेव। —वि० पृ० ६।

इसके अनुसार भावालंकार में निर्वेदादि का निबन्धन होता है और वाच्य तथा प्रतीयमान के रूप में उसके दो भेद हैं। प्रेयोलंकार में व्यभिचारिभावों का प्रियतर आख्यान होता है तथा रुय्यक के अनुसार प्राचीन इसे भावालंकार कहते हैं—

एष एव च भावालंकारः —अ० स० पृ० २३०।

तथा— **भावालंकारः प्रेयोलंकारः** —संजी० पृ० ८।

भावालंकार और प्रेयान् के एक होने के कारण उपर्युक्त व्याख्यान का प्रथम अंश (निर्वेदादिभिरुपलक्षितो) विप्रतिपन्न नहीं है पर उसका वाच्य और प्रतीयमान के रूप में विभाजन न तो रुद्रट को ही सम्मत है, जिनके अनुसार भावालंकार वास्तव श्रेणी के अन्तर्गत रखा गया है तथा जिन्होंने वाच्य और व्यंग्य अलंकार के रूप में श्रेणीविभाग कहीं भी नहीं किया है, न यह रुय्यक को ही मान्य है। उनके प्रेयान् के भी उपर्युक्त भेद नहीं हैं। यह उत्सूत्र व्याख्यान सर्वस्व की पंक्ति का भी हो सकता है और काव्यालंकार के प्राकरणिक स्थल का भी।

उदाहरण— **एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह—**
मस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी,
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥

—वहीं ७।४०-४१, तथा संजी० पृ० ८।

२. रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलंकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः
—अ० स० पृ० ६-७।

इस पंक्ति के प्रथम आदि (तुल्ययोगितादि) पद से निदर्शना[1] और द्वितीय (उपमादि) से उपमेयोपमा का ग्रहण जयरथ ने किया हैं। वाच्य निदर्शना से प्रतीयमान उपमेयोपमा के उदाहरण के रूप में उन्होंने कालिदास का 'प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषं' आदि (वि० पृ० ७) श्लोक दिया है। प्रथम आदि पद की व्याख्या में कुछ आचार्य किसी अलंकार का नहीं अपितु वस्तु का ग्रहण करते हैं और इस प्रकार उनके अनुसार पूर्वोक्त उदाहरण में 'विप्रेक्षित' का उत्कर्ष गम्यमान वस्तु है जो वाच्य निदर्शना का उपस्कारक है[2]।

३. रुय्यक ने 'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलाम्' आदि (सर्वस्व पृ० ६४) को अपह्नुति का उदाहरण माना है। शोभाकर 'उत्प्रेक्षासामग्र्यभावे मन्ये शब्दप्रयोगो वितर्कमेव प्रतिपादयति' रुय्यक की इस मान्यता से सहमत हैं, इसलिए वे 'अवाप्तः प्रागल्भ्यम्' आदि में मन्ये शब्द का प्रयोग होने पर भी उसे अपह्नुति का उदाहरण मानते हैं[3]। किन्तु रुय्यक के 'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलाम्' आदि में शोभाकर ने अपह्नुति इसलिए नहीं मानी है क्योंकि उनके अनुसार इस श्लोक में शशकपक्ष का निराकरण (नो मां प्रति तथा) है और विरहिणी के कटाक्ष द्वारा पैदा किए गए 'व्रणकिण' का निश्चय है[4]। अतः उनके अनुसार यह अतिशयोक्ति का उदाहरण है। विमर्शिनीकार ने शोभाकर के इस अपूर्व विचारकौशल पर हंसी उड़ाने के बाद लिखा है—

एवमन्यैरत्रान्यत्र चोदाहरणादौ बहुप्रकारं स्खलितम् —वि० पृ० ६६

अलंकाररत्नाकर में विमर्शिनी का पूरा सन्दर्भ (अतश्च.........अतिशयोक्तिरेवेति मन्यन्ते) अक्षरक्षः मिल जाता है, स्वभावतः 'अन्य' पद का प्रयोग जयरथ ने व्याख्याकार के लिए नहीं अपितु दूसरे ग्रन्थकार के लिए किया है।

---

१. समुद्रबन्ध ने प्रथम आदि पद से परिणाम और सहोक्ति का ग्रहण किया है। उपमादि का आदि पद त्रिवेन्द्रम संस्करण में है ही नहीं। व्याख्या में भी उसका प्रतीकोपादान नहीं है।

२. तेन पूर्वत्र यदादिग्रहणं सफलयितुमन्यैरेतदुदाहृतम् तदयुक्तमेव तत्र वस्तुमात्रस्य वाच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्। —वि० पृ० ७।

३. अ० र० पृ० ४१।

४. वहीं, पृ० ५२।

४. **न च विषयस्य गम्यमानत्वं युक्तम्**—सर्वस्व पृ० ८०-८१ के 'विषयस्य' की व्याख्या किसी ने 'निगीर्यमाणस्य विषयस्य' की थी[1] जबकि जयरथ के अनुसार विषय शब्द से धर्मी समझना चाहिए जो निगीर्यमाण तथा उत्प्रेक्ष्यमाण धर्म का आश्रय होता है '**लिम्पतीव तमोऽङ्गानि**' आदि के विवेचन में शोभाकर ने जो विचार प्रस्तुत किया है उसमें '**निगीर्यमाणस्य विषयस्य**' इस व्याख्या के लिए आधार है[2]।

५. आक्षेपालंकार (द्वितीय) के अन्त में निर्णयसागर का पाठ है—

तस्मादयमपि प्रकार आक्षेपस्य समानन्यायतयाऽभिनवत्वेनोक्तः। इस पाठ के अभिनवत्वेन से क्या समझा जाए? क्या इस अलंकार का उद्भावक रुय्यक (ग्रंथकृत्) है? जयरथ का कथन है कि यद्यपि दण्डी आदि आचार्यों ने इसका निरूपण नहीं किया था किन्तु रुय्यक से पूर्ववर्ती भोज ने इसका लक्षण किया हैं अतः इसका उद्भावक सर्वस्वकार को नहीं मानना चाहिए—

न पुनर्ग्रन्थकृदुपज्ञत्वेनैतत् व्याख्येयम्

यहाँ '**व्याख्येयम्**' पद केवल सम्भावित अभिमत का पूर्व-निषेध करता है। वह किसी दूसरी व्याख्या का निश्चयतः सूचक नहीं है।

उपर्युक्त कतिपय स्थलों पर व्याख्याभेद के उल्लेख से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि जयरथ से पूर्व सर्वस्व पर कोई व्याख्या थी। अधिक सम्भव यही है कि अलंकारसार तथा अलंकारभाष्य (जो अभी भी उपलब्ध नहीं है) तथा अलंकाररत्नाकर में सर्वस्व की जो आलोचना थी उसी को लेकर '**अन्ये तु**' आदि के रूप में जयरथ ने टीकाकार की नहीं अपितु दूसरे ग्रन्थकार की विमति का उल्लेख किया है। अलंकाररत्नाकर में सर्वस्व के सूत्र, वृत्ति और उदाहरण तीनों ही अंगों से उल्लेखपूर्वक अनेकत्र आलोचना मिलती है। अलंकारभाष्य में अलंकारों के उदाहरण के निर्माण और संकलन में सर्वस्व की ग्रन्थप्रक्रिया का अनुसरण और साथ ही अनेकत्र मतभेद भी था अतः यह निर्णय

---

१. **विषयस्येति–निगीर्यमाणोत्प्रेक्ष्यमाणयोर्धर्मयोर्भित्तिभूतस्य धर्मिण इत्यर्थः। न तु निगीर्यमाणस्येति व्याख्येयम्।**—वि० पृ० ८०।

२. **देखिए**—अ० र० पृ० ४९-५०।

३. **त्रिवेन्द्रम संस्करण का पाठ है–समानन्यायतया विधानबलेनोक्तः।**
—अ० स० पृ० १३४।

४. वि० पृ० १५४।

युक्तिहीन न होगा कि वस्तुतः जयरथ जहां कहीं भी भिन्न व्याख्यान का उल्लेख करते हैं वह वस्तुतः रुय्यक के टीकाकार का न होकर किसी दूसरे ग्रंथकार का है। वह व्याख्याभेद न होकर मतभेद है। समुद्रबन्ध के सन्दर्भों में मतभेद नहीं अपितु व्याख्याभेद है। अस्तु, जयरथ के बाद तथा समुद्रबन्ध से पूर्व किसी ऐसी सर्वस्वव्याख्या का अस्तित्व था जिसका प्रचार दक्षिण में था पर जिससे जयरथ और चक्रवर्ती का परिचय नहीं है, इस सम्भावना के लिये पर्याप्त आधार शेष है।

द्वितीय अध्याय

अलंकार तथा अलंकार्य

संस्कृत के समीक्षाशास्त्र का प्रारम्भकाल नियत कर पाना कठिन है। ऋग्वेद की भाषा में उपमा, रूपक, यमक जैसे अलंकारों का अविरल प्रयोग है[1] तथा उपमा[2] और अरंकृताः पदों का व्यवहार है। किन्तु वैदिक भाषा की आलंकारिक शैली तथा कतिपय आलंकारिक शब्दों के प्रयोग से अलंकार-शास्त्र की प्राचीनता का प्रमाण देना उसी प्रकार होगा जैसे कि भाषा के व्याकरणसम्मत प्रयोग को देखकर व्याकरण को भाषा की अपेक्षा प्राचीन बताना। वेदांगों में से निरुक्त और व्याकरण अलंकारशास्त्र के प्रमुख उपकारक ही क्यों, एक अर्थ में जनक भी हैं। कालान्तर में राजशेखर ने तो अलंकार को सप्तम वेदांग माना है।[4] आचार्य गार्ग्य, यास्क, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि ने सामान्य या पारिभाषिक अर्थ को लेकर उपमा का विवेचन किया है। अलंकारसम्बन्धी कतिपय पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी पाणिनि के सूत्र, कात्यायन की वार्तिक और पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है। इससे इतना ही कहा जा सकता है कि अलंकारशास्त्र को व्यवस्थित तथा स्वतन्त्र रूप युगों के चिन्तन-मनन के बाद मिला पर इससे पूर्व अलंकार और अलंकार से भी पहिले उपमा (सादृश्य) का प्रकल्प प्रतिष्ठित हो चुका था।[5]

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए—Similies in Sanskrit Literature.

२. सहस्रसामाग्निवेशिं गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः

—ऋग्वेद ५. ३. ३४. ९।

३. वायवा याहि दर्शते मे सोमा अरंकृताः। —ऋग्वेद १. १. २. ।

४. उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगमिति यायावरीयः।

५. साहित्यशास्त्र के प्रारम्भ के लिए देखिए—का० मी०, संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ४-२२, तथा उपमा के इतिहास तथा महत्त्व और विभिन्न शास्त्रों (व्याकरण आदि) के योगदान के लिए देखिए—प्रो० वी० एस० सोवानी का लेख—History and Significance of upama

—Annals B. O. R. I. 1919-20, pp. 87-98.

अलंकार की दृष्टि से, अलंकारशास्त्र का प्रारम्भ भरत के नाट्यशास्त्र (५०० ई०) से पूर्व न भी माने (यद्यपि उनके द्वारा नाट्य-संश्रय अलंकारों का वर्णन और नाट्यशास्त्र की परम्परा की प्राचीनता पूर्व तिथि के लिए प्रर्याप्त आधार होगा) तो भी भामह (षष्ठ शतक) से पूर्व अलंकारसम्प्रदाय का विधिवत् आरम्भ मानना प्रमाणसंगत होगा, क्योंकि भामह ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का **अन्यैः**, **कैश्चिद्**, **अपरे**, **केचित्** आदि पदों से परोक्षतः तथा रामशर्माच्युत, मेधाविन्, राजमित्र, अच्युतोत्तर, शारवावर्धन आदि नामों से प्रत्यक्ष उल्लेख किया है। अलंकारसम्प्रदाय की प्राचीनता का आभास इसी से हो सकता है कि हमारे समीक्षाशास्त्र की एक पुराण और प्रसिद्ध संज्ञा इसी के नामानुरूप अलंकारशास्त्र है।

भामह से लेकर जगन्नाथ (१८ वीं शती) तक अलंकार-मीमांसा की सरिता अविरत बहती आ रही है। आज भी उसका जल सूखा नहीं है, भले ही प्रवाह में वह गति और गहराई नहीं है जो प्रमुख रूप से रुय्यक के समय तक और सामान्यतया जगन्नाथ तक प्राप्त होती है। लगभग १२००० वर्षों तक फैले हुए इस सुदीर्घ काल के अलंकारशास्त्र का विभाजन, आधुनिक इतिहासकार[1], युगान्तरकारी आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद को विभाजिका रेखा मान कर, तीन कालों में करते हैं—(१) ध्वनिपूर्वकाल, (२) ध्वनि काल तथा (३) ध्वन्युत्तरकाल। प्रायः इसी आधार पर अलंकारमीमांसा की दृष्टि से समय और लेखक के अनुसार इस प्रकार श्रेणीविभाग कर सकते हैं—

१. भामह से आनन्दवर्धन तक अथवा ईसा के षष्ठ शतक से नवम शतक तक।

२. आनन्दवर्धन से मम्मट-रुय्यक तक अथवा नवम शतक से द्वादश शतक तक।

३. मम्मट-रुय्यक से दीक्षित-जगन्नाथ तक अथवा द्वादश शतक से १७ वीं शती के अन्तिम भाग या अष्टादश शतक के प्रारम्भ तक।

आनन्दवर्धन से पूर्व भामह, दण्डी तथा वामन की अलंकारमीमांसा मौलिक है। साथ ही वह ध्वनितत्त्व को अन्तर्भूत करती है। आनन्दवर्धन के बाद मम्मट-रुय्यक तक न केवल अलंकारों का स्वरूप-निर्धारण और विकास हुआ अपितु

---

१. देखिए—संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ३२८-२९।

ध्वनिवाद की छाया में अलंकार का स्थान भी निश्चित करना पड़ा। मम्मट-रुय्यक के बाद दीक्षित-जगन्नाथ तक छोटे मोटे भेद या अभेद को लेकर अलंकारों की संख्या घटाई या बढ़ाई गई। अलंकारविशेष के लक्षणों को लेकर झगड़ा हुआ पर अलंकार-चिन्तन की दृष्टि से यह काल मौलिक और सूक्ष्म चिन्तन का उतना नहीं जितना कि शास्त्रार्थ और केशाकर्षण का है। इस काल के कुछ लेखक आकर्षक अपवाद भी हैं जैसेकि पण्डितराज जगन्नाथ, जिन्होंने अलंकार-मीमांसा करते हुए न केवल पूर्वाचार्यों के अभिमत का चिन्तन-मनन किया है अपितु अनेकत्र मौलिक विचार भी प्रस्तुत किए हैं। अलंकारमीमांसा का यह श्रेणीविभाग कालक्रम के निर्धारण की दृष्टि से तथा विभिन्न आचार्यों के अनुसार अलंकारचिन्तन की दृष्टि से उपादेय है। विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक अध्ययन में आचार्यानुसारी इसी कालक्रम को दृष्टि में रखा गया है।

संस्कृत समीक्षाशास्त्र के ६ सम्प्रदाय माने[1] जाते हैं—

१—रससम्प्रदाय, २—अलंकारसम्प्रदाय, ३—रीतिसम्प्रदाय, (गुण-सम्प्रदाय इससे भिन्न नहीं है) ४—ध्वनिसम्प्रदाय, ५—वक्रोक्तिसम्प्रदाय तथा ६—औचित्यसम्प्रदाय।[2]

इन सम्प्रदायों का उद्भावक या प्रमुख आचार्य क्रमशः भरत, भामह उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा क्षेमेन्द्र को माना जाता है। समुद्रबन्ध ने काव्य के स्वरूपनिर्धारण में इन विभिन्न सम्प्रदायों का स्पष्ट संकेत किया

---

१. द्रष्टव्य—(क) प्रो० सोवानी का लेख Bhandarkar Commemoration Volume, P. 387 F.

(ख) संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार, पृ० १६

(ग) भारतीय साहित्यशास्त्र—बलदेव उपाध्याय, पृ० १८-२७।

२. सम्प्रदाय शब्द के स्थान पर वाद, प्रस्थान और सिद्धान्त शब्द का भी प्रयोग प्रचलित है।

३. (क) अलंकारतन्त्रप्रजापतिभिर्भामहोद्भटप्रभृतिभिः।

—व्य० वि० व्या० (काशी) पृ० १८।

(ख) इह हि भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः।

—अ० स० पृ० ३।

है। उनके अनुसार काव्य का सामान्य लक्षण है—**विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्।**[1] शब्दार्थ का यह वैशिष्ट्य प्रथमतः तीन प्रकार से हो सकता है—धर्म से, व्यापार से तथा व्यंग्य से—

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम् इति पंचसु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचम आनन्दवर्धनेन। —समुद्र० पृ० ३-४।

इस त्रिविध पक्ष में प्रथम धर्ममूलक वैशिष्ट्य नित्य और अनित्य रूप में दो प्रकार का है। वामनादि आचार्य गुण को काव्य का नित्य धर्म तथा अलंकार को अनित्य धर्म मानते हैं। नित्य धर्म का अभिप्राय गुण से है और अनित्य धर्म का अलंकार से। इस प्रकार धर्ममूलक शब्दार्थवैशिष्ट्य को लेकर अलंकारसम्प्रदाय तथा रीतिसम्प्रदाय का परिगणन होता है। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है। आचार्य कुन्तक काव्य में भणितिभंगी को प्रधान मानते हैं। यह वक्रोक्तिसम्प्रदाय है। आचार्य भट्टनायक अभिधा, भावना तथा भोग नामक तीन व्यापारों में रसचर्वणारूप अन्तिम व्यापार को प्रधान मानते हैं[2]। आनन्दवर्धन के पूर्व रसानुभूति की व्याख्या भट्टनायक का सिद्धान्त ही, शंकुक आदि आचार्यों के मत की अपेक्षा, अधिक युक्तिसंगत रूप में कर पाता था। सम्भवतः यही कारण है कि समुद्रबन्ध ने इस सम्प्रदाय का संकेत भोग-व्यापारवादी भट्टनायक के आधार पर किया है। व्यंग्यमुखेन शब्दार्थ-वैशिष्ट्य की व्याख्या आचार्य आनन्दवर्धन ने की है। अतः इस अन्तिम मत से आनन्द के ध्वनिसम्प्रदाय का संकेत अभिप्रेत है। सहित शब्दार्थ के सौन्दर्य की अथवा किसी कविता को पढ़कर या सुनकर कोई सहृदय क्यों झूम उठता है, क्यों रसविभोर हो जाता है, इसी की शास्त्रीय शब्दों में व्याख्या समीक्षाशास्त्र के ये विभिन्न सम्प्रदाय करते हैं।

इतने ही क्यों; महिमभट्ट का अनुमितिवाद भी शास्त्रीय साहित्य-चिन्तना

---

१. समुद्र० पृ० ३।

२. **तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयांगीकृतः।**
—अ० स० पृ० ११।

का एक और प्रकार है। काव्यसौन्दर्य या वैशिष्ट्य की व्याख्या का यह भी एक पक्ष, प्रस्थान या सम्प्रदाय है। यह उसका दुर्भाग्य है कि ध्वनिसम्प्रदाय के राज्याभिषेक के बाद उसका जन्म हुआ। फिर भला सर्वस्वकार स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में क्योंकर मान्यता देते।

व्यक्तिविवेककाराभिमतस्त्वनुमानपक्षः सिद्धान्तप्रदर्शनसमनन्तरं विचारासहत्वेन दूषितत्वाद् मंखुकस्य पूर्वपक्षत्वेनाप्यनभिमत इत्याहुः।

—समुद्र० पृ० ४।

प्रस्तुत लेखक न तो समुद्रबन्ध के पक्षपंचक (अलंकार-गुण-भणितिवैचित्र्य-भोग-व्यंग्य) के आधारों (धर्ममूलक, व्यापारमूलक तथा व्यंग्यमूलक) से सहमत है और न अधुनातन विद्वानों द्वारा संस्कृत साहित्यशास्त्र के छः या (गुणसम्प्रदाय को अलग मानकर) सात सम्प्रदायों में विभाजन से। समुद्रबन्ध का वर्गीकरण स्पष्टतः सदोष है। उनके त्रिविध आधारों में अन्तिम दो आधार व्यापारमूलक तथा व्यंग्यमूलक हैं। जिस प्रकार भणिति तथा भोग व्यापार कहलाते हैं व्यंजना भी उसी प्रकार एक व्यापार है फिर व्यंग्यमूलक को एक विभिन्न आधार मानने की क्या आवश्यकता है[१]? कुन्तक वक्रोक्ति—**'विचित्रैवाभिधा'**—को अलंकार्य शब्दार्थ का अलंकार[२] मानते हैं। अलंकार प्रस्थान के प्रथम आचार्य भामह के वक्रोक्तिमत का ही प्रतिष्ठापन कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिसम्प्रदाय में किया है फिर क्यों न इनके मत को अलंकारपक्ष (धर्ममूलक श्रेणी) के अन्तर्गत रखा जाए? इस प्रकार समुद्रबन्ध का वर्गीकरण भले ही विभिन्न दृष्टिकोण जानने के लिए उपकारक हो पर निश्चित ही वह निर्दोष या वैज्ञानिक नहीं है।

किसी भी देश की चिन्तनसरणि का विकास, भले ही वह विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित हो, एक समन्वित ऐकात्म्य को लेकर चलता है। किसी भी देशविशेष के चिन्तन का एक सन्तुलित क्रम होता है जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न नामरूप लेकर होती है। परिधान का कितना भी अन्तर क्यों न हो पर सूक्ष्म-द्रष्टा उस चिन्तनवैविध्य में अन्विति का दर्शन कर लेता है। भारतीय दर्शन का इतिहास अनेकता में से एक के अनुसंधान को परिलक्षित करता है। यदि कतिपय दार्शनिक अनात्मरूप पदार्थवैविध्य का विवेचन करते हैं तो अनेक आत्मा और ब्रह्म की एकता बताते हुए नामरूपात्मक प्रपञ्च को ब्रह्म का विवर्त बताते

---

१. संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ३३९।

४. उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते ॥ —व० जी० १, १०।

हैं। शैव दार्शनिक समग्र विश्व को परमशिव का आभास घोषित करते हैं, जो वेदान्ती की भाँति मिथ्या न होकर सत्य तथा चिरन्तन है। यहां के धार्मिक चिन्तन का दार्शनिक चिन्तनधारा से सदा सौभ्रात्र रहा है। भारतीय ऋषि प्रारम्भ में अनेक देवताओं का यशोगान किया करता था। आगे चलकर उसने देवों के स्थान पर एक ईश्वर की प्रभुता स्वीकार की तथा अन्त में अपने को ईश्वर का अंश मानकर उससे एकरूपता स्थापित की। भारतीय धर्म तथा दर्शन की इन चिन्तनसरणियों को विविधता से एकता तथा बाह्य-वृत्तिता से अन्तःवृत्तिता का अनुसंधान माना जा सकता है। संस्कृत के कतिपय कवि जैसे वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और अमरुक के काव्य, रससमाहित होने के कारण अन्तर्मुखी चेतना को प्रतिबिम्बित करते हैं तो माघ, भारवि और श्रीहर्ष के काव्य का प्रधान स्वर बहिर्मुखी चेतना का है। साहित्यस्रष्टा की भांति साहित्यालोचक ने भी अलंकार (इस शब्द की धर्म के देव अर्थात् 'शोभाकर' इस अर्थ से कितनी समता है), गुण आदि काव्य के अनेक उपस्कारों से परिचय तथा उनके विवेचन के बाद ध्वनि के आत्मत्व का प्रतिपादन किया। दार्शनिक की भांति समीक्षक ने भी उसे आत्मा कहकर पुकारा। ध्वनि के त्रिविध अंगों में से वस्तु और अलंकार की अपेक्षा रस को उसने प्रधान माना। दार्शनिक का ब्रह्म रस है **'रसो वै सः'**, साहित्यिक का रस ब्रह्म है 'रसो वै सः'।

रस को ब्रह्म का सहोदर बताने वाले अथवा आवरणहीन चित् से रस का तादात्म्य स्थापित करने वाले आचार्य रसानुभूति का सम्बन्ध संविद् की आनन्दमय अवस्था से ही स्थापित करना चाहते हैं। इस देश के दर्शन का मूल स्वर समग्र प्रपंच की अद्वैत में चरम विश्रान्ति प्रतिपादित करने का रहा है। यह चरमावस्था जड़ नहीं है इसीलिए वेदान्ती ब्रह्म को 'ज्ञान' या चेतन कहता है, काश्मीर के शैव दार्शनिक उस परतत्त्व को **संवित्, चिति, चैतन्य, शिव** आदि नाम से प्रतिपादित करते हैं। रसानुभूति जड़ न होकर चेतन है और चेतन होने के साथ ही वह आनन्दमयी भी है, इसलिए भी उसकी उपमा ब्रह्म से दी जाती है। ब्रह्म चेतन भी है और आनन्द भी। यह अवश्य है कि रस की चेतना और आनन्द परम चिति की चेतना और आनन्द से गुण और मात्रा में भिन्न हैं। अचेतन प्रकृति की वृत्तियों द्वारा निष्पन्न होने के कारण तथा ऐन्द्रिय आनन्द और विषयता के सूक्ष्म संस्पर्श से प्रभावित होने के कारण चेतन और आनन्दमयी रसानुभूति, निश्चय ही, परा संवित् का साक्षात्कार नहीं है। शैव दार्शनिक इसीलिए इसे शिवानुभूति न कहकर **चमत्कार** की अनुभूति कहते हैं।

दार्शनिक, जैसे कि वेदान्ती का ब्रह्म अनिर्वचनीय है। भाषा उसे बता नहीं सकती, उसका संकेत भर कर सकती है। काव्यात्मा (ध्वनि) भी एक अर्थ में अनिर्वचनीय है, अभिधा उसका वर्णन नहीं कर सकती, लक्षणा से उसे लक्षित करना सम्भव नहीं है। उसका केवल सूचन, ध्वनन या द्योतन हो सकता है, वर्णन या अभिधान नहीं।

काव्य के लक्षणों पर भी इस देश के दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव है। भामह से लेकर जगन्नाथ तक शब्द और अर्थ को दृष्टि में रखकर काव्य की जो परिभाषाएं दी गई हैं उन्हें दो कोटि में रख सकते हैं। एक शब्दार्थ-साहित्य-परक है, दूसरी शब्दप्राधान्यपरक। उदाहरण के लिए भामह की काव्य-परिभाषा **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** इसी कोटि की है। कालिदास ने शिव-शक्ति के 'सम्पर्क' की उपमा वागर्थ की सम्पृक्ति से दी है,[1] काश्मीर के शैव-दार्शनिक शिव और शक्ति का प्रकाश और विमर्श की भांति, सनातन सम्बन्ध मानते हैं।[2] नन्दिकेश्वर ने शिव-शक्ति के इस सनातन सम्बन्ध को चन्द्र और चन्द्रिका तथा वाक् और अर्थ की उपमा दी थी—

चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वत् यथा वागर्थयोरिव।

उपनिषद् के ऋषि ने भी इसी उपमान को आर्ष वाणी प्रदान की थी—

रुद्रोऽर्थोऽक्षरस्सोमा तस्मै तस्यै नमो नमः।

इस प्रकार शब्दार्थ की सहभावपरक काव्यपरिभाषा उस तत्त्वचिन्तन से प्रभावित है जो शब्द और अर्थ का शिव और शक्ति में उपमान पाती आ रही है।

दूसरी कोटि की काव्यपरिभाषा शब्द को प्रधान मानती है और अर्थ को अवच्छेदक। दण्डी के **'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'** (जिसमें पदावली से अन्ततः शब्द को समझना पड़ेगा) तथा जगन्नाथ के **'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** इन और इसी प्रकार के अनेक काव्यलक्षणों का स्वारस्य शब्द को प्रधान मानने तथा अर्थ को उपाधि या अवच्छेदक मानने का है। वैयाकरण-दार्शनिक भर्तृहरि के अनुसार शब्द ब्रह्म है, वही एकमात्र

---

१. **वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ —रघुवंश १, १।

२. **शक्तिश्च शक्तिमद्रूपात् व्यतिरेकं न वाञ्छति।**
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव॥ —बोधपंचदशिका, श्लोक ३।

परम तत्त्व है, अनादि अनन्त और अव्यय। सृष्टि की प्रक्रिया वस्तुतः उसी शब्दब्रह्म का अर्थात्मा विवर्त है[1]। वेद में शब्द की प्रधानता है। शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद है। भर्तृहरि के अनुसार वही शब्द-वेद परम तत्त्व है। शब्दात्मा वेद से ही समग्र शब्द और अर्थात्मा वाक्-प्रपञ्च का आविर्भाव हुआ है। शब्दात्मा वेद अनादि, अनन्त और अव्यय है किन्तु उसका विवर्तभूत वैखरी-प्रपंच अनादि, अनन्त नहीं है। भाषाओं के इतिहास और भाषाविज्ञान के शब्दों का प्रयोग करें तो यह कहा जा सकता है कि भर्तृहरि के अनुसार वैदिक शब्दराशि से ही समग्र शब्दों का उद्भव या विकास हुआ है। भर्तृहरि ने स्वयं इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत॥

—वाक्यपदीय, १, १२०।

वैदिक युग से सृष्टि के रहस्य के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त[2] प्रचलित था कि वाक् ही समग्र विश्व की जननी है, उसी रहस्यविद्या को दार्शनिक एवं भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने शब्दार्थमय विश्व को वेद की शब्दराशि का परिणाम या विवर्त माना है। परिणाम का अर्थ है—कारण के अनुरूप कार्य का होना, तथा विवर्त का अर्थ है—कारण से भिन्नरूप कार्य का होना। विवर्त का शैवदार्शनिकों के अनुसार अर्थ है: नाना रूपों में स्वेच्छया प्रकाशित होना—**विवर्तो विचित्रेण रूपेण वर्तनं न त्वविद्याशात् अपितु स्वातन्त्र्यतः।** वैदिक शब्दराशि से विकसित भाषाएं 'तत्सम' होने के कारण परिणाम भी हैं और 'तद्भव' होने के कारण विवर्त भी। शब्द उप-भाषाओं में अनेक विचित्र रूपों में प्रकाशित होते हैं, अतः भर्तृहरि द्वारा समग्र वाक्प्रपंच को शब्दब्रह्म का परिणाम तथा विवर्त बताना भाषाविज्ञान के ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। इस शब्दब्रह्मवाद की मान्यता का ही प्रभाव, जाने अनजाने, शब्दप्राधान्यपरक काव्यलक्षण पर मानना अनुचित न होगा। शिवशक्ति के अद्वय और शब्दब्रह्मवाद की दार्शनिक चिन्तना इतनी

---

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

—वाक्यपदीय, १, १।

२. वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद् वाग् बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्च नाह॥

प्राचीन अवश्य है कि उसका चेतन प्रभाव यहां के साहित्यचिन्तकों के अवचेतन मन पर अवश्य पड़ा होगा।

काव्य की एक और सरलतम और प्रसिद्ध परिभाषा (जो हमें काश्मीर ने दी है) कविकर्म है। कवि अगर शिव है तो काव्य उसका आभास है। वह उसके व्यक्तित्व का ही भावनामय उन्मेष है। इससे अधिक स्रष्टा (कवि) और सृष्टि (काव्य) की एकता का क्या रूप होगा? शैवदार्शनिक के अनुसार शिव—परासंधित्—अपने स्वातन्त्र्य से इस समग्र विश्व का आभासन करता है[1]। काश्मीर के साहित्यशास्त्री भी कविकर्म—काव्य—को कवि की निरुपादान तथा नियति के नियमन से रहित रचना मानते हैं। कवि और शिव की तथा काव्य और सृष्टि की एकरूपता का यह पर्याप्त आधार है। यहां के शास्त्रकार साहित्य स्रष्टा की उपमा प्रजापति या वेधा से सदा देते चले आ रहे हैं क्योंकि मनीषी वेधा 'कवि' है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।

जिस प्रकार उपादान आदि कारणों की अपेक्षा के विना कवि काव्यसृष्टि करता है उसी प्रकार दार्शनिक का शिव भी कलाकार है जो इस जगत्-चित्र का प्रतान विना किसी सहायता के करता है—

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥ —का० प्र० में उद्धृत।

यह प्रसिद्ध सूक्ति कवि और शिव दोनों के लिए समान रूप से चरितार्थ है। रुय्यक ने **'नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम्'** के मङ्गलाचरण द्वारा पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी इन तीन रूपों में आविर्भूत परा शक्ति की ही केवल वन्दना नहीं की है[2] अपितु अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्या शक्ति से परे परा

---

१. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। —प्रत्यभिज्ञाहृदय, सू० १।

२. विमर्शस्वरूपिणी परा शक्ति ही परा वाक् है जो नादरूप में सभी भूतों में जीवात्मना स्थित है तथा जिसे 'अनपायिनी सूक्ष्मा वाक्' भी कहा जाता है, यही शब्दब्रह्मवादियों के शब्दों में 'केवल ब्रह्म' है। परावाक् तथा उसके त्रिविध विग्रह—पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी के सम्बन्ध में विमर्शिनी के प्रारम्भ में उद्धृत श्लोक निम्नलिखित हैं—

परा वाक्—

येयं विमर्शरूपैव परमार्थचमत्कृतिः।
सैव सारं पदार्थानां परा वागभिधीयते॥

वाणी (ध्वनि) का भी काव्यात्मा होने के नाते अभिवन्दन किया है[२]। दर्शन के परतत्त्व तथा साहित्यालोचन के आत्मस्थानीय तत्त्व का एक साथ अभिनन्दन और अभिवन्दन का यह क्रम (जो अनेक साहित्यशास्त्रियों के मंगलपद्यों में प्राप्त होता है) इस अभिमत के लिए कि धर्म, दर्शन तथा साहित्यालोचन के सिद्धान्तों में चिन्तन की एकता अनुस्यूत है, सबल आधार है। अस्तु, कवि, काव्य तथा काव्यालोचन सम्बन्धी चिन्तन पर इस देश के दार्शनिक चिन्तन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। और धर्म तथा दर्शन की भांति साहित्यालोचन में भी दो चिन्तनधाराएं प्राप्त होती हैं। एक की दृष्टि बहिर्मुखी है और दूसरे की अन्तर्मुखी। एक का ध्यान देव और ईश्वर की भांति अलंकार, गुण और वक्रोक्ति के बाह्य तत्त्वों पर है तो दूसरे का रस, ध्वनि और औचित्य के अन्तस्तत्त्व या आत्मतत्त्व पर। बहिर्मुखी वृत्ति के काव्यालोचक यदि उपस्कार या अलंकार का विवेचन करते हैं तो अन्तर्मुखी वृत्ति के उपस्कार्य या अलंकार्य का समाम्नाय प्रस्तुत करते हैं।

नादाख्या सर्वभूतेषु जीवरूपेण संस्थिता।
अनादिनिधना सैव सूक्ष्मा वागनपायिनी॥
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

पश्यन्ती—

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी॥

मध्यमा—

अन्तःसंकल्परूपा या क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते॥

वैखरी—

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥

—वि० पृ० १-२ में उद्धृत।

१. तथा चात्र पूर्वार्धे एव पदार्थान्वययोजनया पुनरावृत्त्याभिधेयपदार्थान्वय-योजना—यथा परां वाचमुत्तमकाव्यरूपतया काव्यात्मध्वनिसंज्ञाम् अभिधातात्पर्यलक्षणोत्तीर्णामुत्कृष्टाम्। —वि० पृ० २।

तत्त्वचिन्तन और साहित्यालोचन की चिन्तनसरणि की इस एकता को दृष्टि से ओझल कर संस्कृत साहित्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्गीकरण ऐतिहासिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर, ध्वनिपूर्वकाल, ध्वनिकाल तथा ध्वन्युत्तरकाल में करना, भले ही, हमें इतिहास के अध्ययन में सुविधा प्रदान करे पर निश्चित ही वह साहित्यालोचन के सिद्धान्त को किसी मौलिक आधार पर वर्गीकृत नहीं कर पाता है। अब लीजिए सम्प्रदायानुसारी विभाजन को। इसके अनुसार साहित्यालोचन के विभिन्न सिद्धान्तों को ५-६ सम्प्रदायों में विभक्त किया जाता है। आधुनिक लेखक सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग 'स्कूल' शब्द के अर्थ में प्रायः करते हैं जिससे आपाततः यह प्रतीत होता है कि ये सभी सम्प्रदाय साहित्यालोचन के सर्वथा परस्पर विरोधी विभिन्न मानदण्ड हैं ; उनमें न कोई एकता है न समन्वय। इस प्रकार पश्चिमी साहित्यालोचन के इतिहास की छाया में सम्प्रदायगत यह विभाजन प्रारम्भ से ही अस्पष्टता और भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है। आज का संस्कृत-समीक्षक विभाजन तो विभिन्न सम्प्रदायों में कर देता है पर जब कभी अलंकार, रस, गुण, वक्रोक्ति या औचित्य में से किसी एक की मान्यताएं बतानी होती है तो वह भरत या भामह से अपना विवेचन प्रारम्भ करेगा तथा जयदेव और जगन्नाथ पर ला पटकेगा। साहित्यालोचन का विद्यार्थी सम्प्रदायगत विभाजन से तो यह समझता है कि साहित्यालोचन के ये विभिन्न प्रस्थान हैं पर प्रत्येक विषय पर सभी के प्रतिपादन को पढ़कर उसे ऐसा प्रतीत होता है कि सभी आचार्यों को एक ही बात कहनी है। फिर इस प्रकार के विभाजन से क्या लाभ है ? भामह तथा उद्भट ने कुल मिलाकर ४१ से अधिक अलंकार नहीं लिखे हैं जब कि रुय्यक ने ७५ से अधिक अलंकारों का निरूपण किमा है पर भामह-उद्भट अलंकारतन्त्रप्रजापति हैं किन्तु रुय्यक ध्वनिवादी हैं। और फिर चाहे जिस सम्प्रदाय को लीजिए प्रत्येक में दूसरे सम्प्रदाय के विचार या तत्त्व, भले ही उसकी व्यापक मान्यता मान्य न हो सकी हो, अवश्य मिलेंगे। इतना ही क्यों, सच तो यह हैं कि एक वृत्ति के सम्प्रदाय उसी तरह के दूसरे सम्प्रदाय की न केवल मान्यता के विरोधी नहीं हैं अपितु वे एक दूसरे से सम्बद्ध और समन्वित प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए रससम्प्रदाय और ध्वनिसम्प्रदाय को लीजिए। क्या इन दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है? नहीं। ध्वनिसम्प्रदाय रससम्प्रदाय को पूर्णतः अन्तर्भूत करके चलता है। इसके अनुसार रस तो सदा व्यंग्य है ही वस्तु और अलंकार भी व्यंग्य होते हैं। अथवा जैसा कि रसवादी विश्वनाथ का कहना है रसनीयता का सम्बन्ध यद्यपि सिद्धान्ततः केवल रस से है पर वस्तु और अलंकार में भी उसका

आस्वाद रहता है[1]। यहां तक कि नीरस पद्य भी काव्य-रस (प्रबन्ध-रस) की रसवत्ता पाकर रसवत् हो जाते हैं[2]। अब चाहे कह लीजिए कि रस की मान्यता में ध्वनिवाद आ जाता है या ध्वनि की मान्यता में रससिद्धान्त, इन्हें अलग अलग सम्प्रदाय मानना कहाँ का न्याय है ? क्षेमेन्द्र के औचित्य-सिद्धान्त की भी यही स्थिति है। उनका औचित्य रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवातु है[3]। दूसरे शब्दों में रस अलंकार्य है, उसीका परिपोष औचित्य से होता है। इस प्रकार रसवादी भरत, ध्वनिवादी आनन्दवर्धन तथा औचित्यवादी क्षेमेन्द्र का आग्रह अलंकार्य पर है। इन सभी के अनुसार अलंकार्य तो रस (या व्यंग्यत्रयी) है और शेष सब उपस्कारक या अलंकार हैं। इन सबका दृष्टिबिन्दु अलंकार्य है जो आत्मा है। इस आधार पर इन तीनों सम्प्रदायों को अलंकार्य का सम्प्रदाय कहना चाहिए। इनका भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में विभाजन भ्रान्ति और अस्पष्टता उत्पन्न कर सकता है।

अब अलंकारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय तथा वक्रोक्तिसम्प्रदायों को लीजिए। इन्हें भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय न मान कर अलंकारसम्प्रदाय के ही अन्तर्गत रखना चाहिए। भामह और उद्भट काव्य के शब्दार्थ-शरीर को अलंकार्य तथा अन्य सभी को (रसभावादि भी इसमें शामिल हैं) अलंकार मानते हैं। वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। रीति विशिष्ट पदरचना है। यह पदरचना शब्द (या शब्दार्थ) से भिन्न तो नहीं हो सकती है अत एव यही कहना होगा कि वामन के अनुसार भी शब्दार्थ अलंकार्य हैं। इनके श्लेषादि दश गुण शब्द और अर्थ दोनों के हैं। वामन कान्ति नामक गुण की परिभाषा 'दीप्तरसत्वं कान्तिः'[4] बतांकर इसके लिए भी सबल संकेत देते हैं कि इनके

---

१. ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा तदा × × × × वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेन्न। अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः। —सा० द० पृ० १८।

२. ननु तर्हि प्रबन्धान्तवर्तिनां केषाञ्चिन्नीरसानां पदानां काव्यत्वं न स्यादिति चेन्न। रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। —वहीं, पृ० २०।

३. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। —औ० वि० च०।

४. का० सू० वृ० ३, २, १४।

विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों से अभिव्यक्त—दीप्त—रस की अर्थ

अनुसार रसादि को अलंकार्य नहीं माना जा सकता है, वह भी अन्ततः शब्दार्थ का गुण है। गुण सौन्दर्य है और सौन्दर्य ही अलंकार है[1]। इस प्रकार वामन का सम्प्रदाय भी अलंकार का सम्प्रदाय है जो विशिष्ट पदरचना अथवा अन्ततः शब्दार्थ को अन्य अलंकार-प्राधान्यवादी की ही भांति अलंकार्य तथा शेष सभी को अलंकार मानता है और इन्हीं में रसभावादि का भी परिग्रह कर लेता है।

कुन्तक का वक्रोक्तिसम्प्रदाय भी ऐतिहासिक तथा तार्किक दृष्टि से अलंकार का ही सम्प्रदाय है। उन्होंने अलंकारतन्त्रप्रजापति भामह की वक्रोक्ति को ही व्यापक काव्यतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इतिहास की दृष्टि से कुन्तक अलंकारसम्प्रदाय के प्रथम आचार्य भामह के अनुयायी हैं। कुन्तक ने अपनी षड्विध वक्रता में वामन-सम्मत समस्त गुणचक्र को तथा ध्वनिवाद-सम्मत व्यंग्यत्रयी को समेट लिया है। उनकी यह वक्रोक्ति अलंकार्य नहीं अपितु अलंकार है, और अलंकार्य रसादि नहीं अपितु शब्दार्थ हैं। इस प्रकार भामहादि के अलंकार, वामन के गुण तथा कुन्तक की वक्रोक्ति सभी अलंकार हैं। इनके अनुसार अलंकार्य तो शब्दार्थ हैं जो काव्य-शरीर हैं। अलंकार्य के सम्प्रदायों की स्थिति इससे भिन्न है। इनमें से सभी शब्दार्थ और उनके गुण तथा अलंकार की चर्चा करते हैं पर इनके अनुसार अलंकार्य शब्दार्थ नहीं हैं अपितु रस या व्यंग्यत्रयी है। ये आचार्य रस को अलंकार के चरणों में न बांध कर गुण तथा अलंकार का स्वरूपनिरूपण रस को दृष्टि में रखकर करते हैं। रसोत्कर्षकता ही गुण और अलंकार का सामान्य स्वरूप बन जाता है। रसोन्मुखी दृष्टि के नाते गुण हो या अलंकार दोनों ही, तरतम से ही सही, उपस्कारक हैं, अलंकार हैं, अतः ध्वनिवाद को मानकर गुण तथा अलंकार में किसी प्रकार का मौलिक अन्तर संभव नहीं है। उसकी दृष्टि तो व्यंग्यत्रयी पर है अन्य बाह्य तत्त्वों पर नहीं। ध्वनिवादी का अलंकार्य पर यह आग्रह आत्मोन्मुखी या अन्तर्मुखी चेतना है और अलंकार पर आग्रह बहिर्मुखी

में स्थिति ही कान्ति नामक अर्थ-गुण है। रस शब्द से वामन को शृङ्गार आदि सभी रस अभिप्रेत हैं। वामन के ३, २, १४ सूत्र पर वृत्ति है—दीप्ता रसाः शृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः, तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः। इस वृत्ति के व्याख्यान में कामधेनु-टीकाकार ने सभी रसों के उदाहरण दिए हैं; स्वयं वामन ने केवल संयोग शृङ्गार का ही उदाहरण प्रस्तुत किया था।

१. सौन्दर्यमलङ्कारः। —का० सू० वृ० १, १, २०।

चेतना है। यही कारण है कि अन्तिम मत के आचार्य शब्दार्थ को शरीर और उसी को आत्मा मान बैठते हैं। पर ध्वनिवादी, नचिकेता की भांति, शरीर, इन्द्रिय आदि को आत्मा नहीं मान सकता। वह तो श्वेतकेतु है जिसे तत्त्वमसि के उपदेश का अधिकार है जिसमें 'तत्' रस है और 'त्वम्' मानव के शाश्वत मनोभाव हैं जिनकी तदात्मना (रसरूप में) निष्पत्ति साहित्यिक का उपनिषद् है। अस्तु, निष्कर्ष यह है कि साहित्यालोचन के विभिन्न सिद्धान्तों के विकास पर इस देश के दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव पड़ा है। ६ सम्प्रदायों में अलंकार-सम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय तथा वक्रोक्तिसम्प्रदाय साहित्यालोचक की बहिर्मुखी चेतना को परिलक्षित करते हैं। सभी सहयात्री हैं क्योंकि सभी शब्दार्थ से अपनी यात्रा आरम्भ करते हैं। इन सभी को अलंकार का सम्प्रदाय कहा जा सकता है क्योंकि इसी में आत्मस्थानीय तत्त्वों का अन्तर्भाव ये सभी सम्प्रदाय मानते हैं। रस, ध्वनि तथा औचित्य के सम्प्रदाय अलंकार्य के सम्प्रदाय हैं। शब्दार्थ से ये अपनी यात्रा अवश्य प्रारम्भ करते हैं किन्तु अपनी यात्रा समाप्त नहीं करते हैं, वे रसादि को विश्रान्तिस्थान मानते हैं। अलंकार्य को ये अलंकार नहीं बनाते अपितु अन्तिम को ही प्रथम के अधीन या अपेक्ष मानते हैं, इस प्रकार रस, ध्वनि और औचित्य के सिद्धान्त अलंकार्य के सम्प्रदाय हैं। रुय्यक ने भामह से लेकर महिमभट्ट तक साहित्यालोचन के इतिहास पर जो अपने विचार व्यक्त किए हैं वे उपर्युक्त निष्कर्ष के पोषक हैं।

इन दो सम्प्रदायों के आचार्यों की अलंकार, गुण, रस, रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि आदि काव्यतत्त्वों के स्वरूप और साहित्यशास्त्र में इन काव्यतत्त्वों के सम्बन्ध में मान्यताएं स्वभावतः भिन्न हैं। प्रस्तुत पृष्ठों में यद्यपि अलंकार-स्वरूप का उन्मीलन ही प्राकरणिक विषय है किन्तु अलंकारों का गुण आदि अन्य साहित्य के तत्त्वों से सम्बन्ध का विवेचन तथा प्राचीन और अर्वाचीन आलंकारिकों के अनुसार उनकी सीमा या वृत्त का निर्देश भी यथास्थान किया गया है। रुय्यक ध्वनिवादी हैं। उनका सिद्धान्तपक्ष आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त है। ध्वनिवाद की प्रमुख स्थापना वस्तु, अलंकार तथा रस की व्यंग्यत्रयी है जिसमें प्रधानता रस की है। इस व्यंग्यत्रयी के अवबोध या अनुभूति का माध्यम व्यंजना व्यापार है।

ध्वनि काव्य की आत्मा है, वही काव्य का जीवातु है, वह उपस्कार्य है, अलंकार्य है; गुण और अलंकारों की भांति उपस्कारक नहीं है। अभिधा, लक्षणा या तात्पर्या के माध्यम से उसकी संवित्ति सम्भव नहीं है। इन सभी से

परे व्यंजना की स्वीकृति आवश्यक है। वही द्वार है, वही माध्यम या व्यापार है जो ध्वनितत्त्व की अनुभूति में हमारी सहायता कर सकता है। यह है सिद्धान्तपक्ष। काव्यालोचन की यह स्थापना नवम शती की है। इसके पूर्व भी काव्य थे, सहृदय थे, काव्यास्वाद होता था और उसका शास्त्रीय विवेचन भी। कालिदास की कविता सुनकर आनन्दवर्धन को जितना आनन्द मिला होगा उससे कम भामह या वामन को नहीं। इन सभी ने उस काव्यसौन्दर्य की व्याख्या शास्त्रीय शब्दों में करनी चाही थी। काव्य की उत्कृष्टता, सौन्दर्य या उसके पान में तो किसी भी आचार्य की दृष्टि से आंच नहीं आ पाती। आप चाहें ध्वनिवाद मानें या अलंकारवादी बन जाएं, 'यः कौमारहरः स एव हि वरः—' सुनकर बारबार आपका मन हरण होता ही रहेगा। भेद केवल इतना है कि जिसे ध्वनिवादी ध्वनिसौन्दर्य कहेगा उसे अलंकारवादी अलंकार या गुण की स्वरूपसीमा में बाँधना चाहेगा। रुय्यक ने अलंकारसर्वस्व की भूमिका में ध्वनिस्थापनाओं के प्रति पूर्वाचार्यों के सम्भावित दृष्टिकोण का अध्ययन किया है। ध्वनिस्थापना के बाद जिन्होंने ध्वनिवाद का अनुगमन नहीं किया है उनमें राजानक कुन्तक तथा महिमभट्ट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक अपनी वक्रोक्तिसीमा में ध्वनि के लावण्य का संग्रह या समाहार करना चाहते थे और अनुमितिवादी महिम अनुमानप्रक्रिया के आधार पर उस सौन्दर्य को तार्किक चिन्तन की बेड़ी में जकड़ना चाहते थे। पर ध्वनि का न तो वक्रोक्तिप्रकारों में अन्तर्भाव संभव है और न महामति महिम का साहस इसका खण्डन कर काव्यसौन्दर्य को तार्किक प्रक्रिया में बांध सकता है। सर्वस्व की इसी स्थापना का विवेचन इस अध्याय का प्रतिपाद्य है जिसे अलंकार-सम्प्रदाय तथा अलंकार्यसम्प्रदाय के आचार्यों के अनुसार जानना आवश्यक है।

अलंकारसम्प्रदाय के आद्य आचार्य भामह (षष्ठशतक का मध्य भाग)

साहित्यालोचन का प्रथम आचार्य भामह को माना जाता है। रुय्यक न केवल इनका **चिरन्तन**[1] अलंकारकार की श्रेणी में प्रथम परिगणन करते हैं अपितु **अलंकारतन्त्रप्रजापति**[2] कह कर अलंकारमीमांसा का आद्य आचार्य भी घोषित करते हैं। इनके पूर्व भरत ने नाट्यकला का अध्ययन विस्तार से किया था। उनके अनुसार काव्यकला नाट्यकला का ही अंग है। जिन चार अलंकारों

---

१. अ० स० पृ० ३।

२. व्य० वि० व्या० पृ० १८।

का उन्होंने निरूपण किया है उन्हें वे नाट्यसंश्रय कहते हैं। रस का विवेचन भी उन्होंने नाट्यशास्त्र की दृष्टि से किया था। कालान्तर में अवश्य वही रस काव्या की आत्मा भी बन गया। भामह ही सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य की दृष्टि से अलंकार को, उसकी प्राणभूत वक्रोक्ति को, काव्य का सर्वस्व मान कर, काव्यालोचन का एक नवीन शास्त्र के रूप में प्रारम्भ किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि नाट्यशास्त्र का रचनाकाल भामह के काव्यालंकार से पूर्व का है किन्तु अलंकार या गुण के विवेचन में भामह ने सर्वथा स्वतंत्र परम्परा का अनुगमन किया है[1]। भामह के अनुसार गुण तीन हैं जबकि भरत

---

१. देखिए—कम्पारेटिव एस्थेटिक्स, खण्ड १, पृ० ३९२ तथा ३९४-९५। भामह वक्रोक्ति का निर्वचन नहीं करते हैं। उनका प्रतिपादन यह मानकर चलता है कि वक्रोक्ति के स्वरूप और महत्त्व से आलंकारिक परिचित हैं। अस्तु, स्पष्ट है कि भामह वक्रोक्ति-कल्पना के उद्भावक आचार्य नहीं हैं। भरत के 'लक्षण' का स्वरूपनिरूपण करते हुए अभिनव ने 'एवं कवि-व्यापारबलाद् यदर्थजातं लौकिकात् स्वभावात् भिद्यमानं तदेव लक्षण-मित्युक्तम्'(अभि० भा०द्वि० भाग पृ० ३२१)यह निर्गलितार्थ परिभाषा देते हुए इसी प्रसंग में भामह की 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' का उद्धरण भी प्रस्तुत किया है, यह भी सच है कि अनेक 'लक्षण' बाद में अलंकार बन गए अतः डा०पाण्डेय का अभिमत है कि भरत के लक्षण को ही भामह 'वक्रोक्ति कहते हैं—It is this very Lakṣaṇa which is spoken of as Vakrokti by Bhāmaha in his Kāvyālaṅkāra.

—कम्पारेटेव एस्थेटिक्स, खण्ड ३, पृ० ३९९।

उनके इस मत से सर्वथा सहमत हो पाना कठिन है। भरत की रस-सम्बन्धी मान्यताओं को छोड़ भी दें पर गुण और अलंकार के सम्बन्ध में भी, जैसाकि डा०पाण्डेय भी स्वयं स्वीकार करते हैं, मामह को भरत का ऋवक नहीं मिला है। यदि भामह को भरत के लक्षण को ही वक्रोक्ति कहना अभीष्ट होता तो जहां अन्य अनेक आचार्यों के नाम से या उनके मत का 'अन्यैः' आदि से उल्लेख किया है वहाँ नाट्यशास्त्र के लेखक का उल्लेख न करना यही प्रमाणित करता है कि भामह की परम्परा भरत की परम्परा से भिन्न है। मेरे इस कथन का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वक्रोक्ति और लक्षण में सादृश्य या साम्य नहीं है, है इसीलिए वक्रोक्ति को लक्षण का नामान्तर मान लेना उचित नही है क्योंकि जहां कहीं साम्य

ने दश गुणों का निरूपण किया था। इनका स्वरूप भी दोनों आचार्यों की दृष्टि में भिन्न है। भरत ने चार अलंकारों का वर्णन किया है पर भामह 'इति वाचामलंकाराः पंचैवान्यैरुदाहृताः' द्वारा अलंकारपंचक की परम्परा का निबन्धन करते हैं। इनके ग्रंथ का नाम काव्यालंकार है जो काव्य में अलंकार के महत्त्व का समर्थ सूचक है। भामह ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का अनेकधा उल्लेख किया है पर उनमें किसी की भी कृति आज उपलब्ध नहीं है। संभव है कि रुय्यक के समय तक भी वे कृतियां उपलब्ध न रही हो अन्यथा भामह से ही क्यों, इनसे पूर्ववर्ती किसी आचार्य से भी रुय्यक अपनी भूमिका प्रारम्भ कर सकते थे। भामह के अनुसार जड़बुद्धि भी गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन कर सकता है किन्तु काव्य तो प्रतिभा का ही विधान है—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥

—भामहालंकार, १।५।

और काव्य केवल शास्त्र से ही भिन्न नहीं है अपितु वार्ता से भी उसका छत्तीस का सम्बन्ध है। सूर्य डूब गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी नीड की ओर जा रहे हैं, इस तरह के वाक्य वार्ता मात्र हैं। उन्हें काव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥

—भामहालंकार, २।८४।

लोक और शास्त्र से काव्य का यह भेद शब्दार्थ की वक्रोक्ति पर आश्रित है जिसके बिना वाणी में चारुता नहीं आपाती। इसीलिए वक्रोक्ति वाणी की अलंकृति है[1], उत्तम शृंगार है, इसके बिना काव्य की कोटि संभव नहीं है।

होता है वहां मूल में भेद होना स्वाभाविक है—यत्र किंचित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः।

१. न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः॥

—भामहालंकार, १।३६।

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते॥

—वहीं, ५।६६।

भामह ने माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण माने हैं पर गुण भी उनकी दृष्टि से उतने महत्त्वपूर्ण नही हैं जितनी की वक्रोक्ति[1]। यही शब्द और अर्थ के अलंकारों का, जो समान रूप से भामह को अभीष्ट[2] हैं, जीवनाधार है। इसी का समग्र काव्यजगत में साम्राज्य है। स्वभावतः भामह ने वक्रोक्ति के विधान का आग्रह वक्रवाक् कवि (वक्रवाचां कवीनाम्) से किया है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

—भामहालंकार २।८५।

इसके विना न तो अलंकार संभव है क्योंकि अर्थ में 'विभा' का आधान करने वाली समस्त विधा वक्रोक्ति है, और न काव्य की कोटि संभव है। भले ही प्रकृत कितना भी कान्त क्यों न हो, वनितामुख की भांति, भूषा के विना, रूपकादि की रूपणा के विना उसमें विभा नहीं आ पाती[3]। कान्ति में 'आभा' का विधान ही कविप्रतिभा का काम है। यही अलंकृति है जो प्रकृतिमनोहर या स्वभावसुन्दर को भी सुवर्णालंकार की तरह अपनी श्री से पोषित करती है[4]। विदग्धमण्डना नारी की भांति अलंकारविधि से अलंकृत कविवाक् विभा-सम्पन्न बन जाती है[5]। इस प्रकार भामह के अनुसार अलंकार और इसकी प्राणभूत वक्रोक्ति ही काव्यसौन्दर्य का सर्वस्व है। स्वभावतः वे रसभावादि को भी अलंकारों की ही श्रणी में अन्तर्भूत करते हैं। उन्होंने 'युक्तं लोकस्वभावेन

---

१. अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥ —वहीं, १।३४।

२. रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्॥
—वहीं, १।१४।

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः॥ —वहीं, १।१५।

३. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥ —वहीं, १।१३।

४. इयं चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा।
अस्यां सुवर्णालंकारः पुष्णाति नितरां श्रियम्॥ —वहीं, ६।३०।

५. अनेन वागर्थविदामलंकृता विभाति नारीव विदग्धमण्डना।
—वहीं, ३।५८।

रसैश्च सकलैः पृथक्' (१।२१) द्वारा काव्य में रस-योग का आग्रह किया है,[1] ठीक उसी प्रकार जैसे कि भरत ने नाट्यरस की अनिवार्यता तथा महत्त्व का संस्तव किया है पर भामह ने 'रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारदिरसं यथा' (३।६) से रसों को रसवत् तथा भावों को प्रेयोऽलंकार की अलंकारसीमा में बांध दिया है। यही नहीं, रसवत् काव्य की उन्होंने कपित्थ आम्र तक से समता देकर[2] यह सिद्ध कर दिया है कि वे इसकी अपेक्षा वक्रोक्ति को कहीं अधिक महत्त्व देते हैं।

दण्डी (सप्तमशतक)

काव्यालोचकों में दण्डी का स्थान अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है[3]। गुण, रस, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति आदि अनेक तत्त्वों के सम्बन्ध में भामह और दण्डी में परस्पर उल्लेखनीय मतभेद है। और यह भी सच है कि भाषा तथा चिन्तन दोनों ही दृष्टियों से इन दोनों के ग्रन्थ एक दूसरे से अत्यधिक प्रभावित हैं[4]। भामह नाट्यशास्त्र से भिन्न परम्परा के आचार्य हैं पर दण्डी पर इस परम्परा का पर्याप्त प्रभाव है। त्रिविधगुणवादी भामह के विपरीत, भरत की भांति, दण्डी दशगुण मानते हैं। उन्होंने वैदर्भी और गौडी मार्गों में परस्पर सूक्ष्म भेद तथा स्फुट अन्तर[5] का प्रतिपादन किया है, जबकि भामह इन दोनों में कोई भेद मानना

---

१. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥ —वहीं, ५।३।

२. अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्।
काव्यं कपित्थमाम्रं च केषाञ्चित् सदृशं यथा॥ —वहीं, ५।६२।

३. रुय्यक ने दण्डी का सर्वस्व में तो अनेकधा उल्लेख किया ही है साहित्य-मीमांसा में इनका अनेकधा अनुसरण किया है। सर्वस्व की भूमिका में रुय्यक के 'भामहोद्भटप्रभृतयः' के प्रभृति पद से जयरथ दण्डी का ही ग्रहण करते हैं—
प्रभृतिना दण्ड्यादयः। —वि० पृ० ३।

४. देखिए—काणे— (i) Relative Position of Bhāmaha and Daṇḍin. पृ० ६६-१२५ (ii) Parallel passagees from Bhamaha and Daṇḍin. —काव्यादर्श (मद्रास)

५. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥ —काव्यादर्श १।४०।

मूर्खता या अमेधा (मूर्ख) का गतानुगतिक न्याय मानते थे[1]। दण्डी का गुणों के प्रति आग्रह प्रसिद्ध है। समाधि को वे काव्यसर्वस्व (१।१००) कहते हैं। इनके अनुसार काव्य का प्रधान आकर्षण मनोहर रीति है[2]। माधुर्य की मधुरता से, उनके अनुसार, मधु से मधुकर की भांति सहृदय झूम उठता है—

येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः। १।५१।

अस्तु, आश्चर्य नहीं यदि दण्डी को इतिहासकार रीतिवाद का उन्नायक मानें। भामह की अपेक्षा दण्डी ने रस का महत्त्व भी अधिक स्वीकार किया है। काव्यालंकार में इसके लिए स्थान नगण्य-सा है। भामह महाकाव्य के रसयुक्त होने की चर्चा करते हैं किन्तु सरल होने पर भी वक्रोक्तिहीन रचना को काव्य मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है। दण्डी ने न केवल माधुर्य का स्वरूप रसवत्ता में माना है अपितु वे वस्तु में भी रसस्थिति स्वीकार करते हैं[3]। हाँ यह अवश्य है कि अलंकारसम्प्रदाय के ये दोनों आचार्य रस को अलंकाररूप में ही मानने को बाध्य हैं। स्वभावतः दण्डी ने भी रसभावादि का अन्तर्भाव रसवत्प्रेय आदि अलंकारों में ही किया है[4]। रसादि का स्मरण अलंकार रूप में ही हुआ है[5]।

वक्रोक्ति की दृष्टि से देखिए। भामह काव्य तथा अलंकार का प्राण वक्रोक्ति को मानते हैं अतः हेतु, सूक्ष्म तथा लेश जैसे को वे अलंकार नहीं मानते[6] थे पर दण्डी ने इन्हें 'वाचामुत्तमभूषणम्'[7] मानकर इनकी अलंकारता स्वीकार की है[8]। वक्रोक्ति दण्डी के अनुसार वाङ्मय का एक प्रकार है[9] जब कि इसके स्वभावोक्ति-प्रकार[10] का शास्त्र और काव्य में समानरूप से साम्राज्य

---

१. गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्॥ —भामहालंकार, १।३२।

२. वाचां विचित्रमार्गाणाम्...। —काव्यादर्श, १।९।

३. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। —वहीं, १।१५।

४. काव्यादर्श, २।२७५।

५. अलंकारतया स्मृतम्।

६. भामहालंकार, २।८६।

७. हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्। —काव्यादर्श, २।२३५।

८. अलंकारतयोद्दिष्टम्....। —वहीं, २।२३६।

९. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। —वहीं, २।३६३।

१०. वहीं।

है[1]। यही स्वभावोक्ति या जाति काव्य की आद्य अलंकृति है[2] क्योंकि लोकयात्रानुवर्तन ही कान्त या सौन्दर्य है[3]। और फिर भले ही सारे अलंकार अर्थ में रस का अभिषेक करते हों पर अग्राम्यता (जिसे प्रभा टीका के शब्दों में विदग्धजनव्यवहार कहेंगे) जो वस्तुतः रचनाशैली के लिए एक अस्पष्ट नाम है, काव्य-सौन्दर्य का भूयोभार बहन करती है[4]। गुण, रस, वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में भामह-दण्डी का यह परस्पर मतभेद दोनों की भिन्न परम्परा का प्रमाण है, काव्यालोचन के विकास का सूचक है किन्तु नवीन सम्प्रदाय के प्रवर्तन का आधार प्रस्तुत नहीं करता है। भले ही भामह की अपेक्षा दण्डी का झुकाव रस की ओर अधिक है, स्वभावोक्ति भी उन्हें ईप्सित है और माधुर्य का आस्वाद भी उन्हें अधिक रुचिकर लगता है किन्तु हैं वे भी काव्यालोचन की बहिर्मुखी चेतना की परिधि में। चाहें मार्ग हो और चाहें शोभाकर धर्म अलंकार[5], कोई भी ध्वनिकोटि सा अलंकार्य नहीं है। अलंकार्य तो दण्डी के भी अनुसार शब्दार्थ ही हैं। अस्तु, गुण और अलंकार का भेद मानकर दण्डी को रीतिवाद का आचार्य मान लेना मोहमात्र है। वामन में तो गुणालंकार में कुछ भेद है, किन्तु दण्डी के अनुसार इन दोनों में भेद बता पाना भी संभव नहीं है क्योंकि स्वभाव तथा कार्य की दृष्टि से दोनों ही काव्य के शोभाधायक तत्त्व हैं। अभिनव का भी इस सम्बन्ध में यही अभिमत है—

> दण्डिनापि काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते इति ब्रुवता गुणमध्य एव तत्र प्रसादादीनभिदधता च गुणालंकारविभागोऽप्यसम्भवीति सूचितं भवति....... —अभि० भा० (द्वितीय भाग), पृ० २९५।

---

१. शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्! —वहीं, २।१३।

२. स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा। —वहीं, २।८।

३. कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः। —वहीं, २।८८।

४. कामं सर्वोऽप्यलंकारः रसमर्थे निषिञ्चति।
तथाप्यग्राम्यतैवेन भारं वहति भूयसा॥ —वहीं, १।६२।

५. दण्डी ने अलंकार की परिभाषा यह दी है—
काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। —वहीं, २।१।
यही परिभाषा अग्निपुराण में भी अक्षरशः उपलब्ध होती है। यदि पुराण के इस अंश को परवर्ती न माने तो यही निष्कर्ष संभव है कि काव्य में यह परिभाषा पुराण से ली गई थी।

अस्तु, भामह की भांति दण्डी के अनुसार भी काव्य की अमरता या कल्पान्तर-स्थापिता सदलंकारता में ही है—

काव्यं कल्पान्तस्थायि जायते सदलंकृति। —काव्यादर्श, १।१९।

वामन (आठवीं शती)

वामन और उद्भट समकालिक थे अतः कतिपय इतिहासकार जैसे कि डा० काणे, उद्भट की चर्चा पहले करते हैं। इतिहास की दृष्टि से वामन की पूर्ववर्तिता भले ही विवाद का विषय हो किन्तु काव्यस्वरूप के स्वाभाविक और यौक्तिक विकास को दृष्टि में रखकर, दण्डी के अनन्तर, अलंकारसम्प्रदाय के आचार्यों में काव्यालंकारसूत्र तथा उस पर वृत्ति के रचयिता वामन का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। यही वह प्रथम आलंकारिक है जो काव्य की आत्मा का स्पष्ट विवेचन करता है। इनसे पूर्व के किसी भी आचार्य ने जयरथ के शब्दों में उपस्कार्य आत्मा का अभ्युपगम नहीं किया था[1]—

× × × × तदुपस्कार्यः पुनरात्मा कैश्चिदपि नाभ्युपगतः। वामनेन तु तदुपस्कार्य आत्मा कश्चिदुक्तः। —वि० पृ० ८।

भरत की भांति वामन शब्दार्थ के दस गुण मानते हैं—ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति तथा कान्ति। इन गुणों के कारण पदरचना में एक विशेषता आ जाती है[2]। यही विशिष्ट पद-रचना रीति[3] है जो काव्य की आत्मा है[4]। अब इस गुणात्मा रीति का अलंकार, वक्रोक्ति, रस आदि से सम्बन्ध देखिए। रीतिवादी वामन के अनुसार गुण तथा

---

१. रुय्यक के 'काव्यात्मत्वेनोक्तः' पर जयरथ की ही भांति, श्रीविद्याचक्रवर्ती का भी मत है कि वामन से पूर्ववर्ती आलंकारिक जीवितांश (आत्मा) पर विचार से विमुख थे जबकि वामन जीवितांश पर विचार करने वाले प्रथम आचार्यों में से हैं—

काव्ये जीवितांशविचारविमुखानामलंकारमात्ररसिकत्वादुत्तानदृशां मतमुपन्यस्य जीवितांशविचारपराणां मतानि यथावदुपन्यस्यति॥

—संजी० पृ० ६।

२. विशेषो गुणात्मा। —का० अ० सू० १।२।८।

३. विशिष्टा पदरचना रीतिः। —का० अ० सू० १।२।७।

४. रीतिरात्मा काव्यस्य। —का० अ० सू० १।२।५।

अलंकार से संस्कृत शब्दार्थ काव्य[1] है और काव्य की उपादेयता अलंकार के कारण है[2]। अलंकारविधान का अर्थ एक तो अभावात्मक है और दूसरा भावात्मक। प्रथम अर्थ में दोष का परिहाण विवक्षित है तो दूसरे अर्थ में गुण तथा अलंकार के आदान का भावात्मक विधान अभिप्रेत है[3]। वामन की परिभाषा में अलंकार शब्द सौन्दर्य का पर्याय है (अतः इस दृष्टि से दण्डी की परिभाषा से वामन की परिभाषा भिन्न नहीं है[4]) स्वभावतः उसमें गुण तथा अलंकार दोनों का ही समावेश होता है। अलंकृति या सौन्दर्य के भावप्रत्ययार्थ में अलंकार शब्द गुण का विशेषतः तथा उपमादि का सामान्यतः वाचक है। करणव्युत्पति (अलंक्रियतेऽनेन) से अलंकार शब्द उपमादि का वाचक है। यद्यपि गुण तथा अलंकार दोनों ही सौन्दर्य-सृष्टि के माध्यम हैं पर यौवन की भांति[5] गुण अन्तरंग, नित्य[6] तथा शोभा के उत्पादक[7] धर्म हैं अर्थात् केवल उनकी स्थिति से सौन्दर्योत्पाद सम्भव है। पर अलंकार अनित्य, बाह्य तथा अतिशायी धर्म हैं[8],

---

१. काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
—का० अ० सू० १।१ पर वृत्ति।

२. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। —वहीं, १।१।

३. स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्। —वहीं, १।१।३।
वृत्ति—स खलु अलंकारो दोषहानात् गुणालंकारादानाच्च संपाः कवेः।

४. दण्डी ने अलंकार को काव्यशोभाकर बताकर सौन्दर्य का पर्याय बताया है। वामन का गुणालंकारविभाग दण्डी से प्रभावित है। हां इतना अवश्य है कि दण्डी के विचारों को विशदता और स्पष्टता वामन ने ही दी। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—कन्सेप्ट आँफ रीति एण्ड गुण, पृ० ५६-५८।

५. इस सम्बन्ध में वामन का यह श्लोक उल्लेख्य है—

युवतेरिव रूपमंग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः॥
—का० अ० सू० ३।२ पर उद्धृत।

६. पूर्वे नित्याः।—वहीं, ३।१।३।
वृत्ति—गुणाः नित्यास्तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।

७. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। —वहीं, ३।१।१।

८. तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। —वहीं, ३।१।२।

केवल उनके रहने से सौन्दर्योत्पाद सम्भव नहीं है[1] अतः वामन के अनुसार सौन्दर्यविधान की दृष्टि से गुण की अपेक्षा अलंकार की कोटि हीन होगई है। शास्त्रीय शब्दावली के घटाटोप को छोड़ कर साधारण शब्दों में यही कहा जा सकता है कि यदि गुण बन्ध (पदरचना), अनुक्रम-रचना या व्यवस्था का सौन्दर्य है तो अलंकार उक्तिवैचित्र्य या शब्दार्थप्रसाधन का। पहला वस्तुगत या विषयगत शैली का पर्याय है तो दूसरा विधानप्रकार का। काव्य एक चित्र है, उसमें रीति रेखाएं हैं[2], अलंकार रंग है जो रेखासौन्दर्य को उभार देता है। गुण यौवन हैं, अलंकार कुसुम और कुंकुम। कुसुम मुरझाते हैं, कुंकुम धुल जाता है और यौवन भी तो चला गया तो लौटता नहीं—यौवनमनिवर्ति यातन्तु। भले ही एक बहिरंग है दूसरा अन्तरंग पर आत्मा कोई नहीं। आखिरकार वामन भी तो, व्यापक अर्थ में ही सही, अलंकार के आचार्य हैं, अलंकार्य के नहीं। गुणालंकार में तारतम्य है, रूपभेद है, स्थितिभेद है पर परिणामभेद नहीं है। दोनों ही सौन्दर्य के साधन हैं—अलंकार्य सौन्दर्य का साधन नहीं होता, वह साध्य है। अस्तु, वामन का सम्प्रदाय भी अलंकारसम्प्रदाय ही है। उनके दश गुणों में तीन गुणों, माधुर्य, कान्ति तथा अर्थव्यक्ति का प्रमुख रूप से उल्लेख आवश्यक है। माधुर्य का स्वरूप है—

उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। —वहीं, ३।२।१०।

वृत्ति— उक्तेर्वैचित्र्यं यत् तत् माधुर्यम्।

भामह की वक्रोक्ति का स्वरूप भी यही है, कुन्तक ने इसी रूप में इसकी व्याख्या भी की है। कान्ति गुण के स्वरूप में शृंगार आदि रसों का अन्तर्निवेश है—

दीप्तरसत्वं कान्तिः।[3] —का० अ० सू० ३।२।१४।

इस प्रकार माधुर्य गुण में भामह की वक्रोक्ति का और कान्ति गुण में रस का अन्तर्भाव वामन को विवक्षित है। अर्थव्यक्ति का लक्षण है—

वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। —वहीं, ३।२।१३।

---

१. कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्।
ओजःप्रसादादीनान्तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति।
—वहीं, ३।१।१ की वृत्ति।

२. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितम्।
—का० अ० सू० वृ०।

३. वृत्ति— दीप्ताः रसाः शृङ्गारादयो यस्य स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः।

स्वभावोक्ति तथा भाविकालंकार में वस्तुस्वभाव की स्फुटता स्वरूपनिर्वाहक लक्षण है। स्वभावोक्ति में वस्तु के सूक्ष्मस्वभाव का स्फुट निबन्धन होता है तथा भाविक में अतीत और अनागत वस्तुओं की साक्षात्त्वेन प्रतीति या प्रत्यक्षायमाणत्व के लिए वस्तुस्वभाव की स्फुटता आवश्यक है। इसप्रकार अर्थव्यक्ति एक ऐसा गुण है जो अलंकारविधान का अपरिहार्य सोपान है। इन गुणों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि वामन वक्रोक्ति, रस तथा कतिपय अलंकारों के सौन्दर्य को गुणात्मा रीति में अन्तर्भूत करते हैं।

उद्भट (नवम शतक का मध्यभाग)

कुमारसम्भव काव्य, भामहविवरण तथा काव्यालंकारसंग्रह[१] में केवल अन्तिम दो कृति ही प्राप्य हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के नाट्यशास्त्र पर भी इन्होंने टीका लिखी थी[२], इसप्रकार आलंकारिक रूप में न केवल अलंकार-सम्प्रदाय के आद्य आचार्य से अपितु नाट्यशास्त्र की परम्परा से भी इनका सम्बन्ध था। परिणामतः जहां एक ओर इन्होंने काव्यस्वरूप नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदाय के अनुसार स्वीकार किया[२] है वहां दूसरी ओर रसादि को, भामह की भांति, रसवदादि की शृंखला में बांध कर[3] अलंकारसम्प्रदाय की मान्यता का पुनः स्थापन किया है। उद्भट तक अलंकारसम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण चिन्तन गुणालंकारविभाग[२] था, जिसका दिशानिर्देश दण्डी ने किया था तथा स्फुट प्रतिपादन वामन ने। गुण को यौवन और शौर्य की भांति तथा अलंकार को कटककुण्डलादि की भांति बताकर गुणवादी आचार्य गुण की स्थिति समवाय-वृत्ति से तथा अलंकार की स्थिति संयोगवृत्ति से सिद्ध करना चाहते थे। ऊपर

---

१. इस कृति का उल्लेख चार रूपों में किया जाता है—

(क) अलंकारसारसंग्रह : काणे तथा उपाध्याय।

(ख) काव्यालंकारसार : शंकरन्।

(ग) काव्यालंकारसारसंग्रह : पोद्दार, बनहट्टी तथा गायकवाड़ संस्करण।

(घ) काव्यालंकारसंग्रह : डा० दे।

२. Some Aspects of Literary Criticism, पृ० ३० ।

३. Comparative Aesthetics, पृ० ४०६ ।

४. रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसोदयम्। —का० सू० ४।४।

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।

यत् काव्यं बध्यते सद्भिस्तत् प्रेयस्विदुदाहृतम॥ —का० अ० सं० ४।२।

हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि तात्त्विक दृष्टि से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि गुण शब्द तथा अर्थ के नित्य और स्थिर उपस्कारक हैं किन्तु अलंकार अस्थिर और आरादुपकारक हैं। किन्तु अन्ततः कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों का अलंकार्य शब्दार्थ है तथा दोनों ही आपेक्षिक महत्त्व को छोड़ कर समान रूप से अलंकार हैं, सौन्दर्य के साधन हैं[3]। इसी दृष्टि से उद्भट ने गुणालंकार के दण्डी-वामन-सम्मत भेद को केवल प्राचीनता का अन्धानुकरण मात्र मानकर, समवाय और संयोग वृत्ति पर आधृत भेद को गड्डरिका-प्रवाह कहा है क्योंकि ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार समान रूप से शब्दार्थ में समवाय वृत्ति से रहते हैं—

एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः। ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवाय-वृत्त्या स्थितिरिति गड्डरिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः।

—का० प्र० अष्टमोल्लास।

उद्भट के अनुसार गुण तथा अलंकार में जो कुछ भेद है वह केवल विषय अथवा आश्रय की दृष्टि से है। गुण संघटना (रचना या रीति) पर आश्रित हैं तो अलंकार शब्दार्थ पर। एक संघटन के धर्म हैं तो दूसरे शब्दार्थ के—

उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन शब्दार्थधर्मत्वेन चेष्टेः।[2]

—अ० स० पृ० ६।

अस्तु, अलंकार-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य उद्भट की दृष्टि में, जिसका रुय्यक ने विशेषतः अनुसरण किया है, गुण तथा अलंकार समानरूप से सौन्दर्यहेतु हैं।

---

१. तद् गुणालंकाराणां तुल्यत्ववादिन एवोद्भटाः। —वि० पृ० ६।

२. गुणालंकारविभाग के सम्बन्ध में रुय्यक द्वारा उद्भट के मत का यह विवेचन अभिनव के लोचन तथा बाद में अविकल रूप में, विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण में भी प्राप्त होता है—

(क) संघटनायाः धर्मा गुणा इति भट्टोद्भटादयः।

(ख) चारुत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलंकाराणां चाश्रयभेदव्यपदेशः। संघटनाश्रयाः गुणाः। शब्दार्थाश्रयास्त्वलंकाराः। —प्रतापरुद्र० पृ० ५५७।

उपर्युक्त अंश पर रत्नापण टीका भी द्रष्टव्य है।

दोनों की ही एक कोटि है। अतः उनमें से गुण (या गुणात्मा रीति) को उपस्कार्य तथा उपमादि को उपस्कारक मानना तर्कहीन है। फिर जब दोनों ही एक कोटि के हैं तो इनमें परस्पर उपस्कार्योपस्कारकभाव माना ही नहीं जा सकता है (कुसुम कभी कुसुम का प्रसाधन नहीं बनता है)। और यदि उपस्कार्य मान भी लें तो क्यों न अलंकार को उपस्कार्य और गुण को उपस्कारक मान लिया जाए—

अभिन्नकक्ष्ययाणां ह्युपस्कार्योपस्कारकत्वस्यानुपपत्तेः। तथात्वे चालंकाराणामपि गुणोपस्कार्यत्वं प्रसज्यते समानन्यायत्वात्।

—वि० पृ० ९।

आचार्य चक्रवर्ती गुण को अलंकार की अपेक्षा हीन सिद्ध करने तक को प्रस्तुत हैं। उनका कहना है कि रीति अनुप्रास-स्थानीय है। अलंकारों में अनुप्रास का स्थान ऊँचा नहीं है। वह अर्थालंकार तो है ही नहीं शब्दालंकार से भी गया बीता है, केवल वर्णालंकार है, उसीके समकक्ष वामन की रीतियां हैं—

शब्दालंकारेभ्योऽपि यो बाह्यो वर्णालंकारोऽनुप्रासस्तत्समकक्षका एता रीतियो यतो द्वयोरपि वर्णधर्मता। —संजी० पृ० १०।

स्वभावतः हम यह निष्कर्ष प्रस्तुत करने को बाध्य है कि वामन का रीतिवाद अलंकार्य का सम्प्रदाय न होकर अलंकार का सम्प्रदाय है तथा गुण का उन्नयन करने पर भी रीतिवाद अलंकारवाद की मौलिक मान्यताओं से अधिक दूर नहीं है।

रुद्रट

उद्भट के बाद और रुद्रट के पूर्व तक काव्यालोचन पर नाट्यशास्त्र की परम्परा का पूर्ण प्रभाव पड़ चुका था इसका एक परिणाम यह हुआ कि काव्य और नाटक का भेद समाप्त हो चुका था केवल इतना अन्तर अवश्य शेष रह गया था जो उसका मौलिक अन्तर है कि एक श्रव्य है तो दूसरा दृश्य। इसी के रस का विवेचन विशेषरूप से काव्यालोचन का भी विषय बन गया था यही कारण है कि यद्यपि रुद्रट ने अलंकारों का प्रधान रूप से विवेचन किया है पर प्रासंगिक रूप से साहित्यशास्त्र के अन्य अंगों की और विशेषतः रस-विषय की चर्चा की है। इस समय ध्वनिसम्प्रदाय का भी उन्मीलन हो रहा था किन्तु रुद्रट स्वयं अलंकारसम्प्रदाय के आचार्य है, इसलिए नहीं क्योंकि इनके ग्रन्थ का नाम

काव्यालंकार है या अलंकारों पर अधिक लिखा है अथवा वैज्ञानिक वर्गीकरण की प्रथम आधारशिला प्रस्तुत की है अपितु इसलिए कि वे अलंकारविधा में रस-सौन्दर्य का भी समावेश करते हैं, भले ही वे रसयुक्त काव्य के निर्माण का कितना भी उपदेश दें[1] या नवीन रस (प्रेयस्)[2] की विवेचना करें। स्पष्ट है कि इन्हें समन्वयवादी आचार्य, जैसा कि डा० शंकरन् का कथन है[3], मानने का प्रश्न नहीं उठता है क्योंकि रुद्रट के काव्य का परम सार अलंकार है[4]।

रुद्रट के बाद ध्वनिसम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। स्वभावतः परवर्ती ध्वनिविरोधी अलंकारवादी आचार्यों ने ध्वनि का खण्डन या अपने प्रस्थान में अन्तर्भाव जानबूझकर किया है। इससे पूर्ववर्ती आचार्यों की स्थिति इससे भिन्न है। उन्हें ध्वनिप्रस्थान से परिचय न था। रुय्यक ने ध्वनिपूर्वकाल के अलंकारवादी आचार्यों के मत का उल्लेख **'तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्'** के रूप में कि व्यंग्यत्रयी का अन्तर्भाव चिरन्तन अलंकारवादियों को अलंकारपक्ष में अभिमत था। उनकी भूमिका का प्रारम्भ इसी निष्कर्ष से होता है—

इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते।

प्रतीयमानवस्तु, अलंकार तथा रस अर्थात् व्यंग्यत्रयी के इस 'अलंकारपक्षनिक्षेप' की समासतः व्याख्या अप्रासंगिक न होगी।

अनेक अलंकार, जिनमें प्रमुख रूप से पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, लाटानुप्रास (चक्रवर्ती के अनुसार) तथा विशेषोक्ति (समुद्रबन्ध तथा आनन्दवर्धन) के अवान्तर भेद का परिग्रह कर सकते हैं[5], गम्यमान मान वस्तु को गर्भित किए रहते हैं। यह प्रतीयमान वस्तु

---

१. **तस्मात् तत् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।** —वहीं, १२।२।

२. **स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्।** —वहीं, ५७।१७।

३. Some Aspects of Literary criticism, पृ० ३४।

४. ··· **सारं समाहितमनाः परमाददानः।**

—काव्यालंकार (रुद्रट) १२।३६।

परमुत्कृष्टं सारमलंकारानाददानो गृह्णन्। —नमिसाधु की टीका।

५. रुय्यक के **'पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ'** (अ० स० पृ० ३-४) के आदि पद पर तीनों टीकाकारों

वाच्यार्थ या वाच्यालंकार की विच्छित्ति का उपस्करण करने के नाते, वाच्योपस्कारकता के कारण, अलंकार-सौन्दर्य की सीमा में ही आ जाती है। जयरथ के अनुसार वाच्योपस्कारकता ही अलंकारत्व है या अलंकार का आत्मभूत जीवातु है। स्वभावतः प्रतीयमान की विच्छित्ति को अलंकारस्वरूप से पृथक् नहीं किया जा सकता। रुय्यक का यह अनुशीलन चिरन्तन आचार्य भामहादि के मत का है। इनके अनन्तर ध्वनिविरोधी आचार्यों में कुन्तक तथा महिम उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों ने ध्वनिस्थापना के बाद उसका अन्तर्भाव वक्रोक्ति तथा अनुमिति में जानबूझकर किया था और रुद्रट तक के आचार्यों ने अनजाने। पहले हम भामह, दण्डी, वामन, उद्भट तथा रुद्रट के अनुसार ध्वनितत्त्व के अलंकारविभाग में अन्तर्भाव पर विचार करेंगे बाद में कुन्तक तथा महिम के मत का विश्लेषण करेंगे। ध्वनि या व्यंग्यार्थ तीन प्रकार का है—वस्तु. रस तथा अलंकार। प्रायः सभी अलंकारों की अनुभूति अभिधाव्यापार पर आश्रित है। अभिधा शब्द की प्रथमशक्ति है जो साक्षात् संकेतित अर्थ का अवगम कराती है। भाषा का प्रमुख प्रयोजन विचार का संप्रेषण या विनिमय है। अलंकृत अर्थ उक्तिवैशिष्ट्य है जो प्रभावोत्पादन, स्पष्टता तथा रामणीयक से चमत्कार या विच्छित्ति की सृष्टि करता है इसीलिए विच्छित्ति को ही अलंकार की परिभाषा भी मान सकते हैं—

अलंकारो हि विच्छित्तिः।

प्रतीयमान वस्तु उपर्युक्त अलंकारों में किसप्रकार अन्तर्भूत है ? अभिधेय केवल साक्षात् संकेतित अर्थ है। दूसरे अर्थ के अवबोध या वाच्यार्थ के साथ द्वितीयार्थ को सम्बद्ध बनाने की अभिधा में शक्ति नहीं। व्यंजना इन आचार्यों को मान्य नहीं है। स्वभावतः यह कहना होगा कि लाक्षणिक अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रतीयमान अर्थ का अवबोध होता है, जो अन्ततः काव्यार्थ का उपस्करण करता है।

लोक तथा साहित्य में अनेक ऐसे प्रयोग मिलते हैं चाहे वह रूढ़ि के

की व्याख्या भिन्न हैं। वे हैं—

(क) आदिशब्दात् लाटानुप्रासपरिग्रहः। —संजी०।

(ख) आदिशब्दः प्रकारे तेनानिष्टविध्याभासादेपादेग्रहणम्। —वि० पृ० ६।

(ग) आदिग्रहणाद् विशेषोक्तौ। —समुद्र० पृ० ५।

कारण हों या किसी प्रयोजन को लेकर, जिनमें मुख्यार्थ अनुपपन्न होता है, वाच्यार्थ की वाक्यार्थ से संगति नहीं बैठती। इस अनुपपत्ति या असंगति का समाधान करने के लिए विभिन्न सम्बन्धों के आधार पर वाच्यार्थ से सम्बन्ध होने पर भी वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। यही लक्षणा का स्वरूप है[1]। कवि की यह लाक्षणिक अभिव्यक्ति लोक की भांति प्रयोग-परम्परा (रूढ़ि) के कारण तो होती ही है पर मेरी दृष्टि में अभिव्यक्ति को सामर्थ्य और सौन्दर्य प्रदान करने के लिए, अतिशय की प्रभावात्मक प्रतीति के हेतु कवि विशेषतः लक्षणाभंगी का सहारा लेता है। छोटे कवि के लाक्षणिक प्रयोग कविपरम्परा की पिटी हुई रथ्या में चलते रहते हैं किन्तु महाकवि, चाहें वे आज के हो या प्राचीन, नित नवीन लाक्षणिक प्रयोगों को सदा माध्यम अपनाते रहे हैं। आधुनिक साहित्य में इसीने प्रयोगवाद और प्रतीकयोजना जैसे बहुत कुछ नवीन माध्यम को जन्म दिया है। योंतो कुशल कवि अभिधा के माध्यम से—प्रमुख शब्दशक्ति के सहारे—सारे भाव और वस्तु का अभिधान कर सकता है पर अभिधेय अभिव्यक्ति की सीमाएं भी हैं। अभिधा के तल पर कवि जब किसी अभिव्यक्ति में सौन्दर्य नहीं ला पाता तो लक्षणा की ऊर्ध्वगति से रमणीय या चमत्कारी अर्थ की अभिव्यक्ति संभव हो जाती है। यही कारण है कि अनेकधा कवि जानबूझकर अर्थ पैदा करता है। यह असंगति नवीन अर्थ की वर्षा करती है। यही स्थिति लक्षणा की है। उदाहरण लीजिए—गांव नदी में बसा है; चन्द्रमुखी की मुखसुधा को पान कर नयनचकोर नहीं अघाते; प्रियतमा ने अपनी दुग्धकुल्या दृष्टि से प्रियतम को स्नान कराया। इन सभी प्रयोगों में अभिधेयार्थ की दृष्टि से असंगति स्पष्ट है। किन्तु अभिधा को छोड़ कर लक्षणा के स्तर पर इन प्रयोगों का अभिव्यक्तिसौन्दर्य स्पष्ट है। अनेक अलंकार कवि-प्रतिभा द्वारा प्रसूत इन्हीं लाक्षणिक प्रयोगों के विभिन्न नाम हैं। कुछ अलंकारों की चर्चा के पूर्व लक्षणा की द्विविध भंगी की चर्चा कर लेना आवश्यक है। दो उदाहरण लीजिए। एक है 'कुन्ताः प्रविशन्ति' या भाले घुस रहे हैं। दूसरा है 'गंगायां घोषः' या गंगा में अहीरों का गांव बसा है। न तो भाले प्रवेश कर सकते हैं और न गंगा में गांव बस सकता है अतः यहाँ मुख्यार्थ असंगत है, अनुपपन्न है या बाधित है। प्रथम प्रयोग में लक्षणा के सहारे भाले वाले

---

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रुढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥
—का० प्र० २।९।

(कुन्तिनः) इस अर्थ का अवबोध होता है या दूसरे शब्दों में वाच्यार्थ संगत बनने के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप कर लेता है। इसे 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' कहा जाएगा। दूसरे उदाहरण (गंगायां घोषः) में अहीरों का गांव गंगातट पर है इस अर्थ को बताने के लिए गंगा ने अपना अर्थ छोड़ दिया है या यों कहिए कि दूसरे अर्थ को संगत बनाने के लिए वाच्यार्थ अपने अर्थ का समर्पण कर देता है। इसे 'परार्थं स्वसमर्पणम्' कहा जाएगा। इन्हीं दो माध्यम के आधार पर रुय्यक के अनुसार हमें प्राचीन आचार्यों के इस मन्तव्य का अनुशीलन करना पड़ेगा कि किस प्रकार अनेक अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ का अवबोध सम्भव हो पाता है। प्राचीन आचार्यों के दृष्टिकोण का अध्ययन करने के बाद ही सिद्धान्तपक्ष के अनुसार उनका खण्डन उचित होगा।

पर्यायोक्त

गम्य होने पर भी जब किसी बात को भंग्यन्तर से अभिधा से कह दिया जाए तो पर्यायोक्त अलंकार कहलाता है[1]। अगर कहीं कारण का वर्णन अभीष्ट है पर उसकी जगह कार्य का वर्णन हो तो वही कारण के वर्णन की भंगी (प्रकार) बन जाती है। उदाहरण लीजिए—

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः।
सावज्ञं पारिजातस्य मंजर्यो यस्य सैनिकैः॥

इस पद्य में स्वर्ग की विजय का वर्णन अभीष्ट है पर अभिधान हुआ है सैनिकों द्वारा पारिजात की मंजरी के मर्दन का। पर गम्य अर्थ स्वर्ग विजय (कारण) कार्य (मंजरीमर्दन) से सम्बद्ध होने के नाते अभिधानविधा में आ जाता है। कार्यरूप अर्थ अपनी सिद्धि के लिए कारण की अपेक्षा करता है। अतः यहां परार्थ स्वसमर्पण है।

अप्रस्तुतप्रशंसा

सामान्यविशेषभाव आदि के आधार पर जहाँ अप्रस्तुत से प्रस्तुत का

---

१. गम्यस्यापि भंग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्।

—अ० स० पृ० १४१ तथा देखिए वृत्ति।

उद्भट का पर्यायोक्तलक्षण प्रतीयमान वस्तु के गर्भीकार की अस्पष्ट किन्तु समर्थ सूचना है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

प्रत्यायन होता है उसे आलंकारिक अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार मानते हैं[1]। कवि 'प्रहस्त' के विनाश का वर्णन करते हुए लिखता है—

नियतिगृहिणी ने अपने प्रिय पथिक काल के लिए ऐसी कोई चीज नहीं जिसे पाथेय रूप में न बनाया हो[2]। वर्णन तो यहां एक विशेष राक्षस (प्रहस्त) के विनाश का प्रस्तुत है किन्तु कवि एक सामान्य सिद्धान्त की चर्चा कर देता है। पाठक स्वभावतः इस सामान्य के अभिधान से, प्रसंग की सहायता लेकर, विशेष अर्थ को भी समझ लेता है। अभिधेय अर्थ की प्रासंगिकता प्रतीयमान की गर्भित अभिव्यक्ति में है। यहां भी स्वसिद्धि के लिए परार्थ के प्रति अभिधेय का आत्मसमर्पण है।

समासोक्ति

रजनी के प्रारम्भ का वर्णन पाणिनि के शब्दों में देखिए—'राग' भरे चन्द्र ने चपल 'तारक' वाली रजनी का मुख यों पकड़ा कि तिमिरवसन खिसक जाने पर भी 'राग' के कारण वह जान ही न पाई।[3] इस प्रकार के काव्य-सौन्दर्य की व्याख्या भामहादि आचार्यों ने इसमें समासोक्ति अलंकार मानकर की है। भामह ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणैः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः॥
—भामहालंकार, २।७९।

आगे चल कर रुय्यक ने इसी का सूत्रण करते हुए लिखा है—

विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।

विशेषणसाम्य (इसमें कार्य तथा लिंग का साम्य भी संगृहीत है) से जहाँ अप्रस्तुत गम्य हो उसे समासोक्ति कहेंगे। ऊपर के उदाहरण में राग भरे, चपल तारक वाली आदि ऐसे विशेषण हैं, तथा इस प्रकार के कार्य का वर्णन है जो पाठक को नायक-नायिक के व्यवहार (अप्रस्तुत वृत्तान्त) का अनुभव कराए

---

१. अ० स० पृ० १३२-३३।
२. अ० स० पृ० १३३।
३. उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥
—अ० स० पृ० १०९।

विना विश्रान्त नहीं होता। यह अप्रस्तुत अर्थ गम्य है पर है वह उक्ति की विधा में ही।

आक्षेपादि अलंकार

आक्षेपालंकार को लीजिए। विशेषाभिधान की दृष्टि से जहाँ कहना चाहते हुए भी बात का प्रतिषेध-सा (निषेधाभास) किया जाता है उसे आक्षेपालंकार कहते हैं। यह निषेध कहीं आगे कही जाने वाली बात का होता है और कहीं पहले कही हुई बात (उक्त) का।[1]

रुय्यक के अनुसार आक्षेप के दो भेद हैं। एक में निषेधाभास विधि का और दूसरे में विध्याभास निषेध का आक्षेप कर लेता है। प्रकृतार्थ में निषेध या विधि रूप अर्थ अनुपपन्न होता है अतः आक्षेपलभ्य द्वितीय अर्थ में प्रथमार्थ (अभिधेय) का आत्मसमर्पण मानना होगा। इस प्रकार अक्षेपालंकार को 'परार्थं स्वसमर्पणम्' की भंगी में रखना पड़ेगा। प्रवास के लिए उत्सुक पथिक से प्रणयिनी कहती है—

क्या कहूं? अच्छा कहती हूं; अथवा कहने से क्या लाभ; तथापि कहना तो है ही; कह ही न दूं; अथवा क्या तुम से कह नहीं दिया?[2] यहाँ मालूम तो पड़ता है कि कथन का प्रतिषेध है पर यह प्रतिषेध अनुपपन्न है, स्वार्थ में विश्रान्त नहीं है फलतः वाच्यार्थ 'मैं तुम्हारे विरह में मर जाऊंगी, अथवा मर रही हूं, मर ही गई हूं' इस प्रतीयमान अर्थ में पर्यवसित होता है। प्रतिषेधाभास के भणितिसौन्दर्य में विधिसौन्दर्य भी समाहित है।

---

१. प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥ —भामहालंकार, २।६८।
भामह के लक्षण से वामन का आक्षेपलक्षण भिन्न है। अन्तिम के अनुसार उपमान का आक्षेप (उपमानस्याक्षेपः—का०अ० सू० ४-३-१७) आक्षेपालंकार है। रुय्यक ने भामह का अनुसरण किया है वामन का नहीं। वामन का आक्षेप वस्तुतः अर्वाचीन आलंकारिकों का प्रतीप अलंकार है।

२. किं भणिमो भण्णइ किंत्ति अध किं वा इमेण भणिएण।
भण्णिहिसि तहवि अहवा भणामि किं वाण भणिओसि॥
—वि० पृ० ४-५।

व्याजस्तुति में स्तुति या निन्दा के अभिधान से निन्दा तथा स्तुति की प्रतीति हो जाती है।

आज के प्रभु वस्तुतः प्रभु हैं, पुराने प्रभुओं की भी कोई प्रभुता थी ? ये ही प्रभु तो दोष को गुण और गुण को दोष बना पाते हैं पुरानों में कहाँ इस प्रकार का सामर्थ्य था।[1]

यहाँ वैसे तो अर्वाचीन प्रभुओं की स्तुति है पर है वह अनुपपन्न अतः निन्दा में पर्यवसित है। इसीप्रकार पुराने प्रभुओं की निन्दा की अर्थ-विश्रान्ति स्तुति में होती है। निन्दा या स्तुति की यह प्रतीयमानता प्राचीन आचार्यों के अनुसार वस्तुतः व्याजस्तुति (वाच्यअलंकार) की ही कुक्षि में अन्तर्निहित है।

इसी प्रकार जब कवि उपमेय को ही उपमान बना लेता हैं तब उपमेयान्तर के विरह की प्रतीति उपमेयोपमा[2] में होती है। जब उपमेय और उपमान एक ही होता है अर्थात् अनन्वय में जब द्वितीय सदृश के व्यवच्छेद की प्रतीति होती है तो प्राचीन आचार्यों के अनुसार यह प्रतीति या गम्यार्थ अलंकार की ही परिधि में अंग है इससे व्यतिरिक्त नहीं है। इस प्रकार प्राचीन आलंकारिकों के पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति आदि के लक्षण तथा उदाहरण के विश्लेषण से इतना तो स्पष्ट है कि भामहादि प्रतीयमान अर्थ की अनुभूति करते थे और उन्होंने उसे अलंकार-परिभाषा में समाविष्ट करने का प्रयास किया था।

रुद्रट ने जिस भावालंकार का निरूपण किया है उसकी भी यही स्थिति है। रुद्रट के अनुसार वस्तु दो प्रकार की है—गुणीभूत तथा अगुणीभूत। दोनों प्रकार की वस्तु अलंकाररूप है और इसप्रकार वाच्योपस्कारक होती है। गुणीभूत वस्तु 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' के द्वारा वाच्य की उत्कर्षक होती है और अगुणीभूत वस्तु परार्थ के प्रति स्वसमर्पण के द्वारा। इसी दृष्टिकोण को लेकर रुद्रट ने भावालंकार को दो प्रकार का बताया है। कुछ टीकाकारों ने भावालंकार वाच्य तथा प्रतीयमान के रूप में दो प्रकार का होता है अर्थात् जहाँ निर्वेदादि भाव वाच्य होते हैं वहाँ तो भावालंकार व्यंग्य या प्रतीयमान होता है, यह व्याख्या की है। पर यह रुद्रट के मन्तव्य से भिन्न है—उनके ग्रंथ के

---

१. इहिएं पहुणो पहुणो पहुत्तणं किं चिरन्तनपहूण।
गुणदोसा दोसगुणा एहिं कआ णहु कआ तेहिं॥ —वि० पृ० ५।

२. देखिए अन्तिम अध्याय।

प्रतिपादन से असंगत है।[1] भाव का अर्थ है वह जिससे अभिप्राय का निश्चय हो।[2] प्रतीयमान वस्तु का प्राधान्य होने के नाते वह वाच्योपस्कारक नहीं हो सकती और रुद्रट अन्ततः भावालंकार को वाच्योपस्कारक ही मानते हैं। गुणीभूत वस्तु या भावालंकार के प्रथम भेद में कार्य द्वारा कारण का आक्षेप होता है और दूसरे में अभिधेयार्थ अर्थान्तर की प्रतीति करा देता है। प्रथम भावालंकार का लक्षण है—

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥[3]

यदि किसी अनैकान्तिक कारण के द्वारा उत्पन्न कार्य अपने सम्बन्धी के अभिप्राय की प्रतीति कराता है, तथा अपने में और उस कारण में कार्यकारणभाव सम्बन्ध स्थापित करता है तो वह भावालंकार होता है। जैसे—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमंजरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥

—का० अ० पृ० ८३।

अशोक पुष्प की नवीन मञ्जरी को हाथ में लिए हुए ग्रामयुवक को देखकर तरुणकामिनी की मुखकान्ति अत्यन्त फीकी पड़ जाती है। यहां कार्य या विकार है मुखमालिन्य, उससे तरुणी का मनोभाव कि मैंने अशोक के लता-भवन में भेंट करने का इस ग्रामयुवक से संकेत किया था पर अनेक कार्यों में फंस जाने से मैं वहा न जा सकी फलतः मुझे मिलनसुख से वंचित रहना पड़ा, व्यक्त हो जाता है। इसी मुखमालिन्य विकार (कार्य) से यह भी प्रतीत हो जाता है कि इस कार्य का हाथ में ली हुई अशोक पुष्प की नवीन मंजरी-रूप

---

१. यत्त्वत्रान्यैर्भावैनिर्वेदादिभिरुपलक्षितो वाच्यप्रतीयमानत्वेन द्विविधो भावालंकारो व्याख्यातस्तदुत्सूत्रमेव। रुद्रटेन तथात्वेन तस्याप्रतिपादनाद्।

—वि० पृ० ६।

२. भवत्यस्मादभिप्रायनिश्चयः......। —नमिसाधु, पृ० ८३।

३. नमिसाधु की टीका यहां उल्लेख्य है—

यस्य विकारवतो येनाप्रतिबद्धेनानैकान्तिकेन हेतुना विकारः कार्यं प्रभवन्नुत्पाद्यमानस्तस्यविकारवतः सम्बन्धिनमभिप्रायं प्रतिपत्तुर्गमयति, तथा स एव विकारस्तयोर्विकारहेतुविकारयोः प्रतिबन्धं च कार्यकारणभावं गमयति, असावेवंरूपो भावनामकालंकारो भण्यते।

—नमिसाधु टीका, का० अ० पृ० ८२-८३।

कारण के साथ कार्यकारण सम्बन्ध है। पर यह कारण है अनैकान्तिक क्योंकि नवमंजरी को हाथ में देखकर सदा मुखमालिन्य नहीं होता। दूसरा भावालंकार वहाँ होता है जहां एक वाक्य वाच्यार्थ को कहने के साथ अपने से भिन्न अर्थान्तर की प्रतीति कराता है।[१] जैसे—

एकाकिनी यद्‌बला तरुणी तथाह—
मस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी,
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ ॥—का० अ० ७।४१।

अयि मूढ़ पथिक। तुम यहाँ रहने के लिये भला जगह किससे मांग रहे हो। मैं तो अबला ठहरी—तरुणी और एकाकिनी। इस घर का स्वामी भी विदेश चला गया है। मेरी सास का तो हाल ही न पूछो वह अन्धी भी है और बहिरी भी।

यहां पर वाच्यार्थ वासनिषेधपरक है पर तरुणी प्रमदा का उपर्युक्त कथन रहने का आमन्त्रण-सा देता है। अस्तु, वाच्यनिषेध से भिन्न विधिरूप अर्थान्तर की प्रतीति होने के नाते, यहाँ भावालंकार है। पहले उदाहरण में मुखमालिन्य-रूप वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आश्रय लिया गया था, और इस उदाहरण में विधिरूप अर्थान्तर के प्रति निषेधरूप अर्थ स्वार्थ का समर्पण कर देता है। इस प्रकार एक जगह तो **'स्वसिद्धये पराक्षेपः'** है और दूसरी जगह **'परार्थे स्वसमर्पणम्'**।

आचार्य आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त अलंकारों में से कतिपय के अतिरिक्त विशेषोक्ति[२] और संकर का संग्रह भी किया है। पर्यायोक्तवर्ग के (पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, अनन्वय) अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ वस्तुरूप होता है। विशेषोक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात है। समग्र कारणों के रहते हुए कार्य का अनुत्पन्न रहना विशेषोक्ति है—

कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः। —अ० स० पृ० १६०।

---

१. अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ॥ —वहीं, ७।४०।

२. समुद्रबन्ध भी रुय्यक के आदि पद से इसी का ग्रहण, ध्वनिकार के अनुसार, करते हैं।

समग्र कारण के रहते हुए कार्य या फल उत्पन्न नहीं होता यह उक्ति विशेषार्थ की अभिव्यक्ति या भामह के शब्दों में विशेषप्रथन[1] के लिए होती है। इसके तीन भेद हैं उक्तनिमित्ता, अनुक्तचिन्त्यनिमित्ता तथा अनुक्ताचिन्त्य-निमित्ता। इनमें से प्रथम तथा अन्तिम भेदों में व्यंग्य का सद्भाव ही नहीं होता। द्वितीयभेद अनुक्तचिन्त्यनिमित्ता में अवश्य व्यंग्य की प्रतीति होती है। प्रियतमा से विदा लेकर प्रस्थान करने वाला पथिक मार्ग में रात आने पर सो जाता है। प्रभात हो चुका है। उस पथिक को उसके साथी पुकार लगाते हैं पर उसे देखिए—

आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति॥

गुहार लग चुकी है, पथिक हाँ भी कह चुका है, निद्रा भी नहीं है, आगे जाना भी चाहता है किन्तु शैथिल्य नहीं छोड़ पा रहा है। सब कारण उपस्थित हैं किन्तु संकोचशैथिल्य-रूपी कार्य उत्पन्न नहीं हुआ। पाठक प्रकरण की सहायता से प्रतीति कर लेता है कि पथिक का प्रियतमा से स्वप्नसमागम हुआ होगा। यह निमित्त (कारण) अनुक्त है पर अचिन्त्य नहीं है, क्योंकि उसकी सहज ही प्रतीति हो जाती है। इन सभी अलंकारों में उनके उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि इनमें व्यंग्य की प्रतीति अवश्य होती है पर वह प्रधान नहीं होता, वाच्य के साथ अनुगत होता है, वाच्योपस्कारक होता है; स्वभावतः प्रधानतया प्रतीति वाच्यार्थ की होती है, व्यंग्यविशेष का आक्षेप करने के बाद भी वाच्यार्थ ही चारु होता है। उत्कर्ष वाच्य की चारुता में ही रहता है, व्यंग्यार्थ की चारुता में नहीं।

अभीतक हम प्रतीयमान वस्तु को गर्भित करने वाले अलंकारों की चिरन्तन आचार्यों के अनुसार चर्चा कर रहे थे। प्रतीयमान अलंकार भी इन

---

१. भामह का लक्षण—

एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता॥

मम्मट तथा विश्वनाथ ने 'कार्य' के स्थान पर 'फल' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु अर्थ में कोई अंतर नहीं आता। उनके लक्षण हैं—

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः। —का० प्र० १०।१०८।
सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिः। —सा० द० १०।६७।

आचार्यों को वाच्यालंकार के रूप में ही अभीष्ट था। सादृश्याश्रय सभी अलंकारों में उपमातत्त्व रहता है।[१] भामह 'अन्तर्गतोपमाधर्माः' शब्दों से दीपक का निरूपण करते थे, अपह्नुति में वे अन्तर्गतोपमा[३] से परिचित थे; दण्डी ने रूपक को 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते' कहा था, रुद्रट ने अलंकारों को औपम्य के अंतर्गत वर्गीकृत किया था।[४] इस प्रकार अलंकारान्तर की प्रतीयमानता से परिचय इन सभी आलंकारिकों को था। आनन्दवर्धन ने भट्टोद्भट के मत का उल्लेख करते हुए इनके मत का यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽप्यन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। तथाच सन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितम्······ —ध्वन्या० पृ० १६१।

पर इन सभी अलंकारों को वे वाच्योपस्कारक मानते थे।[५] स्वभावतः प्रतीयमान अलंकार का गर्भीकार भी वाच्यालंकार की ही कोटि में होता था।[६]

वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि को वाच्यालंकार की सीमा में बांधना उतना आश्चर्यजनक नहीं लगता जितना कि रसध्वनि को जो सदा ध्वनि ही है। पर प्राचीन आलंकारिक समग्र काव्यसौन्दर्य की व्याख्या अलंकार द्वारा ही करना चाहते थे। अतः रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास के निबन्धन में उन्होंने रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वि तथा समाहित अलंकारों का निरूपण किया है।[७]

---

१. देखिए अंतिम अध्याय।

२. भामहालंकार, ३।१४।

३. अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा। —वहीं, ३।२२।

४. काव्यालंकार—८। २-६।

५. रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलंकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। —अ० स० पृ० ६-७।

६. अलंकारस्यापि प्रतीयमानस्य वाच्योपस्कारकत्वं प्रतिपादयति। —वि० पृ० ७।

७. इनके लक्षण, उदाहरण और विश्लेषण के लिए देखिए—
अ० स० पृ० २३२, २३८ तथा उनपर टीका, तथा वि० पृ० ८।

इस प्रकार पर्यायोक्त आदि में प्रतीयमान वस्तु, रूपकादि में प्रतीयमान अलंकार तथा रसवदादि में रस का अन्तर्भाव[1] करने वाले प्राचीन आलंकारिक अलंकार को ही काव्य में प्रधान मानते थे—

तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।

—अ० स० पृ० ६।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिविषयक विप्रतिपत्तियों को तीन कोटि में बांटा[2] है—अभाववाद, भाक्तवाद तथा अनिर्वर्णनीयतावाद। ध्वनिविरोधी इन तीन पक्षों में से प्रथम अभाववादी पक्ष के भी तीन विकल्प ध्वनिकार ने प्रस्तुत किए हैं। प्रथम विकल्प के अनुसार काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है। शब्दगत चारुता के हेतु अनुप्रासादि शब्दालंकार हैं और अर्थगत के उपमादि अलंकार। वर्णसंघटना की चारुता माधुर्य गुण आदि से व्याख्यात होती है। इस प्रकार गुण और अलंकार से भिन्न शब्दार्थशरीर काव्य का दूसरा कोई चारुताहेतु नहीं माना जा सकता। वैदर्भी आदि रीतियां तथा नागरिका आदि वृत्तियां गुण और अलंकार के अतिरिक्त नहीं हैं। फिर इन सबसे परे ध्वनि के लिए क्या स्थान है?[3] शब्दार्थौ काव्यम् के प्रसिद्ध मार्ग को छोड़ कर ध्वनि का आतानवितान करना, उसे काव्य बताना, ग्राह्य नहीं हो सकता, यह दूसरा विकल्प है। तीसरे विकल्प के अनुसार यदि ध्वनि कोई शोभाकारी तत्त्व है तो उसका गुण, अलंकार आदि में ही अन्तर्भाव करना होगा। यदि ध्वनि इन्हीं में से किसी एक का नाम मान लिया जाता है तब तो नाम बदलने भर का पाण्डित्य है और यदि ध्वनि अप्रदर्शित कोई प्रकारविशेष हो तब भी ध्वनि का नाम

---

१. पर्यायोक्तादौ वस्तु, रूपकादावलंकारः रसवदादौ रसः।
तदेवं चिरन्तनैः प्रतीयमानस्यालंकारान्तभर्वा एव तावदुक्तः।

—वि० पृ० ८

२. ···तस्याभावं जगदुरपरे, भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्॥ —ध्वन्या० १।१

३. तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्। तत्र शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशितास्ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तःकोऽयं ध्वनिर्नामेति।

—ध्वन्या १।१ पर वृति

लेकर नर्तन करने लग जाना समीचीन नहीं है क्योंकि वाग्विकल्प अनन्त हैं उनमें से किसी एक प्रकारविशेष का प्रकाशन कोई बड़ी बात नहीं हैं। भामह से लेकर सदा एक न एक नवीन अलंकार का आविर्भाव होता ही चला आ रहा है। यह अभाववाद की विकल्पत्रयी है।[1] ये तीनों ही पक्ष काव्य की परिभाषा **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्** मानकर चले हैं। अलंकार और गुण इनके अनुसार काव्य के कामनीयक की व्याख्या करने में समर्थ हैं अतः ध्वनि को चारुताहेतु मानने पर भी उसे गुणालंकार से भिन्न नहीं माना जा सकता है और जैसा कि कुछ अलंकारों के विश्लेषण से स्पष्ट है प्रतीयमानता का सौन्दर्य वाच्यालंकार के सौन्दर्य में समाहित है। एकावलीकार के शब्दों में अलंकारवादी का तर्क इस प्रकार है—

अथ लब्धसत्ताक एव ध्वनिस्तथापि यदि न करोति काव्यस्य कामनीयकम् तर्हि किमनेन अजागलस्तनायमानेन। उतस्वित् करोति, तर्हि गुणालंकारान्तर्भूत एव। तथाविधस्य च नामान्तरकरणनैपुण्यं कियन्नाम। अत्रानुमानमपि। ध्वनिर्गुणालंकारेभ्यो न व्यतिरिच्यते चारुताहेतुत्वात् यदेभ्यो व्यतिरिच्यते न तच्चारुताहेतुः। अविमृष्टविधेयांशादिदोषवत्, चारुताहेतुश्च ध्वनिः। ततो न व्यतिरिच्यते तेभ्य इति। —एका० पृ० २७-२८।

---

१. अभिनवगुप्त के लोचन का प्रकृतांश यहाँ अविकल रूप से उद्धृत कर देना आवश्यक है—

तत्र अभावविकल्पस्य त्रयः प्रकाराः (अ) शब्दार्थगुणालंकाराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वात् लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थमयस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येकः प्रकारः। (ब) यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः। (स) अथ शोभाकारी भवति तर्हि अस्मदुक्त एव गुणेऽलंकारे वान्तर्भवति, नामान्तरकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम्। अथाप्युक्तेषु गुणेष्वलंकारेषु वा नान्तर्भावः तथापि किञ्चिद्विशेषलेशमाश्रित्य नामान्तरकरणम्, उपमाविच्छित्तिप्रकाराणामसंख्यत्वात्। तथापि गुणालंकारव्यतिरिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं कृतम्? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्योत्प्रेक्षत्वात्। चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालंकारत्वेनेष्टे तत्प्रपंचदिक्प्रदर्शनं तु अन्यैरलंकारकारैः कृतम्। तद्यथा 'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकाराद्युदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेक्ष्यन्ते। तावता क आत्मनि बहुमानः। एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। —लोचन, पृ० १४-१५।

पर्यायोक्त आदि जिन अलंकारों में गम्यार्थ निहित है उसका ग्रहण रुय्यक के अनुसार प्राचीन आचार्य 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' तथा 'परार्थं स्वसमर्पणम्' की द्विविध भंगी से करते थे। ध्वन्यालोककार ने 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' द्वारा उनके इस मत को भक्तिवादी माना है।[1] भक्ति शब्द का प्रयोग आनन्दवर्धन ने लक्षणा तथा गौणी वृत्तियों के लिए किया है। अभिनवगुप्त की व्याख्या (लोचन) के अनुसार भक्ति शब्द की त्रिविध व्युत्पत्ति[2] लक्षणा के तीन बीज मुख्यार्थबाध, सम्बन्ध तथा प्रयोजन का ग्रहण करा सकती है। ध्वनिवादी का व्यंजक शब्द अलंकारवादी का लाक्षणिक शब्द है, व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ है तथा व्यंजना व्यापार उनके लिए लक्षणा व्यापार है। भामहोद्भट के मत का यह विश्लेषण रुय्यक और आनन्दवर्धन के अनुसार प्रस्तुत किया गया है।

ध्वनिकार से पूर्व के आचार्य भले ही ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य आदि शब्दों से ध्वनितत्त्व की चर्चा न करते हों पर विभिन्न अलंकारों के निरूपण में ध्वन्यालोक द्वारा विवेचित गुणीभूतव्यंग्य के अनेक भेदों का प्रकारान्तर से उन्होंने निरूपण किया था, इतना तो निर्विवाद है। पर्यायोक्त आदि की कुक्षि में वे व्यंग्य वस्तु को डालना चाहते थे क्योंकि ध्वन्यर्थ की अनुभूति तो वास्तविक है, आदिकवि वाल्मीकि के काव्य से लेकर आजतक के काव्य में उसका साम्राज्य परिलक्षित होता चला आ रहा है। इस अनुभवसिद्ध अर्थ का अपलाप अलंकारवादी साहित्यसमीक्षक भी न कर सकते थे। हाँ, यह अवश्य है कि न तो उन्होंने ध्वनिशब्द[3] के द्वारा इस तत्त्व को हृदयंगम किया था और

---

१. आनन्दवर्धन का यह मत लोचन के अनुसार अन्य आलंकारिकों के निम्नलिखित विश्लेषण पर आश्रित है—
भामहेनोक्तम्—शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः (काव्यालंकार, १।९) इति अभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्चेति। वामनोऽपि सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति।
—लोचन, पृ० ३२।

२. (अ) मुख्यस्य चार्थस्य भंगो भक्तिः।
(ब) भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः।
(स) भक्तिः प्रतिपाद्यते सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः।

३. देखिए—रसग० (निर्णयसागर) पृ० ९९४-९९।

न आत्मा के रूप में उसे पहिचान पाए थे। चार्वाक की भाँति वे इसे शब्दार्थ-शरीर से अपृथग्भूत ही मानते थे—

वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे— —लोचन पृ० ४५।

किन्तु काव्य का शरीर शब्दार्थ है, इसमें शरीर शब्द का उपादान ही इस ओर संकेत है कि इसकी अनुप्राणक आत्मा इनसे परे है, वह आत्मा ध्वनि है। शब्द, अर्थ अपने को गुणीभूत करके जहाँ प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वही काव्य ध्वनिकाव्य है। उपमा आदि अर्थालंकार तथा अनुप्रासादि शब्दालंकार केवल वाच्य और वाचक की चारुता के हेतु हैं। अलंकार का अलंकारत्व भी तभी सार्थक है जब वह वाच्यवाचक के उपस्करण द्वारा काव्यात्मा का उपस्करण करे। इस दृष्टि से लौकिकालंकार और काव्यालंकार में भेद भी है। हारादि का अलंकार्य के साथ केवल संयोग सम्बन्ध होता है, स्वभावतः लौकिकालंकार अलंकार्यपरतन्त्र नहीं होते। उनका यथारुचि विन्यास और संन्यास सम्भव है। उससे शरीर या आत्मा को कोई क्षति नहीं पहुँचती। किन्तु काव्यालंकार का शब्दार्थ से संयोग सम्बन्ध नहीं है, शब्दार्थ की भणितिभंगी शब्दार्थ के साथ समवेत है, संयुक्त नहीं। अलंकार इसप्रकार अयुतसिद्ध हैं।[२] रुय्यक का कहना है कि लौकिकालंकार और काव्यालंकार का वैधर्म्य अन्तिम का सनातन अलंकार्य-पारतन्त्र्य[३] सूचित करता है। उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि अलंकार का सम्यक् स्वरूप-निर्धारण अलंकार्यपरतन्त्रता द्वारा ही किया जा सकता है। अलंकार्यपारतन्त्र्य के विना स्वयं में काव्यालंकार अनलंकार हैं—

---

१. शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यमिति यदुक्तम् तत्र शरीरग्रहणादेव केनचिदात्मना भाव्यमेव। —लोचन पृ० ४३।

२. वि० पृ० २०।

३. लौकिकालंकारवैधर्म्येण काव्यालंकाराणामलंकार्यपारतन्त्र्यध्वननार्थम्। —अ० स० पृ० २०।

श्रीविद्याचक्रवर्ती की व्याख्या इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है—

लौकिकालंकारवन्न काव्यालंकाराणामलंकार्यपृथग्भावेनाप्यवस्थानसम्भवः अपितु नियमेन काव्यपारतन्त्र्यमेव। —संजी० पृ० २८-२९।

अलंकारस्य खलु अलंकार्यपरतन्त्रतया निरूपणे क्रियमाणे सुष्ठु स्वरूपं निरूपितं भवति स्वात्मनि अवस्थितस्य तस्यानलंकारत्वात्, समुद्गकस्थित-हारकेयूरपारिहार्याद्यलंकारवत् । —लघुवृत्ति, पृ० २ ।

इस प्रकार अलंकार (और गुण) सदा वाच्य और वाचक पर आश्रित है या यों कहिए कि अभिधा पर जब कि ध्वनि वाच्यवाचकभाव से व्यतिरिक्त व्यंग्य-व्यंजकभाव पर आश्रित है अतः अन्तिम का प्रथम में अन्तर्भाव संभव नहीं है—

गुणालंकाराणां वाच्यवाचकभावप्राणत्वात् अस्य च तदन्यव्यंग्यव्यंजक-भावसारत्वात् नास्य तेष्वन्तर्भावः । —लोचन[1], पृ० १०६ ।

ध्वनिवादी रुय्यक ने व्यंग्यार्थ को जीवित माना है जो कभी भी अलंकार नहीं बन सकता । अलंकार सदा उपस्कारक रहते हैं तथा रसादि प्रधान होने के नाते उपस्कार्य—

तस्माद् विषय एव व्यंग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः । यस्य गुणालंकार-कृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम् । रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः । अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद् रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात् ।[2]

—अ० स० पृ० १३-१४ ।

जयरथ का कथन है कि मुख्य वृत्ति से अलंकार का व्यपदेश तभी कर सकते हैं जब वे रसादिरूप व्यंग्य अर्थ का उपस्करण करें क्योंकि वही अलंकार्य रूप में प्रतिष्ठित है । जहां स्फुट व्यंग्यार्थ न रहने के नाते अलंकार केवल शब्दार्थ-मात्रनिबन्धन होते हैं वहां केवल उनका उक्तिवैचित्र्य के रूप में उपयोग है, क्योंकि जैसा कि लोचनकार का कहना है उपमा आदि भले ही वाच्यार्थ का उपस्करण करें किन्तु उनका अलंकारत्व इसी बात में है कि वे वाच्यार्थ को अभिव्यक्ति का समर्थ माध्यम बना सकें । कटक, केयूर आदि लौकिकालंकार का शरीर से सम्बन्ध अवश्य है किन्तु वे अन्ततः उपस्करण आत्मा का ही करते हैं । अचेतन शव को कितना भी भूषण से लाद दें पर आत्मा के अभाव में भूषण निर्भूषण ही हैं । 'मैं अलंकृत हूं' इस प्रकार के प्रयोग भी यही सूचित करते हैं कि अलंकार्य परमार्थतः 'अहम्' या आत्मा है, शरीर नहीं । इसप्रकार अलंकार वाच्यवाचक में चारुता का आधान अवश्य करते हैं पर उनका उद्देश्य तभी

---

१. ....वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषयः.... —ध्वन्या० १।१३ पर वृत्ति ।

२. देखिए—इस पर वि० पृ० १३-१४ ।

सफल है जब वे रसादि को अलंकृत करें।[1] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तुतः ध्वनि का अन्तर्भाव किसी भी प्रकार वाच्यवाचक की विधा में संभव नहीं है। पर्यायोक्त आदि अलंकारों में जो वस्तु प्रतीत होती है या दीपक, अपह्नुति आदि में उपमा का जो गर्भीकार है केवल उससे ध्वनि का प्रत्याख्यान सम्भव नहीं है। इन सब में प्रतीयमान की प्रतीति वाच्य के अनुगत रूप में होती है जबकि ध्वनि का वास्तविक स्वरूप है कि वह वाच्य से सदा अतिशायी होता है। वाच्यवाचक के सौन्दर्य का विनियोग ध्वनिसौन्दर्य में है। व्यंग्यव्यंजकभाव पर आश्रित ध्वनि को वाच्यवाचकभाव की सीमा में कैसे लाया जा सकता है? पुनश्च ध्वनि महाविषय है, अंगी है, अलंकार तदपेक्षया अल्पविषय और अंग हैं। जहां कहीं भी ध्वनि की प्राधान्येन प्रतीति होती है वहां प्रतीयमान वस्तु और प्रतीयमान अलंकार ही मानना होगा; उन्हें वाच्यालंकार में कदापि नहीं रखा जा सकता और जहांतक रसादि का सम्बन्ध है उनका अलंकारचारुत्व में परिग्रह सुतरां सदोष है[2]। प्रतीयमान को हम दो प्रकार का मान सकते हैं— लौकिक तथा काव्यव्यापारमात्रवेद्य। लौकिक प्रतीयमान जिसे वस्तु तथा अलंकार का नाम दिया जाता है कदाचित् स्वशब्दवाच्य हो भी सकता है किन्तु रस को स्वप्न में भी स्वशब्दवाच्य नहीं कहा जा सकता। वह लौकिक-व्यवहार से नहीं अपितु केवल काव्यव्यापार से संवेद्य है। अभिनव के इस सुन्दर विश्लेषण का (जिसका प्रतान परवर्ती अनेक आचार्यों ने किया है) अविकल उल्लेख करना समीचीन होगा—

तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः काव्यव्यापारैकगोचरश्चेति। लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते। स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधिः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलंकारभावमुपमादिरूपतयान्वभूत् इदानीं त्वनलंकाररूप एव, अन्यत्र गुणीभावाभावात् स पूर्वं प्रत्यभिज्ञानबलादलंकारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्। यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यतयाऽऽत्मेति। —लोचन पृ० ५०-५२।

१. देखिए—लोचन पृ० १६७-६८।

२. अ० स० पृ० १४।

इसप्रकार स्पष्ट है कि ध्वनि ही काव्यात्मा है। यही सहृदयावर्जक सिद्धान्त है।

तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृयानामावर्जकः। —अ० स० पृ० १३।

ध्वनिसिद्धान्त की इस स्थापना के अनन्तर हमारे सामने दो प्रश्न शेष हैं। क्या व्यंग्यार्थप्रतीति के लिए व्यंजना मानना आवश्यक है? और दूसरा प्रश्न है कि इस सिद्धान्त में अलंकार के लिए क्या स्थान है? जयरथ ने ध्वनि, प्रकरण के अनुसार व्यंजनाव्यापार, के विरुद्ध विप्रतिपत्तियों का उल्लेख करते हुए उन्हें बारह प्रकार का बताया है—

तात्पर्याशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा
अर्थापत्तिः क्वचित् तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः।
रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥[1]

—वि० पृ० ११।

इनका विश्लेषण इस प्रकार सम्भव है—

(१) तात्पर्य—मीमांसक। (२) अभिधा—प्राचीन-मीमांसक। (३-४) जहत्स्वार्था तथा अजहत्स्वार्था लक्षणा। (५-६) द्विविध अनुमान[2]—लिंग को देखकर लिंगी तथा लिंगी को देखकर लिंग का। उदाहरणतः कोकिलस्वर को सुनकर कोकिल का अनुमान तथा कोकिल को देखकर उसके स्वर का। (७) अर्थापत्ति—अनुमानवाद का ही प्रकारान्तर जो संभवतः उद्भट को अभीष्ट हो। (८) तन्त्र—वक्ता के इच्छानुकूल विभिन्न अर्थ। (९) समासोक्ति आदि—प्राचीन आलंकारिक। (१०) रसकार्यता—रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में उत्पत्तिवादी आचार्यों का मत जिसकी चर्चा अभिनवभारतीकार ने की है। (११) भोग—भट्टनायक का मत। (१२) व्यापारान्तरबाधनम्—वी०राघवन के अनुसार यह मत कुन्तक की वक्रोक्ति से सम्बद्ध है। वक्रोक्ति अलंकारपक्ष में ही अन्तर्भूत है अतः कुप्पुस्वामी शास्त्री ने इस मत को अनिर्वाच्यवाद माना है[3]। इनमें से अनेक मतों पर आनन्दवर्धन ने विचार किया है। इनके अतिरिक्त अखण्डतार्थतावादी

---

१. इस के लेखक का अभीतक पता नहीं चल सका है।

२. निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि द्विविध अनुमान से लेखक का क्या तात्पर्य था।

३. Bhoja's Sriṅgāraprakāśa, pp. 149-50.

वैयाकरणों आदि अनेक आचार्यों के मत का विश्लेषण काव्यप्रकाशकार ने पंचम उल्लास में किया है। इन सभी मतों की चर्चा केवल अनुवाद होगा अतः हम अत्यन्त संक्षेप में केवल भट्टनायक, कुन्तक तथा महिम के मतों की (जिनके मत का उल्लेख तथा खण्डन रुय्यक ने किया है) चर्चा करेंगे क्योंकि ध्वनिस्थापना के बाद ध्वनिविरोधी आचार्यों में ये ही तीन अग्रणी हैं।

साधारणीकरण और रसास्वाद के सम्बन्ध में भरतसूत्र के व्याख्याता भट्टनायक का मत एक विशेष सिद्धान्त का प्रतिनिधि होने के नाते साहित्य-शास्त्र में आदरणीय रहा है। भट्टनायक व्यापारप्राधान्यवादी हैं। इनके अनुसार काव्य का वेद और इतिहास से भेद व्यापार की प्रधानता से ही किया जा सकता है। वेदादि में जहां शब्द की प्रधानता होती है और इतिहास में अर्थतत्त्व की, वहां काव्य में दोनों गौण होते हैं और रसचर्वणारूप भोग व्यापार प्रधान होता है।[1] वैसे काव्य में तीन अंश होते हैं अभिधा, भावना तथा भोग।[2] व्यंजनाव्यापार को एक अतिरिक्त भेद प्रौढोक्ति से (क्योंकि वस्तुतः उसका लक्षण करना ही संभव नहीं है) मान भी लें तब भी उसे रसचर्वणारूप भोग व्यापार नहीं माना जा सकता है, जो काव्य में प्रधान होता है।

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यंजनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात् काव्यांशत्वं न रूपता॥

—वि० पृ० १०।

अभिधा से शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का सौन्दर्यबोध होता है। भावना से शृंगारादि रसों के अर्थ का भावन होता है।[3] भोग व्यापार इन दोनों से परे है, वह रसचर्वणारूप है, तथा सहृदय में वासनारूप से रहता है। काव्यभोग से व्याप्त सिद्धिमान् सहृदय को परब्रह्म के आस्वाद के समान रसानुभूति होना

---

१. शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः
अर्थतत्त्वेन युक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत॥ —वि० पृ० १०।

२. 'अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च' इति काव्यं तावत् त्र्यंशं तेनोक्तम्। —वि० पृ० ११।

३. अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः।
भावानाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः॥
—वि० पृ० ११ पर उद्धृत।

इसी का स्वरूप है स्वभावतः वह प्रधानतया विश्रान्तिस्थान है[1]—

तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः इति तृतीयोंऽशः सहृदयगतस्तदंशद्वयचर्वणात्मा 'दृश्यमानाथवा मोक्षे यात्वंगत्वमियं स्फुटम्' इत्युक्त्या परब्रह्मास्वादसविधवर्ती विश्रान्तिधामतयाभ्युपगतः। —वि० पृ० ११।

यह है भट्टनायक का मत। वस्तुतः यह अपने मत को अधिक वैज्ञानिक रूप न दे पाए थे। अभिधा के अतिरिक्त भावना और भोग नामक व्यापार का कोई शास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक आधार नहीं है। भावनाव्यापार का कार्य साधारणीकरण या भावना है किन्तु इतने के लिए अतिरिक्त व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः सहृदय की कल्पना-क्रिया द्वारा, उसकी अनन्त वासनाओं के प्रबोध द्वारा ही भावन की व्याख्या संभव है। भोग रसानुभूति की व्याख्या के लिए प्रकल्पित है किन्तु हम ये दोनों कार्य व्यंजना से ले सकते हैं। व्यंजना आज की शब्दावली में बौद्धिक (भावना) तथा वासनामय आनन्द (रसानुभूति) दोनों का आस्वाद कराती है। इस प्रकार व्यंजना को मान लेने पर भावना और भोग दो गौरवग्रस्त व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है।

कुन्तक का वक्रोक्तिसम्प्रदाय अलंकारसम्प्रदाय का रूपान्तर तथा उसके पुनरुत्थान का प्रयास है। हां यह अवश्य है कि प्राचीन आलंकारिकों की भांति वक्रोक्तिजीविकार अलंकार को ही सब कुछ मान कर नहीं चले हैं। अलंकार का अतिचार वे अनुचित मानते हैं।[2] वक्रोक्तिसम्प्रदाय का जन्म आलंकारिक सम्प्रदाय की ओर से ध्वनिसिद्धान्त को प्रत्युत्तर देने के लिए भी हुआ जान पड़ता है। इसका ही फल है कि ध्वनिसम्प्रदाय द्वारा जिस आत्मपरक काव्यसौन्दर्य की व्याख्या हो चुकी थी उसकी पुनः वस्तुपरक व्याख्या करनी पड़ी। काव्यात्मवादियों के विरुद्ध देहात्मवादी का यह विफल विद्रोह था। कुन्तक ने ध्वनि के समस्त भेदों का समावेश वक्रोक्तिभेदों में किया है। रुय्यक ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है—

उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपंचः स्वीकृतः।

—अ० स० पृ० १०।

---

१. **तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतया स्वीकृतः। —अ० स० पृ० ११।**

२. **इस सम्बन्ध में व०.जी० ३।१, ३,४० कारिकाओं पर वृत्ति द्रष्टव्य है।**

उदाहरण के लिए कुन्तक की वर्णविन्यासवक्रता ध्वनिवादी की वर्णध्वनि है। पदपूर्वार्धवक्रता के आठ भेद ध्वनिभेदों के ही रूपान्तर हैं। इसके अनेक उदाहरण वे ही हैं जो ध्वनिकार ने दिए थे। रूढ़िवैचित्र्यवक्रता के कुन्तक के उदाहरण वे ही हैं जो आनन्दवर्धन के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य के हैं। इसीप्रकार पदपरार्धवक्रता के आठ भेदों, प्रत्यय, काल, कारक, वचन आदि में ध्वनि के भेदों का ही समावेश है। वस्तुवक्रता में वस्तुध्वनि का, वाक्यवक्रता में अलंकार-ध्वनि का, प्रबन्धवक्रता में प्रबन्धध्वनि का कुन्तक ने समावेश किया है। इस प्रकार ध्वनिभेदों का पूर्णतः समाहार करने पर भी कुन्तक व्यंजना व्यापार नहीं मानते। उनकी वक्रोक्ति में 'उक्ति' शब्द ही इस बात का संकेत है कि किस प्रकार वे व्यंग्य को भणिति या अभिधान का रूप देना चाहते हैं, यही कारण है कि वे व्यंग्यार्थ को काव्यजीवित न मान कर उक्तिवैचित्र्य को काव्य का जीवातु मानते हैं—

उक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं न व्यंग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।

—अ० स० पृ० १०।

उनके जितने वक्रोक्तिभेद ध्वनिरूप हैं उनके लिए व्यंजना न मानना ही इस दर्शन की सबसे बड़ी भूल है। लक्षणा के द्वारा उनकी व्याख्या संभव नहीं है, यह ध्वनिवादी बहुत सुस्थिर रूप में सिद्ध कर चुके हैं, किन्तु वक्रोक्तिजीवितकार ध्वनिरूप वक्रोक्तिप्रकारों की व्याख्या लक्षणा के द्वारा ही करना चाहते हैं। साहित्यशास्त्र की प्रगति के प्रतिमुख प्रत्यावर्तन का यह सिद्धान्त स्वभावतः परवर्ती साहित्यसमीक्षकों को ग्राह्य नहीं हो पाया।

ध्वनिप्रस्थान का सबसे कट्टर विरोधी महिमभट्ट है। उन्होंने काव्य के सौन्दर्यबोध की व्याख्या अनुमितिवाद के आधार पर की है। जो कुछ व्यंग्य है वह अनुमेयमात्र है, अनुमान द्वारा उसकी प्रतिपत्ति संभव है[1] उसके लिए व्यंजना को अतिरिक्त व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है। शब्द की एकमात्र शक्ति अभिधा है अतः शब्द का स्वार्थ के अभिधान के अतिरिक्त दूसरा

---

१. **वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥
एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नान्यस्य।
यदुक्तं त्रिरूपाल्लिंगात् परार्थानुमानम् इति केवलं संज्ञाभेदः।**

—व्य० वि० पृ० १०५।

व्यापार नहीं माना जा सकता।[1] व्यंग्यार्थप्रतीति की व्याख्या अनुमान द्वारा करनी चाहिए क्योंकि वाच्यार्थ में सर्वत्र लिंगलिंगिभाव सम्बन्ध है। वाच्यार्थ लिंग है और व्यंग्यार्थ लिंगी। पहला गमक है और दूसरा गम्य।

इस मत का रुय्यक ने बड़ी युक्ति के साथ खण्डन किया है।[2] लिंग और लिंगी में दो प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है—तादात्म्य और तदुत्पत्ति। इन सम्बन्धों के निश्चय पर ही साध्य की सिद्धि अवलम्बित है, नहीं तो व्यभिचार होने के नाते साध्य की सिद्धि हो ही नहीं सकती है। तादात्म्य सम्बन्ध का उदाहरण कृतकत्व और अनित्यत्व है जो कृतक—उत्पन्न—है वह अनित्य है। तदुत्पत्ति का उदाहरण धूम और बह्नि हैं। बह्नि से ही धूम उत्पन्न हो सकता है अन्यथा नहीं। वाच्यार्थ और प्रतीयमान न तो तदात्मा हैं और न इनमें उत्पादक और उत्पाद्य का ही सम्बन्ध है। उदाहरण लीजिए—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥

यहाँ वाच्यार्थ है कि तुम्हारे शरीर की स्थिति से स्पष्ट है कि तुम बावली नहाने गई थीं उस अधम के पास नहीं। किंतु व्यंग्यार्थ है कि तुम अवश्य उसके पास रमण-हेतु गई थीं। यहाँ वाच्यार्थ विधिरूप (बाउली नहाने गई थीं) से निषेधात्मक व्यंग्यार्थ (बाउली नहाने नहीं गई थी) की प्रतीति होती है, तथा निषेधात्मक वाच्यार्थ (उसके पास नहीं गई थीं) से विधिरूप व्यंग्यार्थ (अवश्य गई थीं) प्रतीत होता है। इनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हैं। दोनों ही अर्थ परस्पर भिन्न हैं—विरोधी हैं, अभावरूप अर्थ भावात्मक नहीं हो सकता है और न भावात्मक अभावात्मक हो सकता है। 'निःशेषच्युतचन्दनं' आदि पदों से (ध्वन्यर्थ का) अनुमान भी नहीं हो सकता है क्योंकि ये समग्र विशेषण व्यभिचरित हैं। स्नान करने से भी चन्दनच्यवन आदि सुतरां सम्भव है, वह अनुमान के लिए निश्चयात्मक नहीं होता वस्तुतः वह प्रायः अनैकान्तिक होता है। इसप्रकार के हेतु से साध्य की सिद्धि मानना महामति महिम से ही सम्भव है।

---

१. शब्दः पुनरनुपादेय एव। तस्य स्वार्थाभिधानमन्तरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् —वहीं पृ० १३-१४।

२. देखिए—अ० स० पृ० १५-१६, तथा वि० पृ० १५-१६।

ध्वनि को अनुमेय मानना सौन्दर्यानुभूति की कोरी तार्किक व्याख्या है। व्यंग्यार्थ-प्रतीति, विशेषतः रसानुभूति का सम्बन्ध सहृदय की सहृदयता से है, उसके दिमाग से नहीं। रसध्वनि के उपासक आनन्दवर्धन ने अलंकारनिबन्धन को काव्य की अन्तिम कोटि में रखा है। उनका अलंकार पर विचार प्रधानतया रस के साथ उसके सम्बन्ध-निर्धारण पर आश्रित है; रस अंगी है और अलंकार उसके अंग हैं।[1] उन्हें रसाक्षिप्त, अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य तथा सुश्लिष्ट होना आवश्यक है।[2] यमक जैसे शब्दालंकारों के विधान में चूंकि प्रतिभाशील कवि को भी यत्न करना पड़ता है अतः इन्हें रस का अंग मानना आनन्द को अभिमत नहीं है। उन्होंने वैसे तो अलंकारों की उपमा कटक आदि से दी है पर रसाभिव्यक्ति के लिए वे उन्हें बहिरंग न मानकर अन्तरंग मानते हैं—

तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ —ध्वन्या०।

इस प्रकार वाच्यालंकार, आनन्द के अनुसार, अंगी रस के चारुता हेतु हैं।[3] ये चारुता-हेतु नियत नहीं अपितु अनन्त है अस्तु अलंकार को भी नियत कर सकना संभव नहीं है—

अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः।

—ध्वन्या० ३।३७ पर वृत्ति।

ध्वन्यालोककार तथा लोचनकार ने रस के साथ सम्बन्धनिर्धारण करने के साथ यह बात स्पष्ट कर दी थी कि अलंकारों का अनावश्यक, अनवसर, अविवेकपूर्ण तथा अनुचित उपयोग अलंकारत्व के लिए घातक है। अलंकारों का विवेकपूर्ण निवेश ही उन्हें सार्थक बना सकता है[4]। शृंगाररस के प्रकरण में इस समीक्षापूर्वक विनिवेश की उन्होंने विस्तृत चर्चा की है।[5] उनके इसी मत को सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय क्षेमेन्द्र को प्राप्त है। इन्होंने

---

१. अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्। —ध्वन्या० २।६।।

२. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ —ध्वन्या० २।१६।

३. अलंकारो हि बाह्यालंकारसाम्यादंगिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते।
—ध्वन्या० २।१७।

४. ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशतः।
रूपकादिरलकारवर्ग एति यथार्थताम्॥ —ध्वन्या० २। ७।

५. वहीं, २।१८-१९।

अलंकार का अलंकारत्व तभी माना है जबकि उनका उचित स्थान पर विन्यास हो—

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः —औ० वि० च० ६ ।

इस प्रकार, रसप्रकरण में आनन्द के समीक्षापूर्वक विनिवेश की व्यापक व्याख्या क्षेमेन्द्र ने की है ।

अलंकारसम्बन्धी ध्वनिसिद्धान्त की इस मान्यता का पूर्णतः प्रतिषेध कोई भी परवर्ती आचार्य न कर सका । हां यह अवश्य है कि अलंकार की स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना अवश्य की गई । रस का अंग बनकर ही सर्वत्र अलंकार का विधान हो यह आवश्यक नहीं है । अनेकधा कवि की दृष्टि का केन्द्रबिन्दु अलंकारनिष्पादन भी हो सकता है । अस्तु, अलंकारत्व को सदा रसाक्षेपितया बताना उसकी स्वतन्त्र सत्ता का हनन होगा । कुन्तक का स्थान इस विचार के उन्नयन और अलंकार की परिभाषा का मार्गनिर्देश करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । कुन्तक काव्य का स्वरूप ही सालंकार शब्दार्थ मानते हैं ।[1] उनकी काव्य की द्वितीय तथा तृतीय परिभाषाओं को यदि एक साथ पढ़ें तो उनकी काव्यपरिभाषा होगी—सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम् । वक्रोक्ति उनके अनुसार अलंकार है और अलंकार्य है शब्दार्थ । इसी वक्रोक्ति या 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' के विचित्र मार्ग में समग्र अलंकारों का समावेश है । रस आदि की प्रधानता यदि सुकुमार मार्ग में है तो अलंकार की विचित्रमार्ग में । वस्तुतः अलंकार का भ्राजिष्णु सौन्दर्य शब्दार्थ (अलंकार्य) को भी अपनी शोभा में लीन कर लेता है—

स्वशोभातिशयान्तःस्थम् —व० जी० ।

अलंकारविधान का उद्देश्य भी अलौकिक अतः चमत्कारी वैचित्र्य की सिद्धि है । अलंकार और अलंकार्य का भेद भी कुन्तक केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही उत्पन्न मानते हैं । अलंकार वस्तुतः शब्दार्थ से व्यतिरिक्त नहीं माने जा सकते । वे नान्तरीयक हैं, तदात्मा हैं । स्पष्ट है कि कुन्तक के मत से हम कटक, केयूर के समान अलंकार को बाह्य नहीं मान सकते । सभी अलंकारों को बाह्य न मान लिया जाए इस दृष्टि से भोजराज ने भी अलंकार को त्रिविध कोटि में बांटा था बाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तर । बाह्य हैं वस्त्रमाल्य आदि,

---

१. सालंकारस्य काव्यत्वमिति स्थितिः । —व० जी० ।

२. शृंगारप्रकाश ।

आभ्यन्तर हैं दन्तपरिकर्म, नखच्छेद तथा अलककल्पना आदि और बाह्याभ्यान्तर हैं स्नानधूपादि। उनकी दृष्टि से शब्दालंकार बाह्य, अर्थालंकार आन्तर तथा उभयालंकार बाह्याभ्यन्तर हैं।

कुन्तक ने अलंकारों को अभिधान का प्रकारविशेष या भणितिभंगी का भेद माना है। उनके मत में इतिवृत्त या वस्तु के वर्णन में काव्य का अधिवास नहीं रहता। अभिधानप्रकार में वैचित्र्य होना आवश्यक है, यह वैचित्र्य भी कविप्रतिभा के उल्लास या उल्लेख का फल होना चाहिए। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार अलंकार बनने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—कविप्रतिभा का व्यापार तथा तज्जन्य विच्छित्ति। कविप्रतिभा का उल्लास निरवधि है तो स्वभावतः अलंकार भी निःसीम है। महिमभट्ट का अलंकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण वक्रोक्तिजीवितकार तथा ध्वनिवादी के मत से मिलता-जुलता है। अलंकार को वे वाच्यरूप, अभिधेय या कुन्तक के शब्दों में अभिधानप्रकारविशेष मानते हैं, अलंकार इस प्रकार महिम की दृष्टि से विचित्रभंगीभणिति हैं—

अलंकाराणां चाभिधेयात्मत्वमुपगतं तेषां भंगीभणितिरूपत्वात्।

—व्य० वि०।

महाकवीनां या विचित्रा भंगीभणितयोऽलंकारसंज्ञाः……

—व्य० वि० (काशी), पृ० २७३।

तथा **भंगीभणितिभेदानामेवालंकारत्वोपगमात्।** —वहीं, पृ० ८७।

इसप्रकार अलंकार कुन्तक और महिम की शब्दावली में विच्छित्ति और वैचित्र्य का वाचक बन जाता है। कुन्तक तो केवल अलंकारनिबन्धन का अतिचार ही अनभीष्ट समझते हैं पर महिम का कहना है कि काव्यक्रिया का प्रयोजन अर्थ में अतिशय सौन्दर्य की साधना है। उसके लिए अलंकारनिष्पादन साध्य नहीं अपितु साधनमात्र है अतः कवि को रसाभिनिवेशी होना चाहिए अलंकार तो नान्तरीयकतया उसमें आ ही जाएंगे—

किंच सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः कवेर्नतु अलंकारनिष्पत्तये, तेषां नान्तरीयकतयैव निष्पत्तिसिद्धेः भंगीभणितिभेदानामेवालंकारत्वोपगमात्।

न चालंकारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कविः।
यतते ते हि तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धयः॥

महिम का यह मत रसध्वनिवादी तथा कुन्तक की मान्यता का समर्थन तथा समन्वय है। काव्य में भाव के अतिरिक्त शैली का महत्त्व है। काव्य न तो इतिवृत्त है और न वेद या पुराण। स्वभावतः अर्थ में उत्कर्षापकर्ष के द्वारा

आस्वाद का अनुभव कराने के लिए अलंकार की साधना और उपासना आवश्यक है—

विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित् ।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते ॥

—व्य० वि० २।१४ ।

आनन्द, कुन्तक तथा महिम के अलंकार सम्बन्धी मतों की ही पुनरुक्ति परवर्ती आलंकारिकों ने की है । रुय्यक ने सर्वस्व में अलंकार की कोई स्वतन्त्र परिभाषा नहीं दी है पर व्यक्तिविवेक के व्याख्यान में तथा विभिन्न अलंकारों के निरूपण से यह स्पष्ट है कि ध्वनिवादी मान्यताओं के निर्वाह के साथ अलंकारत्व की दृष्टि से वे महिम तथा कुन्तक के अनुयायी हैं । ध्वनिवाद की मान्यता के अनुसार अलंकारनिबन्धन को वे भिन्न काव्य मानते हैं । ध्वनिवादी ने चित्रकाव्य की काव्यता वस्तुतः उपचार से ही मानी थी, उसका निरूपण भी विशद रूप में किसी आचार्य ने नहीं किया था । रुय्यक ने इसी चित्रकाव्य का निरूपण अपने सर्वस्व का प्रतिपाद्य बनाया है । अलंकार उनकी दृष्टि से शब्द और अर्थ पर आश्रित है, उसी शब्दार्थ की विच्छित्ति, जिसे जयरथ के शब्दों में वाच्यवाचकरामणीयक कह सकते हैं, अलंकार है । यह विच्छित्ति कविप्रतिभा के उल्लास से सम्पन्न होती है—

तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलंकारः। विच्छित्तिश्च कविप्रतिभोल्लासरूपत्वात् कविप्रतिभोल्लासस्य चानन्त्यादनन्तत्वं भजमाना न परिच्छेत्तुं शक्यते ।

—व्य० वि० व्या० (काशी) पृ० ३०३ ।

कविप्रतिभा का जिसे कविकौशल, कविव्यापार चाहे जो भी कहें, पारस स्पर्श पाकर शब्दार्थ में सौन्दर्य की अनुभूति होती है । कविप्रतिभाकृत वैचित्र्य, विच्छित्ति, चित्रता, चारुता या सहृदयहृदयहारिता का जहां अभाव होता है, वहाँ अलंकार या उसके भेद को नहीं माना जा सकता । सन्देह और भ्रान्ति का वस्तुगत सौन्दर्य अलंकार नहीं है अपितु उसे कविप्रतिभा से उत्थापित होना चाहिए ।[1] रुय्यक ने अलंकार का यही रूप अपनाकर कविप्रतिभोत्थापित

---

१. सादृश्यहेतुकापि भ्रान्तिर्विच्छित्त्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते न स्वरसोत्थापिता शुक्तिकारजतवत् । एवं स्थाणुर्वा स्यात् पुरुषो वा स्यादिति संशयेऽपि बोद्धव्यम् । —अ० स० पृ० ५८ ।

विच्छित्ति के विश्लेषण के आधार पर अलंकार, उनके भेद तथा उनके वर्गीकरण का वैज्ञानिक और गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। रुय्यक के टीकाकारों में समुद्रबन्ध अलंकार-लक्षणों का उल्लेख दण्डिसम्मत करते हैं।[1] किन्तु चक्रवर्ती अनेकधा घोषित करते हैं—

अलंकारो हि विच्छित्तिः —संजी० पृ० ३०।

यतो वैचित्र्यमलंकारः अतो वैचित्र्यवदेव कवेः संरम्भगोचरः।
—सं० प्र० (भाग २), पृ० २३८।

अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, अनुमान तथा भाविकालंकार पर रुय्यक ने कविप्रतिभानिर्वर्तिता की जो टिप्पणी दी है उसका विशद निरूपण चक्रवर्ती ने अपने व्याख्यान में किया है। रुय्यक का मत है कि वस्तुसन्निवेशी धर्मों के उपनिबन्धन में अलंकारत्व का अधिवास रहता है न कि तार्किक प्रक्रिया या शुष्क कार्यकारणभाव के उपनिबन्ध में। स्वभावोक्ति के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कथन है कि सूक्ष्म धर्मों का वर्णन ही स्वभावोक्ति मानी जा सकती है। सूक्ष्म की व्याख्या उन्होंने 'कवित्वमात्रस्य गम्यः' की है। इस प्रकार रुय्यक कवित्वमात्रगम्य वस्तु तथा चित्तवृत्ति अथवा भाव के वर्णन में अलंकारत्व का प्रतिष्ठान मानते हैं। भाविकालंकार के प्रसंग में इन्हीं मन्तव्यों के आधार पर श्रीविद्याचक्रवर्ती का कहना है—

ये हि कविना प्रतिभया समर्प्यन्ते मुखादौ चन्द्रत्वकमलत्वादयो धर्मास्तेषामेवालंकारत्वं न तु परमार्थतः सन्निविष्टानां हिमांशुलावण्यादीनाम्।
—संजी० पृ० २०२।

आचार्य जयरथ ने रुय्यक की कविप्रतिभानिर्वर्तित विच्छित्ति या अलंकारत्व की परिभाषा स्वीकार कर, ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए प्रायः प्रत्येक अलंकार पर इस दृष्टि से अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनके विभिन्न विचारों का स्पष्टीकरण चतुर्थ अध्याय में अलंकारनिरूपण के समय यथास्थान किया गया है। यहाँ हम केवल उनका सूत्रात्मक आकलन कर सकते हैं जो प्रायः उन्हीं के शब्दों में होगा। यह आकलन अलंकारत्व, अलंकार के प्रभेद आदि के निर्णायक विभिन्न मानदण्ड सूचित करता है।

---

१. (क) अलंकारशब्दस्य काव्यगतशोभातिशयहेतुभूतधर्मवाचकतया।
—समुद्र पृ० ३।

(ख) काव्यशोभाकरत्वेनालंकारत्वसम्भवात्। —वहीं, पृ० १६३।

वाच्यालंकार वाच्यार्थ का उपस्करण करते हैं, यही उपस्करण उनका स्वरूप है, यह स्वसंवेदन-सिद्ध प्रतीयमान से व्यतिरिक्त है —

प्रतीयमानमिति। वाच्यव्यतिरिक्तत्वेन स्वसंवेदनसिद्धम्। × × वाच्योपस्कारकत्वं ह्यलंकाराणामात्मभूतम्। —वि० पृ० ३।

वाच्यार्थ का तात्पर्य पदार्थ से नहीं अपितु वाक्यार्थ से है, स्वभावतः अलंकार-प्रतीति आमुख में नहीं अपितु पर्यवसान में होने वाली प्रतीति पर अवलम्बित है। **यस्माद् वाक्यार्थ एव प्ररूढोऽलंकाराणां स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाणम्। वाक्यार्थस्य च पदार्थान्वयवेलातोऽन्यैव प्रतिपत्तिः**—यदि इस सिद्धान्त को न माना जाए तो व्याजस्तुति के पर्यवसान में होनेवाली स्तुति को अलंकारपर्यवसायी न माना जा सकेगा। इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि वाच्यवाचक-विशेष के सद्भाव या असद्भाव को लेकर अलंकार-विशेष का भाव या अभाव नहीं माना जा सकता है। जहाँ तक इसके ध्वनि से भेद का प्रश्न है यह कहना पर्याप्त होगा कि ध्वनि का अवगम वाक्यार्थ की विश्रान्ति के बाद वक्ता तथा वाच्य की पर्यालोचना से होता है जब कि वाच्यालंकारप्रतीति अनुपपन्न वाक्यार्थ की उपपत्ति के साथ हो जाती है।[2] प्रकृतार्थ का उपरंजन ही अलंकारविधायक कवि का उद्देश्य होता है, यदि इस उपरंजन के लिए प्रकृतार्थ का वाक्यार्थ संदिग्ध है तो अलंकार हो ही नहीं सकता। इस प्रकार अस्फुटालंकार मानना (जैसा कि मम्मट का प्रतिपादन है) असंगत है क्योंकि अलंकारता पर्यवसित वाक्यार्थ में होती है संदिग्ध में नहीं। इस आधार पर पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकार ही माना जा सकता है, शब्दालंकार नहीं, क्योंकि भले ही प्रारंभ में शब्दपौनरुक्त्य प्रतीत होता है पर उसकी पर्यवसान में प्रतीति न होने से वह अर्थालंकार है। विरोधाभास में इसी प्रकार भले ही पदार्थान्वयवेला में विरोध हो पर विश्रान्ति उसकी समाधान में होती है अतः वह विरोध नहीं अपितु विरोधाभास है। इस प्रकार अलंकारता का सौन्दर्य पर्यवसित वाक्यार्थ की विच्छित्ति में है, हाँ यह अवश्य है कि उसमें आमुख का सौन्दर्य भी गर्भित रहता है इसीलिए अलंकार अलौकिक चारुता है। इस अलौकिकता की सिद्धि का हेतु है कविप्रतिभा। अलंकारत्व की प्रतिष्ठा के लिए वाच्य कविप्रतिभानिर्वर्तित होना आवश्यक है। इस सिद्धान्त की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती

---

१. वि० पृ० ७०।

२. वि० पृ० २६।

है अभावात्मक तत्त्व के निर्देश द्वारा और भावात्मक विधा से। आरोप, भ्रान्ति सन्देह, अनेकधा उल्लेख, उत्प्रेक्षण, विरूपत्व तथा स्वभाववर्णन आदि यदि वास्तविक हैं तो उन्हें अलंकार नहीं माना जा सकता है क्योंकि यह निर्विवाद है कि अलंकार वस्तुमात्र नहीं है—

वस्तु च नालंकार इत्यविवादः[1]। —वि० पृ० २०८।

शुक्तिका पर रजत का आरोप, स्थाणु को देखकर पुरुष की भ्रान्ति तथा इन दोनों का सन्देह, किसी व्यक्तिविशेष का अनेक रूपों में वस्तुसत् उल्लेख,'गोमयाद् वृश्चिको जातः' का विरूपत्व या 'गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुः' का वास्तव वर्णन अलंकार नहीं है।[2] इसी आधार पर जयरथ ने रुय्यक के विनोक्ति (विनयेन विना, पृ० १०६), विषम (अरण्यानी क्वेयम्, पृ० १६५), अधिक (दोर्दण्डाञ्चित, पृ० १७०) तथा विशेष (प्रासादे सा, पृ० १७२) के उदाहरणों की आलोचना की है।[3] अतः स्वारसिक धर्म या वस्तु के वर्णन में अलंकार नहीं माना जा सकता; यह कविप्रतिभानिर्वर्तित्व की अभावात्मक व्याख्या है। अलंकारसौन्दर्य स्वारसिक न होकर कविप्रतिभानिर्वर्तित या उत्पादित होता है क्योंकि कवि जानबूझकर भ्रम, सन्देह, अनेकधा उल्लेख, संभावना तथा विरोध की सृष्टि करता है। कोई भी लौकिक पुरुष जानबूझकर शुक्तिका में रजत का आरोप नहीं करता, रज्जु को सर्प समझ कर डरने नहीं लग जाता और न पुरुष को स्थाणु समझकर भ्रान्ति में पड़ता है पर कवि जानबूझकर मुख में चन्द्र का आरोप, सन्देह या उत्प्रेक्षण करता है। यही स्वारसिक प्रतीति और उत्पादित

---

१. इस सिद्धान्त का उल्लेख जयरथ ने विभिन्न अभिव्यक्तियों द्वारा किया है जैसे कि—

(अ) न च यथासम्भविनोपनिबन्धमात्रेणालंकारत्वं वक्तुं युक्तम्।
—वि० पृ० १८।

(ब) नहि वस्तुमात्रवर्णने कविकौशलं किञ्चित्। —वि० पृ० २२९।

(स) 'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' इति नीत्या वस्त्वतिशयदायिनां धर्माणामलंकारत्वात् कथं वस्तुमात्रस्यैवालंकारत्वं स्यात्।
—वि० पृ० २२३।

२. देखिए वि० पृ० ४४, ५८।

३. देखिए—प्रथमाध्याय में विमर्शिनी—एक आलोचनात्मक व्याख्या।

प्रतीति का अन्तर है। भ्रान्ति के सम्बन्ध में जयरथ का कथन देखिए—

स च प्रयोजनपरतया तथा निर्दिश्यते न भ्रान्त्या अतएव शुक्तिकायामिव रजतारोपो न मुखे चन्द्रारोपः तस्य स्वरसतः एवोत्थानेन भ्रमरूपत्वात् अतएव तत्रारोपविषयस्यारोप्यमाणेनाच्छादितत्वेन प्रतीतिः। इह पुनर्जानान एव कश्चित् चन्द्रविविक्तं मुखं तत्र प्रयोजनपरतया चन्द्रार्थमारोपयति।[1] —वि० पृ० ४४।

इसप्रकार कविप्रतिभा द्वारा सृष्ट विच्छित्ति स्वारसिक, वास्तव या वस्तुसंभविनी न होकर आहार्य या उत्पादित होती है इसीलिए जयरथ ने उसकी अलौकिक, प्रौढोक्तिनिर्मित तथा असम्भवनीय[2] के रूप में व्याख्या भी, रुय्यक के अनुसार, की है। इस प्रकार अलंकारप्रतीति आहार्य है, लोकोत्तर है अतः सुन्दर है। यह प्रतीति कथमपि भ्रान्त, सन्दिग्ध या विरोधभरी नहीं हो सकती, भले ही प्रतिपादन या शैली में कितना भी भ्रम हो। जयरथ के शब्दों में—

नेयं भ्रान्ता प्रतिपत्तिः प्रतिपादनभ्रमोऽयम्।

इस आहार्य-प्रतीति के सौन्दर्य या विच्छित्ति-विशेष के विभिन्न प्रकार अलंकार हैं। इन्हें न तो रसचर्वणा का प्रत्यूहकारी होना चाहिए और न केवल दोषाभाव रूप[3] क्योंकि ये सभी सौन्दर्य की अनुभूति के माध्यम हैं, जो भावात्मक है अभावात्मक नहीं। प्रतीतिभेद या फलभेद अलंकारभेद का नियामक है[4] तथा कवि की विवक्षा उसके शाब्दत्व तथा आर्थत्व का। एक प्रकार की प्रतीति रहने पर उसके विभिन्न विच्छित्तिविशेष एक ही अलंकार के भेद होंगे इसी आधार पर जयरथ समुच्चितोपमा आदि को उपमा का, शोभाकर के विशेष तथा अभेद अलंकारों को तथा वामन की विशेषोक्ति को रूपक का ही प्रभेद मानते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार वे तुल्ययोगिता तथा दीपक को पृथग् अलंकार मानने को प्रस्तुत नहीं हैं और न प्रतिभा तथा अनुषंग अलंकार को निदर्शनादि से भिन्न मानने का समर्थन कर सकते हैं।

कविप्रतिभा द्वारा निर्वर्तित इसी लोकोत्तर शब्दार्थसौन्दर्य में रहने वाली ध्वनि काव्यात्मा है। आत्मा व्यापक है, विभु है, वह मानव के शरीर में भी

---

१. कविप्रतिभानिर्वर्तिता की आवश्यकता के लिए देखिए—
वि० पृ० ५८,७१-१६५।

२. वि० पृ० १६३, १६४, तथा २१६।

३. देखिए—वि० पृ० १८७-१८८।

४. फलभेदश्चालंकारभेदनिमित्तमित्यविवादः।

रहती है और घट-पट में भी। चेतन पुरुष के शरीर में रहने वाली आत्मा को ही हम जीव कहते हैं, देह और शरीर के ही सम्बन्ध से उसका देही तथा शरीरी कहकर परिचय देते हैं। घटपटादि में व्याप्त आत्मत्व को देही और शरीरी नहीं कहते। इसीप्रकार रमणीय वाच्यवाचक में व्याप्त ध्वनि ही काव्यात्मा है। अस्तु, न केवल अलंकार को सप्राणता के लिए रसध्वनि की अपेक्षा है अपितु रसध्वनि को भी वाच्यवाचकरामणीयकरूपी शरीर को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना अपेक्षित है। अलंकृत अथवा चारु शब्दार्थ ही वस्तुतः काव्यात्मा का अवच्छेदक हो सकता है। अलंकार और अलंकार्य का यही सम्बन्ध है।

तृतीय अध्याय

अलंकारों का विकास तथा श्रेणीविभाग

विकास

अलंकार के स्वतन्त्र चिन्तन तथा विकास की दृष्टि से रुय्यक (बारहवीं शती) तक का समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद यों तो अलंकारों की संख्या (१९वीं शती तक के प्रारम्भ तक) १९१ तक पहुंच गई किन्तु सभी समीक्षक इस बात पर एक मत है कि इन नवीन अलंकारों का आविर्भाव केवल अपनी-अपनी अलंकार-प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए अधिक हुआ था; इन नवीन आविष्कारों में चमत्कार अधिक नहीं था। वस्तुतः रुय्यक के तुरन्त बाद से अलंकारों की संख्या बढ़ाने की होड़-सी लग गई थी। ध्वनि के अनन्त भेदोपभेद की होड़ में संभवतः अलंकारवादी भी अपना भण्डार बढ़ाते चले जा रहे थे। यही कारण है कि रुय्यक के बाद शोभाकर ने ही लगभग ३६ अलंकार और बढ़ा दिए थे जिनमें से प्रायः सभी का उल्लेख जयरथ ने अलंकारोदाहरण में किया है। जयदेव ने चन्द्रालोक में १०४ अलंकारों का निरूपण किया था। बाद में अप्पय्यदीक्षित ने इन्हीं के साथ कुछ और अलंकार बढ़ा दिए थे।[1] इस बाढ़ को रोकने में पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर तथा चित्र-मीमांसा-खण्डन में एवं विश्वेश्वर ने अलंकारकौस्तुभ में स्तुत्य प्रयत्न किया है। जिस प्रकार रुय्यक से चिढ़नेवाले शोभाकर ने अलंकारों को बढ़ाने की प्रवृत्ति पैदा कर दी थी उसी प्रकार दीक्षित से चिढ़नेवाले पण्डितराज ने अलंकारों की बाढ़ को रोकना प्रारम्भ कर दिया था। अलंकारशास्त्र के इतिहास की यह बड़ी आकर्षक कहानी है। इतिहास के एक मोड़ पर (जिसका समय १२वीं

---

१. दीक्षित के नये अलंकार हैं—प्रस्तुतांकुर, अल्प, कारकदीपक, मिथ्याध्यवसिति, ललित, अनुज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, विशेषक, गूढोक्ति, विवृतोक्ति युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रतिषेध और विधि। इनमें से अनेक अलंकार ऐसे भी हैं जिनका भोज, शोभाकर आदि निरूपण कर चुके थे पर जिन्हें कालक्रम में छोड़ दिया गया था। अप्पय्यदीक्षित के अलंकारों में १० प्रमाणालंकार तथा ७ रसवदादि अलंकार भी नवीन रूप में थे।

शती है) दो अलंकारशास्त्रियों के परस्पर विरोध ने अलंकारों में बाढ़ पैदा की थी तो दूसरे मोड़ पर (जिसका समय १८वीं शती है) उसने बाढ़ को रोकने का कार्य किया है। परस्पर विरोध की इतिहास में इस पुनरावृत्ति ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही कार्य किए। इस प्रकरण में हमारा उद्देश्य केवल रुय्यक तक अलंकारों के विकास के इस क्रम को संक्षेप में प्रस्तुत करना है ताकि रुय्यक के योगदान के साथ अलंकारों के वर्गीकरण की पृष्ठभूमि भी दी जा सके।

भरत ने रूपकों की भाषा पर प्रकाश डालते हुए चार अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक। इन चारों में केवल एक यमक शब्दालंकार है शेष तीन अर्थालंकार हैं। इन अलंकारों के अतिरिक्त भरत ने काव्यबन्ध में ३६ लक्षणों के (जिन्हें वे १७वें अध्याय के अंत में काव्य का विभूषण [काव्यविभूषण] तथा भूषणसंमित कहते हैं) उपयोग की भी बात कही है।[1] लक्षण का पर्याय विभूषण है किन्तु वह अलंकारशास्त्र के अलंकार का पर्याय नहीं है वह अलंकार का भी अलंकार्य है, वह काव्य-वपु है, वह अलंकार की अपेक्षा अधिक व्यापक है, वह स्वतः काव्य का विभूषण है जबकि अलंकार काव्य में शोभातिशय के लिए प्रयुक्त होता है। तथापि इन लक्षणों में से अनेक अलंकार के रूप में निरूपित होने लगे थे। भरत के तीन लक्षण हेतु, लेश तथा आशीः भामह के समय तक अलंकार-प्रक्रिया में परिग्रहीत होने लगे थे। स्वयं भामह ने इनमें से प्रथम दो को अलंकार मानने का स्पष्ट खण्डन किया है किन्तु अन्तिम के सम्बन्ध में केवल इतना भर कहा है कि कुछ लोग आशीः को भी अलंकार मानते हैं, इसका उदाहरण भी दिया है अतः संभव है कि भामह को भी यह अलंकार अभीष्ट रहा हो। दण्डी ने हेतु तथा लेश (सूक्ष्म नामक एक तीसरा अलंकार भी इसमें सम्मिलित है) अलंकारों को त्याज्य न मानकर वाणी का उत्तम भूषण बताया है।[4] इस प्रकार भरत के जिन लक्षणों को अलंकार मानने में भामह हिचकते थे उन्हीं की दण्डी के समय तक अलंकार के रूप में सम्मानपूर्वक स्वीकृति हो गई थी। दण्डी

---

१. काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः।—२६।१६९।

२. भामहालंकार, २।८६।

३. वहीं, ३।५५-५६।

१. काव्यादर्श, २।२३५।

ने तो स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा भी की थी कि दूसरे शास्त्र (आगम) में जिन्हें सन्ध्यङ्ग, वृत्त्यङ्ग तथा लक्षण आदि के रूप में बताया गया है वे उन्हें अलंकार के रूप में सर्वथा अभीष्ट हैं—

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे ।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः ॥ —काव्यादर्श, २,३६६ ।

अस्तु, भरत ने न केवल चार अलंकारों का निरुपण किया था (जिनमें से एक शब्दालंकार तथा तीन अर्थालंकार हैं) अपितु लक्षण के माध्यम से अनेक नवीन अलंकारों के लिए मार्ग भी प्रशस्त कर दिया था। उपर्युक्त हेतु आदि तीन अलंकारों के अतिरिक्त भरत के संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, निरुक्त और अर्थापत्ति इन पाँच लक्षणों के स्वरूप में ही भविष्य के पांच काव्यालंकार (जिनके लगभग ये ही नाम हैं) अन्तर्निहित हैं। विभिन्न अलंकारों के अतिरिक्त अलंकार के भेदों का भी मूलारम्भ नाट्यशास्त्र से ही हो जाता है। भरत द्वारा उपमा के पांच भेदों प्रशंसोपमा, निन्दोपमा, कल्पितोपमा, सदृशी उपमा, किंचित् सदृशी उपमा[1] का तथा यमकालंकार के दस भेदों का निरूपण, निश्चित ही, परवर्ती भेदोपभेद का या किसी भेद को स्वतन्त्र अलंकार माने जाने का आधार बना था।

भरत के बाद भामह ने यमक(जिसके पांच भेद—आदियमक, मध्यान्त-यमक, पादाभ्यास, आवली और समस्तपादयमक— उन्होंने बताए हैं) के अतिरिक्त अनुप्रास नामक[2] एक शब्दालंकार और बढ़ाया। इसके दो भेद भी उन्होंने दिए हैं। उन्होंने स्वयं इस बात का उल्लेख किया है कि ग्राम्यानुप्रास तथा लाटानुप्रास दूसरे आचार्य मानते हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि भरत के बाद और भामह से पूर्व इन दो अनुप्रासों का विकास हो चुका था, भामह ने कदाचित् उन्हें एक सामान्य वर्ग अनुप्रास के अंतर्गत रखकर इन दोनों को उसी का भेद बताने का कार्य किया है। अस्तु, भामह के अनुसार शब्दालंकार दो हैं अनुप्रास तथा यमक।

भामह के अर्थालंकारों की संख्या ३६ है। भट्टि ने भी लगभग इतने

---

१. ना० शा० १७।५० ।

२. सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते। —भामहालंकार, २-५ ।

३. वहीं, ६-८ ।

ही अलंकारों का स्पष्ट निर्देश किया है। भामह के ३६ अर्थालंकार निम्न-लिखित हैं—

रूपक, दीपक, उपमा, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमा-रूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविकत्व, तथा आशीः।

इन ३६ अलंकारों के अतिरिक्त भामह ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश की भी निषेधार्थ सूचना दी है। श्लिष्ट अलंकार का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने श्लेष से इसका भेद बताकर श्लेषालंकार का भी (श्लिष्ट अलंकार से भिन्न रूप में) समासतः उल्लेख किया है। उपर्युक्त ३६ अलंकारों की सूची में यथा-संख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, भाविकत्व तथा आशीः अलंकार भी सम्मिलित हैं जिनके सम्बन्ध में भामह ने यह साक्षात् सूचना दी है कि वे अलंकार के रूप में दूसरे आचार्यों को अभीष्ट रहे हैं। इन अलंकारों का उद्भावक कोई दूसरा आचार्य था इसका संकेत तो हमें भामह से ही प्राप्त हो जाता है और इस आधार पर यह अनुमान भी स्वभावतः किया जा सकता है कि इन ५-६ अलं-कारों तथा भरत द्वारा निर्दिष्ट अलंकारों के अतिरिक्त और भी अनेक अलंकार भामह से पूववर्ती आचार्यो द्वारा उद्भावित रहे होंगे।

रूपक के दो भेद समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति; दीपक के तीन भेद आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक; उपमा के श्रौती, आर्थी (परोक्षतः)[1] तथा प्रतिवस्तूपमा (जिसे परवर्ती अलंकार मानते हैं) आदि भेद[2]; आक्षेप के वक्ष्यमाणविषयक तथा उक्तविषक दो भेद; उदात्त के दो भेद (प्रथम भेद, जो दण्डी के अनुसार संशयमहत्त्व का होगा, भामह को सम्मत है। दूसरा नागरत्नादियुक्त भेद, जिसे दण्डी के शब्दों में विभूतिमहत्त्व का कहा जा सकता है, दूसरे आचार्यों को सम्मत है); श्लिष्ट के तीन भेद (गुण-श्लिष्ट, क्रिया-

१. विना यथेवशब्दाभ्यां समासाभिहिता परा। वहीं, ३२, से भामह ने उपमा के श्रौती, आर्थी इन दो भेदों का ही परोक्षतः उल्लेख किया है।

२. भामह ने पूर्वाचार्यों द्वारा निश्चित उपमा के निन्दा, प्रशंसा आचिख्यासा तथा मालोपमा आदि का उल्लेखमात्र किया है। देखिए—वहीं, २।३७-३८।

श्लिष्ट तथा नामश्लिष्ट भी भेद के रूप में लिखे जा सकते हैं) सहोक्तिश्लिष्ट, उपमाश्लिष्ट तथा हेतु-श्लिष्ट का प्रतिपादन भामह ने किया है। इन भेदों का ग्रंथकार ने स्वयं उल्लेख किया है और उदाहरण दिए हैं। कुछेक अलंकारों के पूर्व-सम्मत भेदों का उन्होंने प्रत्याख्यान भी किया है जैसेकि उपमा के निन्दा, प्रशंसा तथा आचिख्यासा और मालोपमा आदि भेद। कतिपय अलंकार ऐसे हैं जिनके एकाधिक उदाहरण दिए हैं अथवा अलंकारलक्षण में आदि पद का सन्निवेश कर तदनुसार भेदों के अभीष्ट होने की सूचना दी है। जैसेकि अर्थान्तरन्यास में हि शब्द के प्रयोग (अथवा अप्रयोग) से भेद सम्भव हैं; रसवत् अलंकार के लक्षण में शृंगारादि पद के आदि शब्द से स्पष्टतः संकेतित है कि विभिन्न रसों के भेद भी भामह को अभीष्ट हैं ; संसृष्टि अलंकार विभिन्न अलंकारों के सम्मिश्रण से हो सकता है इसकी सूचना भी भामह ने दो उदाहरण देकर दी है। वस्तुतः अलंकारों की तथा उनके भेदों की संख्या बढ़ाने की प्रवृत्ति भामह की नहीं है। मुझे तो सन्देह होता है कि भामह ने अपने समय में प्रचलित अनेक अलंकारों को जो अधिक महत्त्व के नहीं थे, अनावश्यक समझकर छोड़ दिया होगा। वे स्वयं स्वभावोक्ति अलंकार का निरूपण करने के बाद द्वितीय अध्याय के अन्त में कहते हैं कि अलंकारों का निरूपण संक्षेप में ही किया गया है क्योंकि विस्तार दिमागी थकावट ही पैदा करेगा। जिन अलंकारों का संग्रह नहीं हुआ है उनकी भी तर्कना (पाठक को स्वयं) उनके द्वारा निर्दिष्ट पद्धति से कर लेनी चाहिए—

समासेनोदितमिदं धीरवेदायैव विस्तरः ।
असंग्रहीतमप्यन्यदभ्यूह्यमनया दिशा ॥
—भामहालंकार, २।९५ ।

यही बात अलंकारों के भेदोपभेद के सम्बन्ध में भी चरितार्थ है। तभी तो संसृष्टि अलंकार में विभिन्न अलंकारों के संमिश्र से होने वाले भेदों के प्रसंग में वे मानो थक कर कहते हैं कि मैं विज्ञों को कहांतक अलंकार (अथवा उनके भेद) बताऊँ ?

अन्येषामपि कर्तव्या संसृष्टिरनया दिशा ।
कियदुद्घट्टितज्ञेभ्यः शक्यं कथयितुं मया ॥ —वहीं, ३।५२ ।

भामह के अलंकार-विवेचन में वर्गीकरण का कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता है। दो शब्दालंकार तथा छत्तीस अर्थालंकार की जो सूची हमने ऊपर दी है उसी क्रम में भामह ने अलंकारों का निरूपण किया है। इस सूची पर आपाततः दृष्टिपात से यह स्पष्ट है कि उन्होंने कोई भी विभाजन नहीं माना था।

उन्होंने द्वितीय परिच्छेद के चतुर्थ श्लोक से अलंकारविवेचन प्रारम्भ किया है। दो शब्दालंकार तथा रूपक से लेकर स्वभावोक्ति तक १२ अलंकारों का विवेचन द्वितीय परिच्छेद में है।[1] तृतीय परिच्छेद के प्रारम्भ में प्रेयः से लेकर भाविकत्व तक के २३ अलंकारों का पहिले परिसंख्यान किया गया है बाद में प्रत्येक के क्रमेण लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। इसी परिच्छेद के अन्त में आशीः का प्रतिपादन है किन्तु उल्लेखनीय यह है कि परिच्छेद के प्रारम्भ में अलंकारों का नामोल्लेख करते समय भामह ने इसको सम्मिलित नहीं किया था। आशीः अलंकार को वे एकदम अलग रखते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि आशीः को उन्होंने आधे मन से अलंकार माना है, हाँ दूसरे आचार्य अवश्य उसे अलंकार के रूप में मानते थे।[2] अस्तु, भरत से लेकर भामह के समय तक विकसित तथा कतिपय स्वयं उद्भावित अलंकारों का भामह ने अपने काव्यालंकार में संग्रह किया है। इन अलंकारों के अतिरिक्त भी भामह के समय कुछ दूसरे अलंकार और उनके भेद प्रचलित थे जिनमें से अनेक भामह को मान्य नहीं थे, इनमें से कतिपय का उन्होंने प्रत्याख्यान-पूर्वक उल्लेख किया है और कदाचित् कतिपय अलंकार उन्होंने छोड़ भी दिए हैं, क्योंकि अलंकार का अनावश्यक विस्तार उन्हें अभीष्ट नहीं था। अलंकार के वर्गीकरण के लिए उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया है, हाँ, शब्दालंकार का पहिले और अर्थालंकार का बाद में निरूपण है, दो परिच्छेदों में समग्र अलंकारचक्र को वांटने (रूपक से स्वभावोक्ति तक द्वितीय परिच्छेद में तथा प्रेयः से लेकर भाविकत्व तक तथा आशीः का तृतीय परिच्छेद में निरूपण करने से) उनका क्या उद्देश्य था यह भले ही स्पष्ट न हो सके पर इससे अलंकारों के वर्गीकरण में कोई सहायता नहीं मिलती है, यह नितान्त निश्चित है। भामह द्वारा द्वितीय परिच्छेद में अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, उपमा का इस रूप में उल्लेख कि ये पाँच अलंकार ही दूसरे आचार्यों द्वारा

---

१. आक्षेप से लेकर अतिशयोक्ति तक ६ अलंकारों का पहले संख्यान हुआ है बाद में निरूपण (२-८७)। यथासंख्य और उत्प्रेक्षा (जिसे मेधावी नामक आचार्य 'संख्यान' कहते हैं) का एक साथ निर्देश है बाद में प्रत्येक का निरूपण और अन्त में स्वभावोक्ति है। कुछ आधुनिक लेखक इस प्रकार नामोल्लेख को वर्गों में विभाजन मानते हैं किन्तु मुझे यह अशुद्ध प्रतीत होता है।

२. आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मता।

—वहीं, ३।३।५५।

उदाहृत हैं,[1] तथा आक्षेप से लेकर अतिशयोक्ति तक ६ अलंकारों का पहिले नामतः उल्लेख, इसीप्रकार यथासंख्य और उत्प्रेक्षा इन दो अलंकारों का उल्लेख तथा तृतीय परिच्छेद में प्रेयः से लेकर भाविकत्व तक तेईस अलंकारों का पहिले उल्लेख (परिगणन) और बाद में निरूपण, अलंकारों को वर्गों में विभाजित करने के लिए किया गया है अतः भामह के अनुसार चार वर्ग है, यह विवेचन मुझे मान्य नहीं है क्योंकि तथाकथित प्रथम वर्ग (अनुप्रास से उपमा तक) शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों को एक साथ मिला देने से नितान्त सदोष हो जाएगा । पुनश्च भामह स्वयं कहते हैं कि ये पाँच अलंकार दूसरे आचार्यों ने 'उदाहृत' किए हैं । स्पष्ट है कि वे उन्हें एक वर्ग में नहीं रखना चाहते हैं । आक्षेप से लेकर अतिशयोक्ति तक के अलंकार भी वर्ग में अवस्थित नहीं हैं, उन्हें यथासंख्य तथा उत्प्रेक्षा के सम्बन्ध में दूसरे आचार्यों की मान्यता के उल्लेख से पृथक् करने के लिए ही एक साथ कर दिया गया है । यथासंख्य और उत्प्रेक्षा का एक साथ उल्लेख है पर अतिशयोक्ति को एकदम अलग रखा गया है स्वभावतः इन तीनों अलंकारों को मिला कर एक वर्ग की कल्पना करना व्यर्थ होगा । प्रेयः से लेकर आशीः तक का जो लोग चतुर्थ वर्ग बनाना चाहेंगे उनसे यह पूछा जा सकता है कि भामह ने स्वयं आशीः को २३ अलंकारों की गणना से पृथक् रखा है फिर उसे इनके साथ रखने की स्वयम्भू कल्पना क्यों कर रहे हैं ? वस्तुतः भामह ने अपनी सुविधा के अनुसार अलंकारों का पहले परिगणन कर दिया है, उस परिगणना में वर्गीकरण की उद्भावना अनुचित होगी ।

दण्डी ने काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में अलंकार का लक्षण प्रस्तुत करने तथा पूर्वाचार्यों द्वारा प्रदर्शित अलंकार-विकल्पों के बीज का प्रतिसंस्कार उनके ग्रंथ का उद्देश्य है यह स्पष्ट करने के बाद ३५ अर्थालंकारों का परिगणन किया है । उनकी सूची क्रमानुसार निम्नलिखित है—

स्वभावोक्ति (स्वभावाख्यान), उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश (लव), क्रम, प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष विशेषोक्ति (विशेष), तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा (अप्रस्तुतस्तोत्र), व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संसृष्टि तथा भाविक ।

दण्डी के इन अलंकारों में भामह के यथासंख्य, उपमारूपक, उपमेयोपमा,

---

१. वहीं, २।४ ।

ससन्देह, अनन्वय तथा उत्प्रेक्षावयव ये ६ अलंकार नहीं है। भामह द्वारा प्रत्याख्यात हेतु, सूक्ष्म तथा लेश के संग्रह के अतिरिक्त काव्यादर्श में आवृत्ति तथा क्रम के नाम से दो नवीन अलंकारों की उद्भावना भी है। दण्डी की एक उल्लेखनीय विशेषता अनेक अलंकारों के भेद का प्रस्ताव है। भामह अलंकार और उनके भेद बढ़ाने से दूर रहना चाहते थे पर दण्डी ने अलंकार की संख्या को न सही उनके भेदों की संख्या को बहुत अधिक बढ़ाया है। उनके द्वारा प्रवर्तित अनेक अलंकार-भेद कालान्तर में या तो स्वतंत्र अलंकार बन गए अथवा परवर्ती आचार्यों के भेदों में अन्तर्भूत हो गए हैं। अनेक भेद ऐसे भी हैं जिनका बाद में समादर नहीं हुआ है। दण्डी द्वारा वर्णित अलंकार-भेदों (जिनकी संख्या प्रत्येक अलंकार के सामने दी गई है) की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

स्वभावोक्ति ४—जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य का स्वभावाख्यान।

उपमा ३३—धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्यासोपमा, अन्योन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, अद्भुतोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निर्णयोपमा, श्लेषोपमा, निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, चटूपमा, तत्त्वाख्यानोपमा, असाधारणोपमा, अभूतोपमा, असंभावितोपमा, बहूपमा, विक्रियोपमा, मालोपमा, (दो प्रकार की) वाक्यार्थोपमा, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगोपमा तथा हेतूपमा।

रूपक १६—असमस्त०, समस्त०, समस्तव्यस्त०, अवयव०, अवयवि०, एकांग०, युक्त०, अयुक्त०, विषम०, सविशेषण०, विरुद्ध०, हेतु०, श्लिष्ट०, उपमा०, व्यतिरेक०, आक्षेप०, समाधान०, रूपक०, तत्त्वापह्नव०।

दीपक ११—जाति०, क्रिया०, गुण०, द्रव्य०, आदि०, मध्य०, अन्त०, माला०, विरुद्धार्थ०, एकार्थ०, श्लिष्टार्थ०।

आवृत्ति ३—अर्थावृत्ति, पदावृत्ति, उभयावृत्ति।

आक्षेप २४—वृत्त०, वर्तमान०, भविष्यद्० धर्म०, धर्मि०, कारण, कार्य०, अनुज्ञा०, प्रभुत्व०, अनादर०, आशीर्वचन० परुष०, साचिव्य०, यत्न०, परवश०, उपाय०, रोष०, मूर्च्छा०, अनुक्रोश०, श्लिष्ट०, अनुशय०, संशय०, अर्थान्तर०, हेतु०।

अर्थान्तरन्यास ८—विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध, विरोधवान्, अयुक्तकारी, युक्तात्मा, युक्तायुक्त, विपर्यय।

व्यतिरेक ६—एक०, उभय०, सश्लेष०, साक्षेप०, सहेतु०, सादृश्य०, प्रतीयमानसादृश्य०, सदृश०, सजाति०।

समासोक्ति ३—तुल्याकार-विशेषणा, भिन्नाभिन्न-विशेषणा, अपूर्व ।

अतिशयोक्ति २—संशय०, निर्णय०, (आश्रयाधिक्य० टीका के अनुसार अतिशयोक्ति का एक और भेद है) ।

उत्प्रेक्षा २—चेतनगत०, अचेतनगत० ।

हेतु०—कारक० (भावसाधक तथा अभावसाधक), विकार्य०, प्राप्य०, ज्ञापक०, अभाव०, (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, अत्यन्ताभाव के रूप में ४ प्रकार के अभावहेतु के उदाहरण दण्डी ने दिए हैं), अभावाभाव०, चित्र० (इसके दूरकार्य, तत्सहज, कार्यानन्तरज, अयुक्तकार्य, युक्तकार्य आदि भेद हैं)।

सूक्ष्म २—इङ्गितलक्ष्य, आकारलक्ष्य ।

लेश ४—अनिष्टसंभावनारूप, लज्जारूप, स्तुतिरूप, निन्दारूप (व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा) ।

प्रेयः २—वक्तृवोद्धव्य-प्रीति, वक्तृप्रीति ।

रसवत् ८—शृङ्गार, रौद्र, वीर, करुण, वीभत्स, हास्य, अद्भुत, भयानक इन आठ रसों के उदाहरण ।

उदात्त २—आशयमहत्त्व, विभूति-महत्त्व ।

अपह्नुति ३—विषय०, स्वरूप०, उपमा० ।

श्लिष्ट ९—अभिन्नपद, भिन्नपद, अभिन्नक्रिय, अविरुद्धक्रिय, विरुद्धक्रिय, अनियमवान्, नियमाक्षेपरूपोक्ति, अविरोधी, विरोधी ।

विशेषोक्ति ५—गुण, जाति, क्रिया तथा द्रव्य के वैकल्य में चार प्रकार की विशेषोक्ति तथा हेतुविशेषोक्ति ।

तुल्ययोगिता २—स्तुतिरूप, निन्दारूप ।

विरोध—६ प्रकार के उदाहरण । भेदों का नाम नहीं दिया गया है ।

व्याजस्तुति ३—शुद्ध, अर्थश्लेषमूल, शब्दश्लेषमूल ।

निदर्शन २—सत्फल०, असत्फल० ।

सहोक्ति २—गुण०, क्रिया० ।

संकीर्ण या संसृष्टि २—अङ्गाङ्गिभाव से,समकक्षता से ।

दण्डी ने अनन्वय और सन्देह का उपमा के भेदों में, उपमारूपक का रूपक के भेदों में, उत्प्रेक्षावयव का उत्प्रेक्षा के भेद में, अन्तर्भाव माना है । भामह की प्रवृत्ति अलंकार और उनके भेद यथासंभव घटाने की है किन्तु दण्डी

ने भेदों को यथासंभव बढ़ाया है; वे अलंकारों के अनन्त विस्तार का अपने ग्रंथ में समाहार करना चाहते थे।[१] अर्थालंकारों का निरूपण करने के बाद दण्डी ने तृतीय परिच्छेद में यमक के अनेक भेद[२] बताए हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र तथा प्रहेलिका को भी शब्दालंकारों में सम्मिलित किया है। भामह की भाँति दण्डी ने भी अलंकारों को वर्गीकृत करने का प्रयास नहीं किया है यहाँ तक कि उन्होंने शब्दालंकार का निरूपण भी अर्थालंकार के अनन्तर किया है जबकि शब्द की प्रतीति पूर्वभाविनी होती है अतः शब्दालंकार का विवेचन पहिले करना चाहिए था। तथापि एक बात अवश्य है कि दण्डी ने अलंकारों का क्रम दो-तीन स्थानों पर अधिक युक्तिसंगत रखा है। उदाहरण के लिए रूपक के पहिले उपमा को रखना निश्चित ही अधिक युक्तियुक्त क्रम है। दण्डी ने यह समझा भी था कि रूपक अन्ततः उपमा का ही विकास है[३] अतः उपमा को पहिले रखना ही उचित है।

दण्डी के बाद उद्भट ने अलंकारों की संख्या ४१ व्यवस्थित की है। उन्होंने कतिपय अलंकारों को लेकर उनका परिगणन (जिसे संस्कृत में उद्देश—नामतः संकीर्तन—कहते हैं) ६ बार किया है। इन परिगणनों के आधार पर कुछ लोग इन्हें वर्ग में विभाजन मानते हैं। प्रत्येक परिगणन के अन्त में उद्भट ने नियमतः यह कुछ अवश्य लिखा है कि दूसरे इन अलंकारों को मानते हैं।[४] अलंकारों का नामसंकीर्तन करने के बाद हर बार 'दूसरे (आचार्य) इन अलंकारों को बताते हैं' इस तकियाकलाम का क्या मतलब है? जो भी हो पर निश्चित ही अलंकारों का इससे वर्गीकरण नहीं हुआ है, यह आपको नीचे की

---

१. पन्थाः स एष विवृतः परिमाणवृत्त्या।
संहृत्य विस्तरमनन्तमलंक्रियाणाम्॥ —काव्यादर्श, २।३६८।

२. देखिए—वहीं ३।१-७६।

३. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। —वहीं, २।६६।

४. इनका क्रमशः उल्लेख इस प्रकार है—
(क) इत्येत एवालङ्कारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः।
(ख) ....अलंकारान् परे विदुः।
(ग) अपरे त्रीनलंकारान् गिरामाहुरलंकृतौ।
(घ) ...अलंकारान् परे विदुः।
(ङ) ....जगदुरलंकारान् परे गिराम्।
(च) ....अलंकारान्परे विदुः।

क्रमानुसारी (६ वार परिगणन को वर्ग न रहकर उद्देश कहना हमें अभीष्ट है) तालिका से स्पष्ट हो जाएगा—

प्रथम उद्देश—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास), लाटानुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय उद्देश—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति।

तृतीय उद्देश—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।

चतुर्थ उद्देश—प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट।

पंचम उद्देश—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति, विदर्शना (निदर्शना के लिए), संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति।

षष्ठ उद्देश—ससन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यहेतु (काव्य-लिंग), (काव्य-) दृष्टान्त।

उद्भट ने न केवल भामह-दण्डी के अनेक अलंकारों को और उनके भेदों को व्यवस्थित रूप प्रदान किया अपितु पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास (वृत्त्यनुप्रास भी उद्भट द्वारा ही प्रतिपादित है पर उन्होंने कदाचित् इसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना था), काव्यलिंग, दृष्टान्त, तथा संकर[1] इन अलंकारों की उद्भावना भी की है। अनेक अलंकारों के भेदों का परिष्कार कर उन्हें केवल व्यवस्थित रूप ही उद्भट ने नहीं दिया है अपितु उनके अपर भेदों की उद्भावना भी की है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय अलंकार (अकारादिक क्रम से) अतिशयोक्ति, अनुप्रास, अप्रस्तुतप्रशंसा, उपमा, विदर्शना, लाटानुप्रास, विशेषोक्ति तथा व्यतिरेक हैं। वस्तुतः अलंकारविकास की दृष्टि से उद्भट की सबसे बड़ी विशेषता अलंकार और उनके भेद को परिष्कृत रूप में परिभाषित करना है। उन्होंने भामह का प्रायेण अनुसरण किया है पर इनके यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव को तथा दण्डी के आवृत्ति, लेश तथा सूक्ष्म अलंकारों को स्वीकार नहीं किया है।

वामन ने कुल ३१ अलंकार माने हैं जिनकी निरूपण-क्रम के अनुसार

---

१. संकर का अन्तर्भाव दण्डी ने संसृष्टि के अन्तर्गत किया था।

सूची निम्नलिखित है—

शब्दालंकार—यमक, अनुप्रास ।

अर्थालंकार—उपमा[1], प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, सन्देह, विरोध, विभावना, अनन्वय, उपमेयोपमा, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शन, अर्थान्तर-न्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित, संसृष्टि (वामन के अनुसार उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव स्वतन्त्र अलंकार न होकर संसृष्टि के ही भेद हैं[2])। इस सूची से यह स्पष्ट है कि वामन ने पर्यायोक्त, प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वि, उदात्त, भाविक तथा सूक्ष्म अलंकारों का निरूपण छोड़ दिया है। अनेक अलंकारों के लक्षण भामह पर आधारित हैं जैसेकि उपमा और विभावना के। साथ ही वामन ने भामह-सम्मत उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव को भी (जिन्हें उद्भट ने भामह का प्रायः अनुसरण करने पर भी नहीं माना था) अपनी स्वीकृति प्रदान की है, यद्यपि यह अवश्य है कि वे इन्हें संसृष्टि का भेद बताते हैं। वक्रोक्ति का अर्थालंकार में सन्निवेश, व्याजोक्ति का निरूपण तथा अनेक अलंकारों के भेदों की नवीन उद्भावनाएं वामन की अपनी देन है। शब्दालंकारों का प्रथम विवेचन तथा प्रतिवस्तूपमा से लेकर संसृष्टि तक के अलंकारों को उपमा का प्रपञ्च बताने से इतना स्पष्ट है कि वामन एक तो शब्दालंकार तथा अर्थालंकार में अलंकारों का विभाग प्रस्तुत करते हैं, तथा दूसरे वह औपम्य-तत्त्व के आधार पर शेष अलंकारों को परोक्षतः वर्गीकृत करते हैं। उपमा का ही प्रपञ्च बताने के कारण भी यह सम्भव है कि गुण के विवेचन में वामन कुछेक अलंकारों के स्वरूप का अन्तर्भाव कर चुके थे। उदाहरण के लिए उनके कान्तिनामक गुण में रसवत् के स्वरूप का अन्तर्भाव किया जा सकता है। इसीप्रकार प्रसादगुण की सीमा में भाविक का अन्तर्भाव किया जा सकता। कदाचित् इसीलिए आगे चलकर रुय्यक ने प्रसाद गुण से भाविक अलंकार का भेद बताना आवश्यक समझा था। अलंकारविकास के प्रकरण में एकबात लिखना अत्यन्त आवश्यक है कि अनेक अलंकार नामतः तो एक हैं पर लक्षण की दृष्टि से उनमें अन्तर नहीं

---

१. वामन ने यमक, अनुप्रास तथा उपमा का चतुर्थ अधिकरण के द्वितीय अध्याय में प्रतिपादन किया है और शेष अलंकार (जिन्हें वे उपमा का प्रपञ्च मानते हैं) तृतीय अध्याय में प्रतिपादित हैं।

२. तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ। —वहीं, ४।३।३१।

है। उदाहरण के लिए वामन की विशेषोक्ति वस्तुतः रूपक (दृढारोप) है; आक्षेप के दो रूप (उपमानस्य आक्षेपः प्रतिषेधः) दूसरे आलंकारिकों के प्रतीप तथा समासोक्ति अलंकारों के अनुकूल हैं। इसीप्रकार दण्डी का लेश अलंकार मम्मट के व्याजोक्ति अलंकार का स्वरूप है। भट्टिकाव्य तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण से हमें तीन और अलंकारों की सूचना मिलती है। निपुण की भट्टिकाव्य से और उपन्यास की विष्णुधर्मोत्तरपुराण से तथा वार्ता नामक अलंकार की इन दोनों से[1]। अस्तु, भामह से प्रारम्भ कर वामन के समय तक लगभग ५५ अलंकारों की चर्चा हो चुकी थी। इनमें से वामन केवल ३१ अलंकार मानते हैं और उद्भट ने ४१ अलंकारों का विवेचन किया था।

रुद्रट ने व्याजश्लेष, अवसर, जाति, स्वभावोक्ति, हेतु, भावालंकार (दो भेद), मत, साम्य तथा पिहित इन नामों से नवीन अलंकारों की उद्भावना की है। इनमें से प्रथम चार का स्वरूप पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित क्रमशः व्याजस्तुति, उदात्त (द्वितीय), स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति (चतुर्थ भेद) इन अलंकारों से भिन्न नहीं है। रुद्रट के हेतु को तो मम्मट के अनुसार अलंकार ही नहीं मानना चाहिए। भावालंकार के दोनों भेद, जैसाकि रुय्यक ने अपनी सर्वस्वभूमिका में संकेत किया है, गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत ही आएगें। मत, साम्य तथा पिहित की भी नवीनता बाद के अनेक आचार्यों को मान्य नहीं रही है।

रुद्रट ने वक्रोक्ति, अनप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्रालंकार को शब्दालंकार माना है तथा इनके अनेक भेदों का भी प्रतान किया है।[2] रुद्रट सर्वप्रथम आलंकारिक है जिन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण किया है, वह सदोष है या निर्दोष यह बात दूसरी है। इस वर्गीकरण की चर्चा हम इसी अध्याय में आगे चल कर करेंगे। रुद्रट के बाद ध्वनिकाल के प्रवर्तक का युग प्रारम्भ हो जाता है। रुय्यक से पूर्व भोज और मम्मट ये दो आलंकारिक और हैं जिन्होंने अलंकारों के विकास में साक्षात् योग दिया था।

भोज द्वारा अलंकारमीमांसा एक नई परम्परा का प्रवर्तन करती है, इस नवीनता में अनेक प्राचीन परम्पराओं का समाहार भी है और प्रातिस्विक उद्भावनाएँ भी हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण के द्वितीय परिच्छेद में उन्होंने २४

---

१. इस सम्बन्ध में देखिए—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ७०,१४०-४१।

२. देखिए—का० अ० के द्वितीय अध्याय से पंचम अध्याय तक।

शब्दालंकारों का अनेक भेदोपभेद के साथ वर्णन किया है जिनकी तालिका निम्नलिखित है—

जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति। तृतीय परिच्छेद में भोज ने २४ अर्थालंकारों का अनेक भेदोपभेद के साथ वर्णन किया है। इनकी सूची निम्नलिखित है—

जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, संभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव। इसीके चतुर्थ परिच्छेद में २४ उभयालंकारों की सूची इस प्रकार है—

उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश (दूसरे आलंकारिकों के अनुसार व्याजस्तुति), सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक, संसृष्टि।

भोज के बाद अलंकारमीमांसा के इतिहास में मम्मट-रुय्यक का युग आ जाता है। मम्मट ने काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में ६ शब्दालंकार वक्रोक्ति, अनुप्रास, लाटानुप्रास, श्लेष, चित्र एवं पुनरुक्तवदाभास का तथा दशम में ६२ अर्थालंकारों का निरूपण किया है। इसके बाद रुय्यक ने अलंकारों के लक्षणनिरूपण, विकास, विभाग तथा वर्गीकरण में अपना अप्रतिम योगदान दिया है। मम्मट-रुय्यक द्वारा अलंकार के विकास या वर्गीकरण की चर्चा हम इस अध्याय और पूरे प्रबन्ध में यथास्थान करेंगे। मम्मट-रुय्यक से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा अलंकारविकास की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद अब हम क्रमशः अलंकारों के शब्दार्थोभय-विभाग, वर्गीकरण तथा निरूपण-क्रम की चर्चा श्रेणीविभाग के नाम से प्रधानशीर्षक के अन्तर्गत करेंगे।

शब्दार्थोभय-विभाग

प्राचीनकाल से ही अलंकारों को प्रधानतया शब्द तथा अर्थ के दो भागों में विभाजित किया जाता रहा है। आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य के तीन भेद हैं—ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा चित्र। रसादितात्पर्य से विहीन अलंकार-काव्य, आनन्दवर्धन की काव्यश्रेणियों के अनुसार, चित्रकाव्य कहा जाएगा। उन्होंने इसे दो भागों में रखा है शब्दचित्र तथा वाच्यचित्र। शब्दचित्र का काव्य

क्लिष्ट यमक आदि शब्दालंकारों से तथा वाच्यचित्र का काव्य उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से आभासित होता है। स्पष्ट है कि चित्र के समान (आलेख्य-प्रख्य) तीसरी कोटि का यह काव्य मुख्य नहीं है, काव्यानुकार है।[1] राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में अलंकार के शब्दार्थविभाग को ही दृष्टि में रखकर काव्य-कवि के आख्यातकवि आदि आठ भेदों में अलंकारकवि के दो भेद किए हैं—शब्दा-लंकारकवि तथा अर्थालंकारकवि—

द्विधालंकारकविः शब्दार्थभेदेन। —काव्यमी० पृ० ४२।

भरत ने जिन अलंकारों का उल्लेख किया है उनमें यमक शब्दालंकार है और शेष तीन अर्थ के अलंकार हैं। इसके बाद भामह तथा उद्भट ने भी अनुप्रास तथा लाटानुप्रास को शब्दालंकारों में रखा तथा कुछ अर्थालंकार भी अधिक बढ़ाए। इनमें से किसी भी आचार्य ने न तो स्पष्टतः अलंकारों के विभाग का उल्लेख किया है और न उनका आधार बताया है। भामह के पूर्ववर्ती कुछ आचार्य शब्दालंकार को और कुछ अर्थालंकार को अच्छा समझते थे। भामह को माघ की भाँति[2], दोनों ही समान रूप से अभीष्ट थे—

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः —काव्यालंकार १,१,१४।

अग्निपुराण का लेखक भी शब्दालंकार या अर्थालंकार में से किसी एक को अधिक वरेण्य मानता उचित न समझता था। उसे दोनों ही समान रूप से सुन्दर लगते थे।

केचिदर्थस्य सौन्दर्यमपरे पदसौष्ठवम्।
वाचामलंक्रियां प्राहुस्तद् द्वयं नो मतं मतम्॥

भामह ने काव्य की परिभाषा शब्द और अर्थ के साहित्य के रूप में की थी—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।** इनके अनुसार अलंकार शब्द और अर्थ के वक्रतापूर्ण सौन्दर्य पर निर्भर हैं। अस्तु अलंकार की कल्पना भी इन्हीं दो में सीमित रखी जा सकती है—**वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते**—भामहा-लंकार, ५,६६। इससे इतना तो स्पष्ट है कि भामह अलंकारों को शब्द तथा अर्थ इन दो भागों में विभाजित करना उचित समझते थे, और दोनों ही उन्हें समान रूप में अभीष्ट थे। पर भामह और उद्भट ने कहीं भी इस विभाग का

---

१. **चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।**
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्॥ —ध्वन्या० ३।४३।

२. **शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥**— शिशुपालवध, २।८६।

आधार नहीं बताया है। दोनों ही आचार्य शब्द तथा अर्थ के अलंकारों को एक साथ वर्गक्रम से लिखते जाते हैं। उनमें कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण का क्रम नहीं दिखाई देता। दण्डी ने गुण, दोष तथा अलंकार तीनों के ही शब्दगत तथा अर्थगत होने का निर्देश किया है।

शब्दार्थालंक्रियाः चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः।
गुणा दोषाश्च वाक्यानामिति संक्षिप्य दर्शिताः॥—काव्यादर्श, ३,१८६।

दण्डी ने शब्दालंकारों का विशद विवेचन किया है, और इनका तृतीय परिच्छेद में स्वतन्त्र रूप से वर्णन भी है। इस प्रकार भामह और उनके अनुयायी उद्भट को अलंकारों का शब्दार्थ-विभाग तो ज्ञात है पर उन्होंने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का पृथक् रूप में वर्णन नहीं किया है, उन्हें एक साथ मिलाकर रखा गया है। दण्डी में उनका पृथक् परिगणन है।

वामन के पूर्व तक गुणों का शब्दगत तथा अर्थगत विभाग विकसित न हो सका था। वामन ने सर्वप्रथम आश्रयाश्रयिभाववाद के आधार पर गुणों का शब्दगत तथा अर्थगत के रूप में विभाजन किया।[1]उन्होंने अलंकारों को भी दो भागों में बांटा है। 'आलंकारिक' नामक चतुर्थ अधिकरण का प्रथम अध्याय केवल शब्दालंकारों—यमक तथा अनुप्रास[2]—का प्रतिपादन करता है। दूसरा अध्याय अर्थालंकारों का है।[3] वामन ने गुणों को शब्द तथा अर्थ का स्थिर करने के लिए आश्रयाश्रयिभाव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यद्यपि अलंकारों के विभाग का भी यही आधार है, यह वामन ने स्पष्टतः कहीं नहीं लिखा है पर मेरा विचार है कि गुण हों या अलंकार दोनों के लिए ही आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त वामन को समान रूप से अभिमत है। उनके अनुसार शब्दालंकार '**वाचकद्वार**' है और अर्थालंकार '**वाच्यद्वार**'। जिस प्रकार पदगत ओज शब्द-गुण है उसी प्रकार अनेकार्थ पद यमक है जो शब्दालंकार है। साम्य अर्थतत्त्व है उसके आधार पर उपमा की परिभाषा की गई है।[4] अतः अलंकार को 'वाच्यद्वारक' कहा जा सकता है।

वामन के बाद अग्निपुराणकार, भोज तथा प्रकाशवर्ष ने शब्दगुण तथा

---

१. देखिए—Concept of Rīti and Guṇa, पृ० ८४ तथा १०८।
२. **तत्र शब्दालंकारौ द्वौ यमकानुप्रासौ।** —का० अ० सू० ४।१।
३. **सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः।** —वहीं, ४।२।
४. देखिए—का० अ० सू० ४।२।१।

अर्थगुण के अतिरिक्त जिनमें दोनों का सम्मिलन हो उन्हें उभयगुण की संज्ञा दी है। इधर रुद्रट, भोज, तिलक, मम्मट, रुय्यक आदि प्राचीन और विश्वनाथ जैसे अर्वाचीन आलंकारिकों ने अलंकार का उभयभेद भी माना है। श्लेष अर्थालंकार है या शब्दालंकार, यह विवाद युगों से चला आ रहा है। इस पर अपना मत प्रकट करते हुए रुद्रट ने श्लेष को उभयालंकार मानना उचित समझा है—'श्लेषोऽर्थस्यापि'।[1] भोज ने उभयालंकार का विवेचन करने के लिए एक स्वतन्त्र परिच्छेद ही लिखा है।[2] भोज का उभयालंकार-विवेचन एक स्वतन्त्र परम्परा का अनुयायी है। उन्होंने चौबीस उभयालंकारों का समावेश किया है।[3] इनमें श्लेष और संसृष्टि को छोड़कर किसी भी दूसरे अलंकार को किसी भी परिचित आलंकारिक ने उभयालंकार नहीं माना है। भोज के अनुसार यदि किसी शब्द (जैसे कि 'इव' आदि) की सहायता से औपम्य या कोई दूसरा अर्थ मालूम देता है तो उन्हें उभयालंकार माना जाएगा—

शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता उभयालंक्रियाः प्रियाः[4] ॥
—स० क० ४,१।

भोज के समय तक इसप्रकार अलंकारों का शब्द, अर्थ तथा उभय में विभाग किया जाता था। किन्तु अलंकारों के इस त्रिवर्ग में विभाजन का सिद्धान्त विकसित न हुआ था, यद्यपि वामन के शब्दगुण तथा अर्थगुण को निश्चित करने के आधार ने आश्रयाश्रयिभाव का संकेत अवश्य कर दिया था। रुय्यक के पिता राजानक तिलक ने, जिनका प्रभाव मम्मट और रुय्यक दोनों पर ही है, अन्वयव्यतिरेक तथा आश्रयाश्रयिभाव के मानदण्डों की चर्चा अपनी विवृति में की है। उन्होंने उद्भट के पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार की कोटि में रखकर अलंकार का त्रिरूप विभाजन भी प्रतिपादित किया है।[5] आगे

---

१. शब्दालंकार एवायं श्लेषो नत्वर्थालंकारोऽपीति तं प्रत्याह-श्लेषोऽर्थस्यापि। —नमिसाधु, पृ० १५, काव्यालंकार।

२. इदानीमुभयालंकारविवेचनाय परिच्छेदमारभते। —स० क० पृ० ३९८।

३. भोज के चौबीस उभयालंकारों के लिए देखिए —स० क० ४।२-४।

४. जगद्धर की इस पर टीका भी देखिए—पृ० ३९९।

५. तत्र आद्यः (पुनरुक्तवदाभासः) उभयस्य शब्दस्यार्थस्य च। ततस्त्रयः शब्दस्य। शेषास्त्वर्थस्यालंकाराः। —विवृति, पृ० १।

चलकर मम्मट ने भी अलंकारों की इस त्रिविधता को स्वीकार किया था—

इति प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलंकाराः ।

—का० प्र० (झलकीकर), पृ० ७६६ ।

काव्यप्रकाशकार ने उभयालंकारों का सामस्त्येन एक जगह प्रतिपादन नहीं किया है। और यह उनके लिए संभव भी नहीं था क्योंकि सभी अर्थालंकार श्लेष के होने पर उभयालंकार बन सकते हैं। उभयालंकारों (जिनकी संख्या अधिक नहीं हो सकती) का भी समावेश, भट्टगोपाल के अनुसार, काव्यप्रकाश की प्रौढता का परिचायक है—

औभयिकानामप्राचुर्येऽपि तृतीयकोटिनिर्वाहः प्रौढत्वमिति ।

—सा० चू० (द्वितीय भाग), पृ० ४२६ ।

रुय्यक ने अलंकारों का यह त्रिविध विभाजन अधिक स्पष्ट रूप से किया है। उन्होंने पौनरुक्त्य की तीन कोटियां मानी हैं—अर्थपौनरुक्त्य, शब्दपौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य—

इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः ।

—अ० स० पृ० १६ ।

सर्वस्वकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पौनरुक्त्य का यह त्रैविध्य अलंकारों का विभाग करने के लिए किया गया है—

आदौ पौनरुक्त्यप्रकारवचनं वक्ष्यमाणालंकाराणां कक्ष्याविभागघटनार्थम् ।

पुनरुक्तवदाभास अर्थपौनरुक्त्य पर, छेकानुप्रास तथा यमक शब्दपौनरुक्त्य पर, और लाटानुप्रास शब्द तथा अर्थ दोनों की ही पुनरुक्ति पर आधारित है।[1] अपने अन्तिम सूत्र में तथा उसकी विवृति में अलंकारों के इस त्रिविध विभाजन को रुय्यक ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

सूत्र : **एवमेते शब्दार्थोभयालंकाराः संक्षेपतः सूत्रिताः ।**

---

१. **पुनरुक्तवदाभासमर्थपौनरुक्त्याश्रितम् । छेकानुप्रासादयस्त्रयः शब्दपौनरुक्त्याश्रयाः । लाटानुप्रासस्तूभयाश्रित इति पंच पौनरुक्त्याश्रिता अलंकाराः ।** —वि० पृ० ३० ।

वृत्ति : तत्र शब्दालंकारा यमकादयः। अर्थालंकाराः उपमादयः।
उभयालंकाराः लाटानुप्रासादयः।[1] —अ० स० पृ० २५६।

सर्वस्व से परवर्ती आलंकारिकों में विद्याधर तथा विद्यानाथ ने रुय्यक का पूर्णतः अनुसरण किया है। प्रतापरुद्रयशोभूषण का लेखक प्रारम्भ में ही रुय्यक की भांति इस अलंकारत्रैविध्य का निर्देश कर देता है—

तत्र प्रथमं शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यमलंकाराणाम्।
—प्रतापरुद्र०, पृ० ३३७।

इस पर कुमारस्वामी की टीका रुय्यक के शब्दों का अनुवादमात्र है।[2] विद्याधर की ही भांति विद्यानाथ[3] ने भी अलंकार के इस त्रिविध विभाग का अनुसरण किया है। इन दोनों के तथा रुय्यक के विवेचन में इस सम्बन्ध में इतना साम्य है कि कोई भी पाठक यह अनुभव किए विना नहीं रह सकता कि दोनों ही लेखकों ने अलंकारसर्वस्व के शब्दों का थोड़े बहुत अन्तर के साथ अनुवाद किया है।

वाग्भट ने उभयालंकार का स्पष्ट निर्देश कहीं नहीं किया है। हेमचन्द्र ने पुनरुक्तवदाभास तथा अर्थान्तरन्यास को उभयालंकार मानना अधिक तर्कसंगत समझते हुए भी उभयालंकार की अलग कोटि नहीं मानी है। उनका कहना है कि जहां शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों होते हैं वहां उनमें से किसी एक का वैचित्र्य अधिक उत्कट रहता है अतः अलंकारों का द्विविध विभाजन ही उचित है। यह निष्कर्ष हेमचन्द्र की निम्नांकित पंक्तियों से निकलता है—

यद्यपि पुनरुक्तवदाभासार्थान्तरन्यासादयः केचिदुभयान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽपि दृश्यन्ते तथापि तत्र शब्दस्यार्थस्य वा वैचित्र्यमुत्कटमिति उभयालंकारत्वमनपेक्ष्यैव[4] शब्दालंकारत्वेन अर्थालंकारत्वेन चोक्ताः।
—काव्यानुशासन, पृ० ३५१।

---

१. अनुप्रासयमकादयः शब्दालंकाराः। उपमारूपकादयोऽर्थालंकाराः, लाटानुप्रासादयस्तूभयालंकाराः इति कक्ष्याविभागः अनुसन्धेयः।
—संजी० पृ० २७।

२. रत्नापण, पृ० ३३७।

३. विशेषतः द्रष्टव्य—तरल, पृ० १६४।

४. काव्यमाला में प्रकाशित काव्यानुशासन का पाठ है—'उभयालंकारत्वमनपेक्ष्यैव नाष्टालंकारत्वेन नार्थालंकारत्वेन चोक्ताः' जो आपाततः अशुद्ध है।

विश्वनाथ को यह त्रिविध विभाग अभिमत है। इसीलिए पुनरुक्तवदाभास तथा श्लेष को उभयालंकार मानना उनकी दृष्टि से अधिक उचित है। अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ ने शब्दालंकार तथा उभयालंकार का निरूपण नहीं किया है।[1] दीक्षित का कथन है कि शब्दचित्र रसहीन होता है अतः कविगण उसका आदर नहीं करते हैं, और उसमें चिन्तन का अंश भी अधिक नहीं होता है; अर्थचित्र की मीमांसा प्रसाद-सम्पन्न होती है साथ ही उसका विस्तार भी अधिक है अतः शब्दालंकार या शब्दचित्र का निरूपण उन्होंने छोड़ दिया है। पर चित्रकाव्य के त्रिविध या चतुर्विध विभाग[2] से स्पष्ट है कि उन्हें भी अलंकार का त्रिविध विभाग अभीष्ट है।

अलंकारविभाग का नियामक तत्त्व

किस अलंकार को शब्द का और किसे अर्थ का माना जाए इस पर संभवतः सर्वप्रथम आलोचनात्मक विवेचन राजानक तिलक से प्रारम्भ होता है। गुणों को शब्द तथा अर्थ का स्थिर करने के लिए वामन ने भी एक सिद्धान्त का आश्रय लिया था किन्तु अलंकारों के सम्बन्ध में साक्षात् विचार न होने से वामन को अलंकारविभाग के नियामक तत्त्व को स्थिर करने वाला नहीं माना जा सकता है। यद्यपि यह अवश्य है कि उनके गुण-विभाग के विवेचन से, जो स्वयं अधिक विशद या स्पष्ट नहीं है, परवर्ती ग्रन्थकारों तथा टीकाकारों को सहायता अवश्य मिली होगी।

अलंकारविभाग के दो सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। एक है आश्रयाश्रयिभाव तथा दूसरा है अन्वयव्यतिरेकभाव। इन दोनों सिद्धान्तों के उद्भावक आचार्य

---

१. अप्पय्यदीक्षित का कथन है—शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति शब्दचित्रांशमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते। —चित्रमी० पृ० ५।

२. (अ) यदव्यंग्यमपि चारु तच्चित्रम्।

(ब) तत् त्रिविधं शब्दचित्रमर्थचित्रमुभयचित्रमिति। —वहीं।

(स) यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्। —रसग० पृ० १६।

उद्‌भट हैं या नहीं, यह कहना कठिन है। समुद्रबन्ध के अनुसार उद्भट आदि प्राचीन आचार्य प्रथम सिद्धान्त के समर्थक थे।[1] अन्वयव्यतिरेकवाद न केवल इनके अनुसार युक्तिहीन ही है अपितु प्राचीन आचार्यों के मत के विपरीत भी है—

अन्वयव्यतिरेकपक्षे न केवलं युक्तिविरोधः उद्भटादिपूर्वाचार्यविरोधोऽपि।
—समुद्र० पृ० २२८।

रुय्यक की पंक्ति—तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तनमतानुसृतिः—अ०स० पृ० ५७, से भी यही संकेत मिलता है कि प्राचीन आचार्य, जिनमें उद्भट की निश्चित रूप में गणना है, आश्रयाश्रयिभाव के समर्थक थे। इस प्रकार परम्परा के अनुसार कम से कम उद्‌भट तो अवश्य ही इस सिद्धान्त के प्रतिपादक या समर्थक थे किन्तु हमें प्रकाशित काव्यालंकारसारसंग्रह में इस प्रकार का कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है जिससे हम उद्भट को इस मत का उद्भावक आचार्य कह सकें। हाँ, तिलक को अवश्य इस मत का प्रमुख प्रतिपादक या उद्भावक आचार्य कहा जा सकता है। जो भी हो पर इतना निश्चित है कि मम्मट तथा रुय्यक दोनों ही उपर्युक्त सिद्धान्तों के निरूपण के लिए बहुत कुछ राजानक तिलक के अनुगृहीत हैं। जयरथ का कथन है कि तिलक ने अपनी काव्यालंकारसारसंग्रह की टीका[2] में आश्रयाश्रयिभाव के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है। आश्रयाश्रयिभाव शब्द न आने पर भी दो स्थलों में इस सिद्धान्त का निरूपण हमें प्रकाशित पुस्तक में मिलता है।[3] रुय्यक अपने पिता

---

१. काव्यप्रकाश के टीकाकार सारबोधिनीकार उद्भट को अन्वयव्यतिरेकवाद का समर्थक बताते हैं—

सरबोधिनीकारास्तु—उद्भटाचार्यमते अप्येवमिति दर्शयति योऽलंकार इति।
—का० प्र० (झलकीकर), पृ० ७६८।

२. एतच्चोद्भटविवेके राजानकतिलकेन सप्रपञ्चमुक्तम्। —वि० पृ० २५७।

३. प्रासंगिक उद्धरण निम्नलिखित हैं—

(अ) अत्र शब्दमुखेनार्थस्य विचित्रत्वेऽपि मुख्यतः कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्य शब्दस्य वैचित्र्यमिति शब्दालंकारत्वं युक्तम्। ग्रन्थगौरवभयात्तु न प्रतनुमः। किञ्चित्तु श्लेषस्थाने वक्ष्यामः।
—विवृति, पृ० ११।

राजानक तिलक के अनुयायी हैं अतः यह कहना गलत न होगा कि आश्रयाश्रयिभाव के सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादक रुय्यक तिलक का ऋणी है।

मम्मट अन्वयव्यतिरेकवाद के प्रमुख समर्थक आचार्य हैं। उनके अनुसार न केवल अलंकार अपितु दोष तथा गुण के भी शब्दार्थोभय-विभाग का आधार अन्वयव्यतिरेकभाव है।

इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सोऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते।[1] —का० प्र० (अनन्तशयनम्), पृ० २२८-२९।

राजानक तिलक की विवृति में अन्वयव्यतिरेकभाव के लिए पर्याप्त निर्देश है। अतः यह कहना (जैसा कि श्रीविद्याचक्रवर्ती का भी अनुमान है) युक्तिसंगत होगा कि मम्मट ने अपने सिद्धान्त का विकास राजानक तिलक के प्रतिपादन के आधार पर किया है। श्लेष के प्रसंग में इनका यह कथन तो अन्वयव्यतिरेकवाद का स्पष्ट अभिधान-सा करता है—

काव्ये दोषगुणानां च शब्दार्थगततयान्वयव्यतिरेकाभ्यां विभागः क्रियते। न च भानुदीप्यमानादिशब्दसद्भावेऽलंकारोऽत्रेति शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोऽस्य शब्दालंकारत्वमेव युक्तम्। —विवृति, पृ० ४०।

काव्यप्रकाश के तथा विवृति[2] के ऊपर उद्धृत अंश को एक साथ पढ़ने पर

(ब) एवं चेह चतुर्थं रूपकं श्लेषव्यतिरेकश्च यदुक्तं तस्योक्तनयेन शब्दालंकारत्वमेव युक्तम्। एवमादौ शब्दमूलालंकारो न शब्दस्यालंकार इतिचेत् उक्तमत्र वैचित्र्यमलंकार इति। यद्वैचित्र्यं तस्यालंकार इति यथोक्तमेव साधु। —वहीं, पृ० ४०।

१. श्रीविद्याचक्रवर्ती इस पर टीका करते हुए लिखते हैं—
इह हि न केवलम् अलंकाराणां यावता दोषादीनां सर्वेषामेव धर्माणां यो विभागः स तत्तच्छब्दार्थान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवस्थितिं लभते।
—सं० प्र० (द्वितीय भाग), पृ० २२८-२९।

२. पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार सिद्ध करते हुए विवृतिकार का विवेचन भी उल्लेख्य है—
नागशितिकण्ठपर्यायोपादानेऽप्यलंकारो न हीयते इत्यर्थोऽलंकार्यः। कुञ्जरकालगलशब्दपर्यायोपादाने तु नालंकारो भवतीति शब्दोऽलंकार्य इत्युभयावलम्बनोऽयमलंकारः। —विवृति, पृ० ३।

इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि तिलक के शब्दों तक को मम्मट ने अपने सिद्धान्त के विकास में उधार लिया है । इस प्रकार विवृति में दोनों ही सिद्धान्तों का सूक्ष्म निर्देश है; यह कहना कठिन है कि राजानक तिलक किस मत को वरेण्य समझते थे । सिद्धान्त रूप में भले ही उन्हें आश्रयाश्रयिभाव अभीष्ट रहा हो पर उन्होंने उदाहरणों में अनेकत्र अन्वयव्यतिरेक का सहारा लिया है । हमें इस प्रसंग में यह न भूलना होगा कि तिलक दोनों ही सिद्धान्तों का मूलाधार यद्वैचित्र्यवाद मानते हैं । किसी कविता में शब्द या अर्थ के आश्रय से अथवा उसके अन्वय या व्यतिरेक से अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता है । निर्णय का आधार तो वैचित्र्य या चमत्कार की अनुभूति का केन्द्रबिन्दु ही होगा । जहाँ जिससे वैचित्र्य की अनुभूति होगी वहाँ उसीके अनुसार अलंकार होगा । इस अनुभूति के दो आधार हैं—सहृदय और कविविवक्षा । किसी भी काव्यमयी सृष्टि के अभिव्यंजनापक्ष पर विचार करने पर इन दो को ओझल नहीं किया जा सकता है—कवि का कथ्य या उसकी विवक्षा और पाठक—सहृदय—की कविता के प्रति प्रतिक्रिया । ये दोनों ही परस्पर अविरोधी भाव से काव्य के भावपक्ष के ही क्यों शिल्पपक्ष के भी निर्णायक हैं । अस्तु, राजानक तिलक ने शब्द तथा अर्थ में अलंकार के विभाग का आधार यद्वैचित्र्यवाद को माना है । जहाँ जिसका वैचित्र्य है वहाँ उसीके आधार (आश्रय) पर अलंकार है । रससिद्ध कवि की वाणी में यह वैचित्र्य एक विशिष्ट शब्द से इतना तद्रूप हो जाता है कि उस शब्द के रहने पर ही चमत्कार की अनुभूति होती है । यही कारण है कि राजानक तिलक ने यद्वैचित्र्यवाद को मानकर आश्रयाश्रयिभाव तथा अन्वयव्यतिरेकभाव दोनों से ही उसकी संगति बैठा ली थी । वैचित्र्य अलंकार का पर्याय है वही अलंकार के विभाग का भी नियामक है, अतः राजानक तिलक का सिद्धान्त मूल के स्वरूप (परिभाषा) से ही अनुप्राणित है ।

अन्वयव्यतिरेकभाव

मम्मट के अनुसार अन्वयव्यतिरेकभाव अलंकार के शाब्दत्व या आर्थत्व के निर्णय का आधार है । अन्वय का अर्थ है जिसके रहने पर जो रहे—**यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः** । व्यतिरेक उसे कहते हैं यदि कोई वस्तु किसी के न रहने पर न रहे—**यदभावे यदभावो व्यतिरेकः** । दण्डचक्र के रहने पर ही घड़े की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं । इसप्रकार घटभाव दण्डचक्र के भाव पर अवलम्बित है । इसे अन्वयसम्बन्ध कहेंगे । दण्डचक्रके अभाव में घट की उत्पत्ति

नहीं होती अतः दोनों में व्यतिरेकसम्बन्ध है। किसी शब्दविशेष के रहने पर अलंकारविशेष रहे और न रहने पर न रहे तो अन्वयव्यतिरेकभाव से नियन्त्रित होने के नाते उसे शब्दालंकार कहा जाएगा।[1] यदि शब्दपरिवर्तन कर देने पर भी अलंकार रहे तो वह अर्थालंकार होगा—

योऽलंकारो यदीयावन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारः।[2]

—का० प्र० पृ० ४२७।

आश्रयाश्रयिभाव का खण्डन करने वाले आचार्य तथा उनके अनुयायियों का कहना है कि यह एक अस्पष्ट सिद्धान्त है, इसका स्वरूप निश्चित नहीं है। ऐसे अलंकार जो केवल शब्द या केवल अर्थ पर आश्रित हों कम मिलेंगे। फिर सभी शब्दालंकारों का अर्थ से और सभी अर्थालंकारों का शब्द से सम्बन्ध स्वाभाविक ही है। शब्द के बिना अर्थ कैसे होगा अतः आश्रयाश्रयिभाव के आधार पर अलंकारों का शब्दार्थ-विभाजन निश्चित नहीं किया जा सकता। इस सिद्धान्त को मानने से शब्दालंकार अर्थालंकार और अर्थालंकार शब्दालंकार बन सकते हैं। अतः आश्रयाश्रयिवाद मानना उचित नहीं है। अन्वयव्यतिरेकवादी के अनुसार तो आश्रयाश्रयिभाव अन्ततः अन्वयव्यतिरेकभाव पर ही आधारित है—

योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार इत्यपि कल्पनायामन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ। तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्याभावादित्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्। —वहीं, पृ० ४२८।

अन्वयव्यतिरेकभाव की आलोचना

मम्मट ने अलंकार का निर्णायक तत्त्व जानने के लिए तर्क-प्रणाली को अपनाया है पर अलंकार से चमत्कारोत्पत्ति की मानसिक दशा मन की तार्किक

---

१. सति शब्दे शब्दालंकारोऽस्ति। असति नास्तीत्यादि भावाभावानुविधानम्।
—सं० प्र० (द्वितीय भाग), पृ० ४२७।

२. काव्यानुशासन (नि० सा०), पृ० ३४१ तथा का० प्र० (अनन्तशयनम्), पृ० ४२७ का पाठ निम्नलिखित है—'भावाभावावनुविधत्ते'।
अतः अन्वयव्यतिरेकवाद के अतिरिक्त भावाभाववाद भी इस सिद्धान्त को संज्ञा दी जा सकती है।

दशा से भिन्न होती है। उस समय मन चमत्कार की दशा से तर्क की दशा को प्राप्त नहीं होता और सहृदय पाठक अन्वयव्यतिरेक के बुद्धिव्यापार द्वारा तर्क का आश्रय नहीं लेता। अलंकार यदि विच्छित्ति है, वैचित्र्य है तो अमुक अलंकार किस पर आश्रित है यह ज्ञान अलंकार से उत्पन्न सौन्दर्यबोध के साथ ही हो जाना स्वाभाविक है; उसके ज्ञान की भिन्न प्रक्रिया नहीं होती। इस प्रक्रिया को हम इसी सौन्दर्यबोध की प्रक्रिया का अंग मान सकते हैं। सौन्दर्य की प्रतीति के साथ सौन्दर्य का कारण भी जुड़ा रहता है। अतः अलंकारबोध के साथ ही हमें अलंकार के आश्रयतत्त्व का अथवा अमुक अलंकार में किस तत्त्व की प्रधानता है इसका ज्ञान हो जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अन्वयव्यतिरेकभाव का खण्डन किया है। उनके अनुसार इससे आश्रय का ज्ञान नहीं हो सकता। इससे तो केवल हेतु का ज्ञान होता है। और उस हेतु का अपने कार्य के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है जिस प्रकार का सम्बन्ध घट से दण्डादि का। दण्डादि में घट की सत्ता नहीं होती है किन्तु शब्द तथा अर्थ में अलंकार की सत्ता रहती है। अतः अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह नहीं जाना जा सकता कि अमुक अलंकार का आधार शब्द है अथवा नहीं—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि हेतुत्वावगमो घटं प्रति दण्डादेरिवास्तु। नतु आश्रयत्वावगमः। स पुनस्तद्वृत्तिज्ञानत्वाधीनः। —रसग० पृ० ४०२।

अन्वयव्यतिरेकवाद की आलोचना करते हुए रुय्यक का कथन है कि अन्वय या व्यतिरेक—एक के रहने या न रहने पर किसी दूसरे का रहना या न रहना—अलंकार की कार्यता का निश्चय कर सकता है अलंकारत्व का उससे निश्चय नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए श्रौतोपमा में इव शब्द का प्रयोग कारण है उपमा का श्रौत होना कार्य किन्तु यह अलंकार (श्रौतोपमा) शब्दालंकार माना जाए या अर्थालंकार इसका निर्णय अन्वय-व्यतिरेक से नहीं करना चाहिए।[1] श्रौतोपमा की भाँति ही वाच्योत्प्रेक्षा भी है जिसमें इव का प्रयोग उत्प्रेक्षा को वाच्य अवश्य बनाता है किन्तु उसे अर्था-लंकार मानने का कारण तो उत्प्रेक्षा का अर्थ पर आश्रित होना ही है। अस्तु, अन्वयव्यतिरेक-भाव किसी अलंकार-विशेष के साथ कारण-कार्य के सम्बन्ध का

---

१. **अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ न तदलंकारत्वे तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात्।** —अ० स० पृ० २५६-५७।

विवेचन अवश्य करता है किन्तु उसकी शब्द, अर्थ या उभय की अलंकारता का निर्णायक नहीं हो सकता है। सुवर्ण कुण्डल का उपादान कारण है। सुवर्ण कारण है और कुण्डल कार्य किन्तु उसे कान का आभूषण क्यों कहा जाता है इसका आधार कारण-कार्य का सम्बन्ध न होकर कर्ण के आश्रय से विच्छित्ति या चमत्कार उत्पन्न करना ही है। अतः जिस प्रकार सुवर्ण कुण्डल की कार्यता का नियामक भले ही हो पर उसे कर्णालंकार कहे जाने का नियामक नहीं माना जा सकता है, ठीक उसी प्रकार श्रौतोपमा या वाच्योत्प्रेक्षा में इव शब्द तथा इसी प्रकार अन्य अनेक अलंकारों में सह, हि, आदि शब्दों का प्रयोग या अप्रयोग अलंकार की कार्यता का प्रयोजक भले हो पर उस अलंकार के शब्द या अर्थ के कहे जाने का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है। अन्वयव्यतिरेक का सिद्धान्त कारण-कार्य के औपपत्तिक सम्बन्ध की विवेचना करता है किंतु वह काव्य में प्रतीति या सौन्दर्यबोध की व्याख्या नहीं कर पाता है। साथ ही वह अलंकार-विभाग का सारा श्रेय शब्दविशेष के प्रयोग या अप्रयोग पर छोड़ देता है। इस सिद्धान्त का युक्तिगम्य परिणाम यह होगा कि जहाँ कहीं किसी अलंकार में कोई शब्द या अभिव्यक्ति, जैसे कि इव, यथा, हि, विना, सह आदि आलंकारिक शिल्प के आनुषङ्गिक तत्त्व होंगे, वे ही प्रधान बनकर अलंकार के शाब्द या आर्थ होने के घटक तत्त्व बन जाएंगे। यह तार्किक परिणाम कदाचित् मम्मट को भी स्वीकार न होगा।

परवर्ती अन्य आलंकारिकों में विद्याधर[1] तथा विद्यानाथ[2] आश्रयाश्रयिभाव को मानने के नाते ही पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकार मानते हैं। अप्पय्यदीक्षित भी इसी सिद्धान्त के समर्थक हैं। इसीलिए वे सभंग तथा अभंगश्लेष को अर्थालंकार मानते हैं।

आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त

रुय्यक के अनुसार जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है वह उसका अलंकार होता है—**योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारः**। यदि अलंकार शब्द पर आश्रित है तो शब्दालंकार, अर्थ पर आश्रित है तो अर्थालंकार और शब्द तथा अर्थ दोनों पर आश्रित है तो उभयालंकार कहा जाएगा। लौकिक आभूषणों के

१. देखिए—प्रतापरुद्र० ३४३।

२. देखिए—एका० पृ० ४०६ टिप्पणी।

सम्बन्ध में भी यह बात चरितार्थ होती है।[1] कटक हाथ का अलंकार कहलाता है क्योंकि वह हाथ पर आश्रित है। कुण्डल कानों का तथा नूपुर पैरों का अलंकार कहलाता है क्योंकि वह कानों और पैरों में पहिना जाता है, उस पर आश्रित है। विमर्शिनी ने 'लोकवद्' की व्याख्या करते हुए यही मन्तव्य प्रकट किया है—

लोके हि योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारतयोच्यते, यथा कुण्डलादिः कर्णाद्याश्रितस्तदलंकारः। —वि० पृ० २५७।

हाथ के संयोगमात्र से नूपुर हाथ का अलंकार नहीं हो सकता और न पैर के संयोग से कटक या कुण्डल पैरों का। लौकिक आभूषणों तथा काव्यालंकार का इस अंश तक साम्य है। आश्रय का निश्चय शोभा, विच्छित्ति या वैचित्र्य के आधार पर होता है इसकी चर्चा हम अभी कर चुके हैं।

रुय्यक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्वय-व्यतिरेक केवल कार्यता के प्रयोजक हो सकते हैं शब्दादि की अलंकारता का नियामक केवल आश्रयाश्रयिभाव ही है। अन्वय-व्यतिरेक को शब्दादि की अलंकारता का प्रयोजक मानने से श्रौतोपमा आदि को भी शब्दालंकार मानना पड़ेगा—

लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारनिबन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ न तदलंकारत्वे। तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात्। —अ० स० पृ० २५६-५७।

राजानक जयरथ ने रुय्यक के उपर्युक्त मन्तव्य पर टीका करते हुए लिखा है कि यद्यपि शब्द, अर्थ तथा उभय के अलंकार समान रूप से काव्य में शोभातिशय का आधान करते हैं किन्तु कोई अलंकार शब्द अथवा अर्थ अथवा दोनों का क्यों माना जाता है इस प्रतिनियम का निर्णायक लोक की भाँति ही आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त है। लोक में जो अलंकार जिस पर आश्रित होता है वह उसी का अलंकार कहलाता है जैसेकि कुण्डल आदि कर्ण आदि पर आश्रित होने से (न कि सुवर्ण से निर्मित होने के कारण) कर्ण का अलंकार कहलाता है। इसी प्रकार अलंकारशास्त्र में भी शब्द आदि पर अश्रित रहने वाला शब्दादि का अलंकार होता है[2]—

---

१. (क) अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः।
(ख) आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात्।
—अ० स० पृ० १२४।

२. वि० पृ० २५७।

लोके हि यथा कर्णाश्रितः कुण्डलादिः कर्णालंकार उच्यते न पुनः सुवर्णकारणहेतुकत्वात्तदलंकारः। —वि० पृ० १२४।

आश्रयाश्रयिभाव का यह सिद्धान्त सौन्दर्यविधान के तत्त्व पर आश्रित है इसलिए जयरथ इसे उपस्कार्योपस्कारक भाव भी कहते हैं। यदि किसी अलंकार द्वारा शब्द का उपस्करण होता है तो वह शब्दालंकार, अर्थ का उपस्करण होता है तो अर्थालंकार कहलाएगा—

आश्रयाश्रयिभावेनेति। उपस्कार्योपस्कारकभावेनेत्यर्थः। तेन योऽलंकारो यदुपस्कारः स तदलंकार इति पिण्डार्थः। —वि० पृ० २५७।

सौन्दर्य-विधान का निश्चय सहृदय की अनुभूति और कवि की विवक्षा द्वारा सम्भव है, राजानक तिलक के मत का विवेचन करते हुए हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं। अस्तु, अन्वयव्यतिरेक का वाद केवल 'औपपत्तिक' कार्यकारण-भाव पर आधारित होने के नाते काव्यालंकार के विवेचन में वह नियामक सिद्धान्त नहीं हो सकता है। आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त अलंकार द्वारा सौन्दर्यविधान, उस सौन्दर्य की सहृदय द्वारा अनुभूति तथा कवि की विवक्षा पर आश्रित होने के नाते ग्राह्य सिद्धान्त है।

कतिपय अलंकारों का विभाग

आश्रयाश्रयिभाव को अलंकार-विभाग का आधार मान लेने पर पुनरुक्त-वदाभास, श्लेष तथा वक्रोक्ति आदि कतिपय अलंकार शब्दालंकार की कोटि में नहीं रहते जो अन्वयव्यतिरेवाद को निर्णायक तत्त्व मानने के कारण इस कोटि में आते हैं।

अनेक आचार्य, जिनमें मम्मट, शोभाकर तथा विश्वनाथ प्रमुख हैं, पुनरुक्तवदाभास की शब्दालंकार में गणना करते है। मम्मट[1] तथा विश्वनाथ यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से इसे उभयालंकार मानना चाहेंगे[2] किन्तु शब्दवैचित्र्य की उत्कटता अथवा कुछ प्राचीन आचार्यों की परम्परा का पालन करने के लिए उन्होंने इसे शब्दालंकार के अन्तर्गत ही रखा है। मम्मट तथा विश्वनाथ[3] ने

---

१. एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालंकारौ। —का० प्र० पृ० ४२७।

२. अतएव शब्दवैचित्र्यस्योत्कटतया पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकारमध्ये गणितः। —का० प्र० (पूना), उद्योत टीका, पृ० ७६८।

३. वस्तुतोऽयमुभयालंकारः। —सा० द० पृ० ४७२।

अन्वयव्यतिरेकभाव के आधार पर पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार की कोटि में रखा है। शोभाकर ने आश्रयाश्रयिभाव को सम्भवतः मानकर भी पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार सिद्ध करने का लम्बा चौड़ा शास्त्रार्थ कर डाला है। उनका कहना है कि आमुख में तुल्यार्थ का होना शब्द का धर्म है, और फिर पौनरुक्त्य अर्थ का धर्म नहीं हो सकता अतः शब्दाश्रित होने के कारण इसे शब्दालंकार मानना चाहिए; अर्थालंकार नहीं—

आमुखतुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वात् शब्दालंकारोऽयम्। नत्वर्थधर्मः पौनरुक्त्यमलंकार इत्यर्थालंकारता वाच्या। —अ० र० पृ० १-२।

वस्तुतः शोभाकर ने न तो आश्रयाश्रयिभाव का सही उपयोग किया है और न पुनक्तवदाभास के चमत्कार-तत्त्व पर ही विचार किया है। उन्होंने केवल सर्वस्व के मत का खण्डन करने का दुराग्रह किया है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकार ही मानना उचित है। इस अलंकार में चमत्कार समान अर्थ के आभास में होता है। न तो इसमें शब्दों की पुनरुक्ति होती है और न अर्थ की, केवल अर्थ की पुनरुक्ति का आभास भर होता है अतः इसे शब्द पर आश्रित मानना युक्तिहीन है। अन्वयव्यतिरेकवादी आचार्यों के मतानुसार भी पुनरुक्तवदाभास में अर्थतत्त्व के चमत्कार की सत्ता है पर वे शब्दवैचित्र्य की उत्कटता को लेकर या केवल कुछ प्राचीन आचार्यों का अन्धानुसरण करने के लिए इसे शब्दालंकार मानने का दुराग्रह करते हैं। पर उनका यह विचार सदोष है। जहाँ तक शब्दों के उच्चारण का प्रश्न है उनमें न तो किसी प्रकार की पुनरुक्ति है और न चमत्कार ही। पुनरुक्ति अथवा चमत्कार की प्रतीति हमें तब होती है जब हम अर्थ पर विचार करते हैं। यह कहना कि अर्थ की यह पुनरुक्ति शब्दों पर अवलम्बित है अर्थहीन तर्क है, क्योंकि इस प्रकार तो समस्त अर्थ का चमत्कार शब्दों के उपादान पर निर्भर है पर इसलिए सभी अर्थालंकार को शब्दालंकार तो नहीं माना जा सकता। अर्थालंकारों में जो सादृश्य, साधर्म्य आदि प्रतीत होता है वह सब अन्ततः शब्दधर्मक है फिर इस तरह तो उपमादि सभी अलंकारों को शब्दालंकार माना जा सकता है।[1] अर्थपुनरुक्ति का आभास पुनरुक्तवदाभास का जीवातु है। इसमें सौन्दर्य अर्थतत्त्व

---

१. सर्वेषामप्यलंकाराणामुपमितार्थत्वादेः शब्दधर्मत्वाच्छब्दालंकारत्वं स्यात्। —वि० पृ० २२।

पर आश्रित है अस्तु, इसे अर्थालंकार ही मानना चाहिए[1], शब्दालंकार[2] या उभयालंकार नहीं।[3]

श्लेष के दो भेद हैं सभंग तथा अभंग श्लेष। उद्भट तथा रुय्यक के अनुसार पहला शब्द पर और दूसरा अर्थ पर आश्रित है। स्वर (उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित), प्रयत्न (बाह्य और आभ्यन्तर), तथा स्थान में भेद होने पर शब्दश्लेष होता है और इनके भिन्न न होने पर अर्थश्लेष।[4] आश्रयाश्रयिभाववादी आचार्य रुय्यक का यही मत है। अन्वयव्यतिरेकवादी के अनुसार यदि वाक्य में प्रयुक्त शब्द पर्यायपरिवृत्तिसह हैं तब तो श्लेष अर्थालंकार होगा, अन्यथा शब्दश्लेष अलंकार होगा। आश्रयाश्रयिभाव को निर्णायक तत्त्व मान लेने पर ये दोनों श्लेष अर्थालंकार की कोटि में चले जाते हैं। अभंग श्लेष को तो शब्दालंकार मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें पदभंग न होने के कारण शब्द एक रहता है और उच्चारण प्रयत्न या स्थान में भेद नहीं होता।

रक्तच्छदत्वं विकचा वहन्तो नालं जलैः संगतमादधानाः।
निरस्य पुष्पेषु रुचिं समग्रां पद्मा विरेजुः श्रमणाः यथैव॥

—अ० स० पृ० १२६।

लाल पटल धारण किए हुए (श्रमण पक्ष में—मुण्डित सिर वाले), जल से लिपटी नाल से संयुक्त (श्रमण पक्ष में—मूर्खों की संगति एकदम न करने वाले), पुष्पों की सम्पूर्ण शोभा को पराजित कर (श्रमण पक्ष में—काम से अपनी सारी अभिलाषा को हटाकर) कमल श्रमणों जैसे सुशोभित हो रहे थे।

इस उदाहरण के 'रक्तच्छदत्वम्' में पदभंग की आवश्यकता नहीं है।

---

१. अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम्। —अ० स० पृ० २१।

२. एवकारः शब्दपौनरुक्त्यावच्छेदद्योतकः। तेन शब्दस्यापौनरुक्त्यान्न शब्दालंकारो नाप्युभयालंकारोऽयम्। —वि० पृ० २१।

३. मम्मट तथा विश्वनाथ के अतिरिक्त राजानक तिलक भी पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार मानते थे—उभयावलम्बनोऽयमलंकारः।

—विवृति, पृ० ३।

४. तत्रोदात्तादिस्वरभेदात् प्रयत्नभेदाच्च शब्दश्लेषः। यत्र प्रायेण पदभंगो भवति। अर्थश्लेषस्तु यत्र स्वरादिभेदो नास्ति अतएव न तत्र सभंगपदत्वम्।

—अ० स० पृ० १२३।

यहाँ श्लेष दो अर्थों (रक्त पत्र, रक्तांशुक) पर आश्रित है। उसके उच्चारण, प्रयत्न तथा स्थान में भेद नहीं है, अस्तु, यहां अर्थश्लेष है। इसे रुय्यक ने एक ऐसे वृन्त के समान कहा है जिसमें दो फल लगे हों।

अतश्च पूर्वत्रैकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दश्लिष्टत्वम्।

—अ० स० पृ० १२४।

चूँकि दोनों अर्थों की प्रतीति यहाँ एक शब्द या पद (रक्तच्छद) से होती है अतः चमत्कार अर्थ पर आश्रित है अस्तु, अभंगश्लेष अर्थश्लेष है, अर्थालंकार है। '**अर्थभेदे शब्दभेदः**' इस सिद्धान्त के अनुसार यह कहना कि यहाँ भी दो अर्थों के कारण दो शब्द हैं क्योंकि एक शब्द तो एक ही अर्थ बताकर विश्रान्त हो जाता है—**सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति**—उचित नहीं है क्योंकि जहाँतक स्वर, प्रयत्न तथा स्थान की दृष्टि से उच्चारण का प्रश्न है दोनों दशाओं में शब्द एक ही रहता है। '**अर्थभेदाच्छब्दभेदः**'—अर्थ भिन्न हो जाने से शब्द भिन्न हो जाता है—इस सिद्धान्त को अक्षरशः मानने पर तो अन्वयव्यतिरेक-वादी के अर्थालंकार श्लेष में दो शब्द होंगे और वह शब्दालंकार बन जाएगा। अस्तु, यह मानना चाहिए कि जहाँ शब्दभेद केवल औपपत्तिक हो (जैसे कि रक्तच्छदत्व आदि में) वहाँ अर्थश्लेष ही होगा पर जहाँ शब्दभेद प्रातीतिक है वहाँ शब्दश्लेष मानना पड़ेगा। आश्रयाश्रयिभाववादी रुय्यक तथा जगन्नाथ का यही मत है।

यद्यप्यर्थभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने रक्तच्छदत्वमित्यादावपि शब्दाश्रितोऽवं तथाप्यौपपत्तिकत्वादत्र शब्दभेदस्य प्रतीतेरेकतावसायान्नास्ति शब्दभेदः।

—अ० स० पृ० १२४।

तथा—

यद्यपि द्वितीयस्य (अभंगस्य) अपि प्रतिप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दभेद इति नये शब्दद्वयवृत्तित्वाद् परमुभयत्र 'हरि' इत्यानुपूर्वी एकैवास्ति। अतएवाभंगस्य शब्दद्वयवृत्तितासाधनं न सुशकम्। अन्यथा प्रत्यर्थं शब्दभेद इति नये पराभिमतो ऽर्थश्लेषोऽपि शब्दालंकार एव स्यात्। —रसग० पृ० ५३६-३७।

सभंग श्लेष को रुय्यक ने शब्दश्लेष कहा है पर क्या इतने से ही इसका परिगणन शब्दालंकार में होना चाहिए? मेरा विचार है 'नहीं'। सभंगश्लेष में शब्द कारण होता है और शब्दचमत्कार या उसके खिलवाड़ की प्रतीति होती है पर प्रधानता अर्थ के चमत्कार की होती है। यही कारण है कि उद्भट आदि ने

इसे शब्दश्लेष कहकर भी अर्थालंकार के प्रकरण में रखा है। मम्मट ने इस पर यह आलोचना की है—

शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालंकारमध्ये च गण्यत इति कोऽयं नयः।

—का० प्र० (पूना), पृ० ५२७।

मम्मट द्वारा उद्भट की यह आलोचना जो रुय्यक पर भी लागू होती है, उचित नहीं। शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष में श्लेष के विभाजन का केवल इतना ही तात्पर्य है कि इनमें आंशिक भेद है। इससे यह तात्पर्य नहीं कि ये शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की विभिन्न कोटियों में आते हैं। दोनों का यह आंशिक भेद स्पष्ट है कि अभंगश्लेष में तो केवल एक ही शब्द होता है तथा उच्चारण, स्थान और प्रयत्न में एकता रहती है पर सभंगश्लेष में पदभंग के कारण भिन्न शब्द बनते हैं। उनके उच्चारण आदि में भी भेद होता है। पहले में शब्दभेद माना भी जाए तो वह केवल औपपत्तिक है, प्रातीतिक नहीं। पर दूसरे में वह केवल औपपत्तिक ही नहीं अपितु प्रातीतिक भी है। अभंगश्लेष में पद एक वृन्त के समान होता है जिसमें दो फलों की तरह दो पद श्लिष्ट होते हैं पर सभंगश्लेष में एक पद में दूसरा शब्द इस तरह से चिपका रहता है जिस तरह लाख लकड़ी से भिन्न होती हुई भी उस पर चिपकी रहती है। पर लाख और लकड़ी की तरह दो शब्द भिन्न ही होते हैं। इस शब्दभेद के होने पर भी चमत्कार की प्राधान्येन प्रतीति अर्थ के कारण होती है अतः श्लेष को अर्थालंकार की कोटि में ही रखना उचित होगा।

आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार वक्रोक्ति भी अर्थालंकार है, शब्दालंकार नहीं। वक्रोक्ति से यहां हमारा अभिप्राय भामह, दण्डी तथा कुन्तक की वक्रोक्ति अर्थात् काव्य के व्यापक तत्त्व से नहीं अपितु अलंकार विशेष से हैं जिसका सर्वप्रथम प्रतिपादन संभवतः रुद्रट ने आरम्भ किया था। उन्होंने अलंकारों की गणना में इसे सर्वप्रथम स्थान दिया है।[2] नमिसाधु की व्याख्या के अनुसार वक्रोक्ति के उदाहरण 'किं गौरि मां प्रति रुषा ......'(काव्यालंकार २।१५) में शब्दसमुदाय अलंकार्य है।[3] अतः यह सोचना गलत न होगा कि रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति शब्दालंकार है। रुद्रट का ही अनुसरण कर वक्रोक्ति का विवेचन करने वाले आचार्यों में

---

१. अपरत्र जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव श्लिष्टत्वम्। —अ० स० पृ० १२४।

२. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकम् × × × —काव्यालंकार, २।१३।

३. यथा 'किं गौरि मां प्रति रुषा' इति शब्दसमुदायोऽलंकार्य एव।

—नमिसाधु की काव्यालंकार २।१५ पर टीका।

मम्मट, वाग्भट, हेमचन्द्र तथा विद्यानाथ आदि ने इसे शब्दालंकार की कोटि में ही रखा है। पर वक्रोक्ति को शब्दालंकार मानना उचित नहीं है । इस अलंकार के प्रधानतया दो भेद हैं श्लेषवक्रोक्ति तथा काकुवक्रोक्ति । श्लेष अर्थालंकार माना जा सकता है अतः इस पर आधारित वक्रोक्ति भी अर्थालंकार होगी । काकुवक्रोक्ति में भी (जिसमें काकु[1] की सहायता से अन्यथा अर्थयोजना की जाती है) चमत्कार अर्थान्तरकल्पना में होता है । अतः अर्थतत्त्व पर आश्रित होने के नाते इसे भी अर्थालंकार मानना चाहिए । रुय्यक तथा उनके अनुयायी शोभाकर, विद्याधर तथा विद्यानाथ ने इसीलिए इसे अर्थालंकार माना है ।

चित्रालंकार की औपचारिक शब्दालंकारता

दण्डी ने गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र आदि का (तृतीय परिच्छेद में) स्वरूप-निरूपण किया है । पर नमिसाधु के अनुसार चित्र को शब्दालंकार के रूप में आचार्य रुद्रट[2] ने स्थान दिया है ।

अन्यैरनुक्तं चित्रं शब्दालंकारमध्ये समुच्चीयते ।

—नमिसाधु, २।१५ ।

अनेक कवि अर्थतत्त्व के सौन्दर्य को ओझल कर अपना बुद्धिव्यायाम संस्कृत की शब्दरचना में दिखाते रहे हैं । अतः परवर्ती आलंकारिकों को इसका विवेचन अवश्य करना पड़ा । रुद्रट के अतिरिक्त भोज ने इसका सविस्तार निरूपण किया है । खंगबन्ध, पद्मबन्ध, नागबन्ध, मुरजबन्ध आदि के आकार में वर्ण-विन्यास चित्रालंकार का लक्षण है । इसमें बन्धविशेष को दृष्टि में रखकर लिपि-विशेष में लिखे हुए वर्णों की पाठपुनरुक्ति होती है, पर उसे सिद्धान्ततः शब्द की पुनरुक्ति नहीं कहा जा सकता अतः इसे शब्दालंकार कहना भी न्यायसंगत नहीं है पर लिपि के अक्षर को श्रोत्रसमवायी शब्द की भाँति, सामान्य जन शब्द ही समझते हैं और साधारणतया लिपिवर्णों को देखकर यह प्रतीति भी होती है । अस्तु, शब्द की लिपि-वर्ण के साथ इस ऐकात्यप्रतीति को लेकर, औपचारिक

---

१. भिन्नकण्ठध्वनिनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते ।

२. रुद्रट ने इस अलंकार के अनेक भेद किए हैं । देखिए—काव्यालंकार ५।२-४ । जयरथ ने अलंकारोदाहरण में मुरजबन्ध, पद्मबन्ध आदि अनेक भेदों का उपबृंहण किया है, जिसमें से कतिपय का संक्षिप्त निर्देश वि० में भी मिलता है ।

रूप में चित्रालंकार को भी शब्दालंकार ही मानना चाहिए। रुय्यक का कथन है—

यद्यपि लिप्यक्षराणां खंगादिसन्निवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेतवर्णात्मकशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकशब्दालंकारोऽयम्।

—अ० स० पृ० ३०।

जयरथ रुय्यक के मन्तव्य को प्रकट करते हुए लिखते हैं—

औपचारिकोऽयं शब्दालंकार इति तात्पर्यार्थः। —वि० पृ० ३०।

इस प्रकार चित्र को प्रायः सभी प्रमुख आचार्य, औपचारिक रूप से ही सही, शब्दालंकार मानते आ रहे हैं पर वस्तुतः इसे अलंकार ही मानना उचित नहीं है क्योंकि चित्र काव्य का अंग नहीं बन सकता हैं। काव्य में केवल दो तत्त्व हैं शब्द तथा अर्थ। इनमें शब्द स्वतःसाध्य न होकर साधन मात्र होता है, और इसका साध्य अर्थ की प्रतीति कराना होता है। पर जब शब्द (वह भी लिपिगत अक्षर) स्वतः साध्य बन जाता है तो वह अर्थ से असम्बद्ध हो जाता है और उसका अंग नहीं रहता। चित्रालंकार में केवल अक्षरविन्यास का खिलवाड़ होता है। वह शब्दचारुता जो अर्थचारुता का उपकार कर सके नहीं रहती हैं अतः भले ही पाठक का यह कुतूहल बन सके पर इसे अलंकारकोटि में रखना उचित नहीं है। अच्छा हो यदि आलंकारिक इसे अलंकारक्षेत्र से बाहर ही रखें। संजीविनीकार श्रीविद्याचक्रवर्ती ने यह सलाह सही दी है कि कवियों को चित्रालंकार के पचड़े में नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि यह केवल मोटी बुद्धि वालों को पसन्द आ सकता है, और फिर इसे सिद्धान्ततः शब्दालंकार कहा भी नहीं जा सकता है।

अतः स्थूलबुद्धिलालनीयत्वाद् वाचकशब्दबहिर्भावाच्च नात्र कविभिरादरः कार्यः × × × × —संजी० पृ० ३७।

---

१. संजीविनी का उपर्युक्त स्थल पर व्याख्यान उल्लेखनीय है—

नन्नु कथमयं शब्दालंकारः लिपिसन्निवेशिनां वाचकत्वाभावादित्यत आह—यद्यपीत्यादि। खंगादिसन्निवेशो हि लिप्यक्षराणामेव न श्रोत्राकाशसमवायिनां, वाचकत्वं तु श्रोत्राकाशसमवायिनामेव न पुनर्लिपिसन्निवेशिनाम्। इत्थं च सति खंगादिबन्धगतानां यद्यपि वाचकशब्दालंकारता नोपपद्यते तथापि लौकिकानां लिप्यक्षरेष्वेव वाचकत्वप्रतीतेर्वाचकशब्दालंकारत्वमुपचर्यत इति भावः। —संजी० पृ० ३६-३७।

इस सम्बन्ध में नि० का० संख्या ११ भी देखिए।

इस आधार पर विश्वनाथ का भाषासम अलंकार भी[1] परित्याज्य है, क्योंकि इसमें भी कवि का सारा बुद्धिव्यायाम विभिन्न भाषाओं में एक ही शब्दों के द्वारा वाक्य-निर्माण पर होता है, शब्दचमत्कार या अर्थचमत्कार की सृष्टि में नहीं।

इस प्रकार छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक तथा (उपचारतः) चित्रालंकार शब्दालंकार की कोटि में आते हैं। रुय्यक तथा उनके अनुयायी इन चारों अलंकारों को भिन्न-भिन्न मानते हैं।[2] पर कतिपय आलंकारिक छेक तथा वृत्त्यनुप्रास को एक ही अनुप्रास अलंकार के दो भेद मानते हैं (छेकवृत्तिगतो द्विधा)। कुछ आलंकारिक लाटानुप्रास (जो रुय्यक के अनुसार उभयालंकार है) को भी अनुप्रास के अन्तर्गत मानते हैं—

लाटीयमप्यनुप्रासमिहेच्छन्त्यपरे यथा। —भामहालंकार, २।१८।

उद्भट ने इन तीनों को भिन्न माना है।[3] मम्मट ने लाटानुप्रास को तो भिन्न माना है किन्तु छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को अनुप्रास के अन्तर्गत रखा है।[4] विश्वनाथ ने इस विषय में मम्मट का अनुसरण किया है।[5] अनुप्रास के श्रुत्यनुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास दो भेद और किए हैं।[6] इस तरह के अलंकार मानना केवल छोटी-मोटी बात को लेकर अलंकारों की अनावश्यक संख्या बढ़ाना है। छेकानुप्रास लक्षण की दृष्टि से भिन्न है।[7] व्यंजनमात्र की पुनरुक्ति के सामान्य

---

१. सा० द० पृ० ४८४।

२. देखिए—प्रतापरुद्र० पृ० ३४१-३४२ तथा पृ० ३४५-३५० ; एका० पृ० १८६-१८९; अ० र० पृ० ३-४।

३. देखिए—का० अ० सं० ३।१०।

४. का० प्र० (पूना), पृ० ४१४-४१८।

५. देखिए—सा० द० पृ० ४७४-७५।

६. वहीं, पृ० ४७६-७७।

७. छेकानुप्रास का लक्षण है 'संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः'—अ०स० पृ० २। श्रीविद्याचक्रवर्ती के शब्दों में संख्यानियम का अर्थ है—

युग्मशोऽवस्थितानां व्यञ्जनसमुदायानां परस्परमनेकधा सादृश्यमिह संख्यानियमः। —संजी० पृ० ३०।

वृत्त्यनुप्रास इससे भिन्न है—अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः। —अ०स० पृ० २५।

दूसरे शब्दों में इनका भेद यह है—

अनियमेनैकद्वित्र्यादिव्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्याश्रितो वृत्त्यनुप्रासः।

—तरल, पृ० १९४।

रूप को लेकर उन्हें एक ही अलंकार के दो भेद मानना उचित नहीं। रुय्यक ने इस सम्बन्ध में उद्भट का अनुसरण कर[1] उन्हें भिन्न अलंकार ही मानना उचित समझा है। मुझे भी यही मत समीचीन प्रतीत होता है, मम्मट तथा विश्वनाथ का नहीं। व्यंजनपौनरुक्त्य के सामान्य लक्षण के आधार पर यदि छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास को एक ही अलंकार के दो भेद माना जा सकता है तो शब्द[2]-पौनरुक्त्य के सामान्य आधार को लेकर छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा यमक को एक ही अलंकार के तीन भेद क्यों न माना जाए ?

लाटानुप्रास में शब्द-तत्त्व तथा अर्थतत्त्व दोनों का चमत्कार समान रूप से रहता है। तात्पर्यभेद इसका जीवातु है।[3] इसी लिए इसे अनुप्रास का भेद नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से उन आचार्यों का[4] मत असमीचीन है जो इसे, सम्भवतः अनुप्रास के शब्दसाम्य को लेकर, अनुप्रास का एक भेदमात्र मानते हैं। रुय्यक के अनुसार लाटानुप्रास उभयालंकार है।

उभयालंकारा लाटानुप्रासादयः। —अ० स० पृ० २५५।

आदि शब्द से अन्य किन अलंकारों को उभयालंकार की कोटि में रखा जाए, यह विवादास्पद है। समुद्रबन्ध के अनुसार श्लिष्ट-परम्परित[5] आदि का ग्रहण होना चाहिए। श्लिष्टपरम्परित पद परम्परितरूपक के लिए आया है जिसमें श्लेष का योग होता है। उन्होंने दूसरे व्याख्यानों का भी मत दिया है जिनके अनुसार संसृष्टि और संकर के कुछ भेदों का ग्रहण उपर्युक्त आदि पद से होता है।[6] जयरथ का कहना है कि रुय्यक के अनुसार केवल लाटानुप्रास और श्लेष इन

---

१. यद्यपि चायं व्यंजनमात्रपौनरुक्त्याख्यस्य सामान्यलक्षणस्य संभवादनुप्रास एवान्यैरन्तर्भावितस्तथापि ग्रन्थकृता उद्भटमतानुरोधादिह लक्षणं कृतम्। —वि० पृ० २४-३५।

२. शब्दपौनरुक्त्यं च व्यंजनमात्रनिष्ठतया स्वरव्यंजनसमुदायनिष्ठतया च द्विप्रकारम्। —संजी० पृ० ३०।

३. ....तात्पर्यभेद एव ह्यस्य जीवितम्। —वि० पृ० २८।

४. देखिए—भामहालंकार, २,८।

५. लाटानुप्रासादय इत्यत्रादिशब्देन श्लिष्टपरम्परितादयो गृह्यन्ते। —समुद्र० पृ० २२७।

६. केचित्तु आदिशब्देन शब्दालंकारमर्थालंकारं चाश्रितयोः संसृष्टिसंकरप्रकारयोर्ग्रहणमित्याहुः। —वहीं।

दो को ही उभयालंकार माना जा सकता है अतः 'उभयालंकाराः' में बहुवचन की संगति संसृष्टि और संकर को ही उभयालंकार मानकर लगाई जा सकती हैं।

ननु च लाटानुप्रासश्लेषयोरेवोभयालंकारत्वं पूर्वमुक्त्वा उभयालंकारा इति बहुवचननिर्देशः कथं संगच्छते ······ संसृष्टेरुभयालंकारत्वं यथा × × ×
—वि० पृ० २५६।

श्रीविद्याचक्रवर्ती संजीविनी में उभयालंकारों के विषय में मौन हैं पर सम्प्रदाय-प्रकाशिनी में उन्होंने पुनरुक्तवदाभास, परम्परितरूपक, अर्थान्तरन्यास और अपह्नुति को उभयालंकार की श्रेणी में रखा है।

पुनरुक्तवदाभासः उभयपौनरुक्त्यं श्लिष्टशब्दं परम्परितरूपकं श्लेषं ताद्रूप्यारोपं चानुविधत्त इत्युभयालंकारौ, तथा हिशब्दहेतुकोऽर्थान्तरन्यासः छलादिशब्दहेतुका अपह्नुतिप्रभृतयश्चोभयभावाभावानुविधानादुभयालंकारा द्रष्टव्याः। —सं० प्र० पृ० ४२७-४२८।

वस्तुतः अन्वय-व्यतिरेकवाद मानने से उन सभी अर्थालंकारों को, जिनमें किसी शब्दविशेष की सहायता आवश्यक है, उभयालंकार मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। आश्रयाश्रयिभाव के अनुसार इस कठिनाई के लिए अवकाश ही नहीं है क्योंकि यदि चमत्कार अर्थ पर आश्रित है तो अपह्नुति (तृतीयभेद[1]) या अर्थान्तर-न्यास (जिसमें 'हि' शब्द के प्रयोग या अप्रयोग से अलंकार बनता है)[2] आदि को उभयालंकार मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार रुय्यक-सम्मत उभयालंकारों में लाटानुप्रास, श्लेष, संसृष्टि तथा संकर (जिनमें शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का एकत्र समावेश हो) को रखा जा सकता है। रुय्यक के अलंकारविवेचन की यह विशेषता है कि उन्होंने अलंकारों को क्रिया, प्रत्यय तथा व्याकरण के अन्य पेचीदे रूपों से यथासम्भव मुक्त रखा है। जहाँ कहीं किसी शब्दविशेष के प्रयोग की व्याख्या रुय्यक ने की है वहाँ यह विवेचन प्रत्यक्षतः या परोक्षरूप में किया है कि कोई विशेष शब्द किसी अलंकार का घटक नहीं है। अनेक अलंकारों के वे भेद जो किसी वैयाकरण-प्रयोग या 'हि' आदि के खिलवाड़ पर निर्भर हैं उन्हें रस का व्याघातक मानकर या सहृदय के हृदय का उद्वेजक

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ३९ का ४९वां श्लोक।

२. ज्ञातव्य है कि यह भेद रुय्यक मानने को प्रस्तुत नहीं है—
हिशब्दाभिधानानभिधानाभ्यां ······ च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी, वैचित्र्यस्याभावात्। —अ० स० पृ० १३७।

घोषित कर रुय्यक ने उन्हें त्याज्य ही माना है। उदाहरण के लिए मम्मट ने उपमा के अनेक भेदों का व्याकरण की विशेषताओं आदि के आधार पर प्रतान किया था, शब्दालंकारों के तो अनेक भेदोपभेद चले ही आ रहे थे पर रुय्यक ने जहाँ तक सम्भव हो सका है इन भेदों को अपनी मान्यता नहीं दी है। उन्होंने न केवल शब्दालंकारों का विवेचन अत्यन्त संक्षेप रूप में किया हैं अपितु अर्थालंकारों के अनेक उद्वेजक भेदोपभेदों को भी छोड़ दिया है; उपमा के मम्मट-सम्मत अनेक भेदों को छोड़ने का भी यही रहस्य प्रतीत होता है।

अलंकारों का वर्गीकरण

रुद्रट के पूर्व अलंकारों के वर्गीकरण के मूलतत्त्वों पर विचार नहीं-सा जान पड़ता है। भामह तथा दण्डी ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति का तथा वामन ने औपम्य की महत्ता का गान वर्गीकरण को दृष्टि में रखकर नहीं किया था। अलंकारों के व्यापक तत्त्व की ओर इस निर्देश ने, यह अवश्य मानना होगा, अलंकारों को वर्गशः न सही पर किन्हीं सामान्यतत्त्वों के अन्तर्गत रखने का दिशासंकेत कर दिया था। रुद्रट से पूर्व वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चारों तत्त्वों के सम्बन्ध में व्यापक चर्चा हो चुकी थी। भामह **'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः'** का सिंहनाद कर चुके थे। दण्डी ने **'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्'** कहकर श्लेष की तथा **'भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्'** कहकर स्वभाव (वास्तव) तथा वक्रोक्ति (अतिशय) की महिमा का पुनः प्रचार कर दिया था। वामन का **'प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंचः'** (४-३-१) सूत्र रुद्रट को सुनाई पड़ ही रहा होगा। स्वाभाविक है कि वे पूर्वाचार्यों द्वारा अनेकधा निर्दिष्ट वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष इन चार मूलतत्त्वों के अन्तर्गत अलंकारों का श्रेणीविभाग बनाते। उन्होंने किया भी यही।[1] रुद्रट ने शब्दालंकार और अर्थालंकार इन दो कोटियों में समग्र काव्यालंकारों को विभाजित किया है। वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र इन पाँच अलंकारों को शब्दालंकार में रखने की चर्चा हम इस अध्याय में कर आए हैं। रुद्रट के अर्थालंकारों की संख्या ६८ है जिन्हें उन्होंने उपर्युक्त चार वर्ग वास्तव, औपम्य

---

१. **अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।**
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥

—काव्यालंकार, ७।९।

अतिशय तथा श्लेष के अन्तर्गत रखा है।[1] वास्तव वर्ग में २३ अलंकार, औपम्य वर्ग में २१, अतिशय में १२, तथा श्लेष में दस अलंकार उन्होंने रखे हैं। इन ६६ अलंकारों के अतिरिक्त संकर के दो अलंकार-प्रकारों को उन्होंने अन्त में रखा है। नमिसाधु के अनुसार ६६ शुद्धालंकार हैं और अन्तिम दो संकीर्ण के भेद हैं। अलंकारों के वर्गीकरण का यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास था जिसका आधार वस्तुतः भामह, दण्डी तथा वामन द्वारा निर्दिष्ट अलंकार के मूल तत्त्व ही थे। प्रथम प्रयास का सदोष होना स्वाभाविक है। रुद्रट को भी श्रेणी-विभाग की इस अपूर्णता का भान रहा होगा नहीं तो उन्हें अनेक अलंकारों को दो-दो वर्गों में क्यों रखना पड़ता। सहोक्ति और समुच्चय को उन्होंने वास्तव तथा औपम्य इन दो वर्गों में रखा है। विषम और हेतु को वास्तव तथा अतिशय की श्रेणियों में तथा पूर्वालंकार और उत्प्रेक्षा को औपम्य तथा अतिशय के वर्गों में उन्होंने रखा है।

इनके बाद ध्वनि का युग आ जाता है। अलंकारों का विवेचन पृष्ठ-भूमि में पड़ जाता है। कुन्तक ने वक्रोक्ति का विवेचन करने के साथ अलंकारों

---

१. इनकी सूची काव्यालंकार में इस प्रकार है—

वास्तव : तस्य सहोक्ति-समुच्चय-जाति-यथासंख्य-भाव-पर्यायाः।
विषमानुमान-दीपक-परिकर-परिवृत्ति-परिसंख्याः॥
हेतुः कारणमाला व्यतिरेकोऽन्योन्यमुत्तरं सारम्।
सूक्ष्मं लेशोऽवसरो मीलितमेकावली भेदाः॥
—७।११-१२।

औपम्य : उपमोत्प्रेक्षा-रूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः॥
उभयन्यास-भ्रान्तिमदाक्षेप-प्रत्यनीक-दृष्टान्ताः।
पूर्व-सहोक्ति-समुच्चय-साम्य-स्मरणानि तद्भेदाः॥
—८।२-३।

अतिशय : पूर्व-विशेषोत्प्रेक्षा-विभावना-तद्गुणाधिक-विरोधाः।
विषमासङ्गति-पिहित-व्याघाताहेतवो भेदाः॥ —९।२।

श्लेष : अविशेष-विरोधाधिक-वक्र-व्याजोक्त्यसंभवावयवाः।
तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य॥—१०।२।

संकर : योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात् संकर उत्पद्यते द्वेधा॥—१०।२५।

का विच्छित्तिमूलक स्वरूप-निरूपण किया है तथा उनके क्रमविवेचन के सम्बन्ध में भी लिखा है पर वर्गीकरण के बारे में वे मौन हैं। उनका यह क्षेत्र भी नहीं था। भोज अलंकारक्षेत्र में एक नवीन परम्परा के प्रवर्तक हैं। उन्होंने अलंकारों को बाह्य, आभ्यन्तर, बाह्याभ्यन्तर, शब्दसंश्रय, अर्थसंश्रय तथा शब्दार्थोभय-संश्रय श्रेणियों में बांटा है। यद्यपि आपाततः उनका विश्वास आश्रयाश्रयिभाव में मालूम पड़ता है पर अनेकत्र उन्होंने अन्वयव्यतिरेक के द्वारा अलंकारों के शाब्द आदि होने का निर्णय किया है। मम्मट में शब्दार्थोभयविभाग की व्यवस्था तो अपेक्षाकृत वैज्ञानिक है किन्तु उन्होंने श्रेणीविभाग तथा क्रमनिरूपण की कोई व्यवस्थित पद्धति नहीं अपनाई है। प्रो० चन्दोरकर ने काव्यप्रकाश की भूमिका में डा०ए० बेन द्वारा मानसव्यापार(Operations of Intellect) के आधार पर[1] किए गए अंग्रेजी अलंकारों के श्रेणी-विभाग को दृष्टि में रखकर मम्मट-निरूपित अलंकारों को विरोध सामीप्य तथा प्रत्यासत्ति के वर्गों में रखा है, जो अलंकार इन वर्गों में न आ सके हैं उन्हें प्रकीर्ण के अन्तर्गत रखा गया है। इनके अतिरिक्त कतिपय अलंकारों को विद्यानाथ के अनुसार शृंखलामूल तथा तर्कन्यायमूल श्रेणियों में रख दिया है।[2] प्रो० गजेन्द्रगदकर ने काव्यप्रकाश की अपनी भूमिका में अलंकारों के वर्गीकरण के लिए तीन मौलिक तत्त्व माने हैं— सादृश्य (analogy or similarity), विरोध (contrast, dissimilarity or opposition), तथा प्रत्यासत्ति (contiguity or association of ideas)। इन तीन आधारों के अनुसार उन्होंने मम्मट के ३१ अर्थालंकारों को वर्गीकृत किया है। शेष ३१ अर्थालंकारों में से ४ को शृंखला के अन्तर्गत, अन्य ५ को तर्क के अन्तर्गत तथा शेष २२ अलंकारों को उन्होंने प्रकीर्ण की कोटि में रखा है। इन विभिन्न वर्गों में आनेवाले अर्थालंकारों को प्रो० गजेन्द्रगदकर ने अनेक उपवर्गों में बांटा है।

सादृश्य-तत्त्व के अन्तर्गत आनेवाले अलंकारों की संख्या बीस है, जिन्हें तीन उपवर्गों में बांटा गया है—

---

१. डा० बेन के अनुसार मानस की तीन वृत्तियाँ हैं। पहिली Discrimination, or Feeling of Differcnce, Contrast, Relativity के नाम से; दूसरी Similarity or Feeling of Agreement के नाम से; तथा तीसरी Retentiveness or Acquisition के नाम से अभिहित की गई हैं।

२. देखिए—वहीं, भूमिका पृ० ७-८।

१. उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय।

२. ससन्देह, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान्।

३. प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना, दीपक और तुल्ययोगिता, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा (पाँचवां भेद), सामान्य और मीलित, प्रतीप और व्यतिरेक।

विरोध-तत्त्व के अन्तर्गत आनेवाले अलंकारों की संख्या दस है। इन्हें दो उपवर्गों के अन्तर्गत इस प्रकार विभाजित किया गया है—

१. विरोध, विषम (प्रथम भेद), अधिक, विशेष, व्याघात।

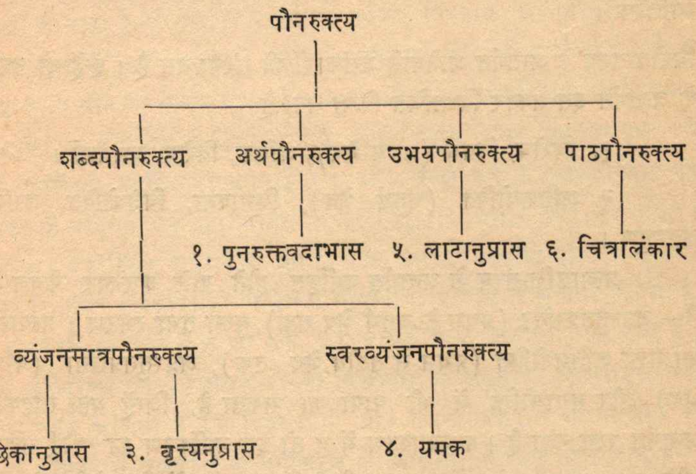
२. अतिशयोक्ति (चतुर्थ भेद), विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, अतद्गुण।

प्रत्यासत्ति-तत्त्व के अन्तर्गत वर्गीकृत होने वाले अलंकार केवल तीन हैं—अप्रस्तुतप्रशंसा (प्रथम से चतुर्थ भेद तक), सूक्ष्म तथा स्मरण। प्रत्यासत्ति का तत्त्व अतिशयोक्ति (प्रथम से तृतीय भेद तक), अप्रस्तुतप्रशंसा (पाँचवां भेद), और समासोक्ति में भी पाया जा सकता है, जिन्हें यहां सादृश्य के अन्तर्गत रखा गया है। काव्यप्रकाश में न तो इस वर्गीकरण का कोई संकेत है और न तदनुसार अलंकारों का क्रम ही है। अतः इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि मम्मट इस मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण से परिचित नहीं थे। वस्तुतः रुद्रट द्वारा वर्गीकरण का आधार प्रस्तुत करने के बाद भी मम्मट ने अव्यवस्थित एवं अवैज्ञानिक रूप में ही अलंकारों का क्रम रखा है, भामह और दण्डी की भाँति ही वर्गीकरण और क्रम की किसी पद्धति को अपनाए बिना ही मम्मट ने अलंकारमीमांसा प्रस्तुत की है। रुद्रट के बाद मम्मट के लिए यह स्वाभाविक और आवश्यक था कि वे वर्गीकरण की व्यवस्था देते पर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

मम्मट के तरुण समकालीन रुय्यक ने अलंकारशास्त्र की इस आवश्यकता को यथासंभव दूर किया है। अलंकारों के वर्गीकरण के मूलाधार, रुय्यक के अनुसार, सादृश्य, विरोध, शृंखलाबन्ध, तर्कन्याय, लोकन्याय, गूढार्थ-प्रतीति, तथा चित्तवृत्ति हैं। रुय्यक के अनुसार अलंकारों को प्रथमतः शुद्ध तथा मिश्र इन दो भागों में बांटा जा सकता है। उन्होंने शुद्धालंकारों को आठ प्रमुख वर्गों में विभाजित किया है। ये हैं सादृश्याश्रय, विरोधमूल, शृंखलाबन्ध, तर्कन्यायमूल, गूढार्थप्रतीतिपर, तथा चित्तवृत्ति पर आश्रित। इन प्रमुख वर्गों को उन्होंने विभिन्न उपवर्गों में भी विभाजित किया है। रुय्यक ने कतिपय

अलंकारों (जिसमें शब्दालंकार ही प्रमुख रूप से सम्मिलित हैं) का वर्गीकरण पौनरुक्त्य के आधार पर किया है[1] जो निम्नांकित तालिका में दिया जा रहा है—

पौनरुक्त्य वर्ग के अलंकार



चित्रालंकार को मैंने पाठपौनरुक्त्य के आधार पर पौनरुक्त्य के अन्तर्गत ही सम्मिलित करना उचित समझा है। चित्रालंकार की व्याख्या में रुय्यक का यह कथन 'पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्यात्मकं चित्रवचनम्' इस और संकेतवाक्य है। इस प्रकार पौनरुक्त्य के अन्तर्गत ६ अलंकार आते हैं। 'तदेवं पौनरुक्त्ये पंचालंकाराः' यह सूत्र चित्रालंकार की औपचारिक अलंकारता के कारण इसे अलंकारों में सम्मिलित न करने के लिए लिखा गया था अतः चित्रालंकार को छोड़ कर शेष अलंकारों की संख्या का ही निर्देश रुय्यक ने उपर्युक्त सूत्र में किया है।

अर्थालंकारों के वर्गीकरण का प्रथम आधार सादृश्य है। सादृश्य

---

१. तत्र पुनरुक्तवदाभासोऽर्थस्य पौनरुक्त्ये, छेकवृत्त्यनुप्रासौ व्यञ्जनमात्रस्य, यमकं स्वरव्यंजनसमुदायस्य, लाटानुप्रासः शब्दार्थयोरिति पौनरुक्त्ये पंचकम्। स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्ये चित्रम्। —संजी० पृ० २२२-२२३।
तथा देखिए—
'तदेवं पौनरुक्त्ये पंचालंकाराः' इस सूत्र पर वि० पृ० ३०।

तीन प्रकार का होता है[1]—भेदाभेदतुल्य, अभेदप्रधान तथा भेदप्रधान। जब दो पदार्थों में कुछ तो भेद के तत्त्व हों और कुछ अभेद के[2] और दोनों का ही समान रूप से अभिधान अभीष्ट हो तो उसे भेदाभेदप्रधान कहेंगे। जब दो समान पदार्थों में किसी प्रकार का भेद दिखाकर कवि उन्हें एक बताता है, तो कवि-विवक्षा की इस स्थिति में आनेवाले अलंकारों को अभेदप्रधान कहा जा सकता है। भेदप्रधान अलंकार उन्हें कहेंगे जिनमें दो पदार्थों को सदृश बताने की इच्छा से उन दोनों की भिन्नता या परस्पर अपेक्षा प्रकट की जाए। यह त्रिविध सादृश्य अभिधान की दृष्टि से अनेक रूपों में व्यक्त किया जा सकता है। आरोप, अध्यवसाय, गम्यमानौपम्य, वस्तुप्रतिवस्तुभाव, बिम्बप्रतिबिम्बभाव, विशेषण-विच्छित्ति तथा विशेषण-विशेष्य-विच्छित्ति इसे व्यक्त करने के प्रमुख उपाय हैं। रुय्यक ने भेदाभेदतुल्य अलंकारों की सूची में उपमा, अनन्वय, उमेयोपमा तथा स्मरण इन चार अलंकारों को रक्खा है।[3] अभेदप्रधान अलंकारों में अभेद की अभिव्यक्ति आरोप तथा अध्यवसाय के द्वारा की जा सकती है। आरोपगर्भ अलंकारों में रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख तथा अपह्नुति को सम्मिलित किया गया है। आरोपगर्भ अलंकारों की गणना के बाद अध्यवसाय के दो भेद किए गए हैं—साध्य तथा सिद्ध। विषयी द्वारा विषय के निगरण की प्रक्रिया जब व्यापारावस्था में रहती है तो उसे साध्य अध्यवसाय कहा जाता है। जब विषयी विषय का सर्वथा निगरण कर लेता है तो उसे सिद्ध अध्यवसाय कहते हैं। उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय साध्य होता है और अतिशयोक्ति में सिद्ध। भेदाभेदतुल्य तथा अभेदप्रधान अलंकारों का वर्गीकरण करने के बाद रुय्यक ने साधर्म्य के तीसरे भेद भेदप्राधान्य के बारे में कुछ न कहकर गम्यमान औपम्य पर आश्रित अलंकारों का निरूपण प्रारम्भ किया है।[4] इस श्रेणी में

---

१. साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत्, अभेदप्राधान्यं रूपकादिवत्। द्वयोस्तुल्यत्वं यथास्याम् (उपमायाम्)।—वहीं, पृ० ३१।

२. यत्र किंचित् सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः।

३. तदेते सादृश्याश्रयेण भेदाभेदतुल्यत्वेनालंकाराः निर्णीताः।—वहीं, पृ० ४३।

४. वर्गीकरण सम्बन्धी प्राकरणिक पंक्तियों का क्रम सर्वस्व में निम्न-लिखित है—

(क) एवमध्यवसायाश्रयमलंकारद्वयमुक्त्वा गम्यमानौपम्याश्रया अलंकारा इदानीमुच्यन्ते, तत्रापि पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन······ —पृ० ८६।

तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना आदि जैसे अलंकार सम्मिलित किए गए हैं। इन अलंकारों के स्वरूप पर विचार करने से इतना तो स्पष्ट है कि इनमें रूपक और परिणाम की भाँति अभेद की प्रधानता नहीं होती। **मुखमेव चन्द्रः** कहने पर कवि मुख और चन्द्र को आरोप के द्वारा कल्पना-जगत् में एक बना देता है। मुख के लिए **'कमलम्'** कहने पर अतिशयोक्ति के उदाहरण में अभेदप्रधानता की यह बात और भी स्पष्ट है। तुल्ययोगिता के **'अस्यां प्रावृषि मुखं चन्द्रबिम्बं च विच्छायम्'** अथवा **'भुवि मुखं दिवि चन्द्रः'** दृष्टान्त के इस उदाहरण में सादृश्य का विधान है; उसके लिए कोई शब्द साक्षात् उपात्त नहीं है अतः वह सादृश्य गम्यमान भी है पर इसमें अभेदप्रधानता तो समझ में नहीं आती। **'चन्द्रादधिकं मुखं मुखादधिकश्चन्द्रः'** व्यतिरेक के इस उदाहरण की भाँति, तुल्ययोगिता या दृष्टान्त के उदाहरणों में भेदप्राधान्य भी नहीं है। रुय्यक ने भेदप्रधान अलंकारों का निरूपण भी व्यतिरेक के साथ आरम्भ किया है।[1] विद्यानाथ ने तुल्ययोगिता से लेकर सहोक्ति तक के अलंकारों को भेदप्रधान श्रेणी में रखा है।

दीपकतुल्ययोगितादृष्टान्तनिदर्शनाप्रतिवस्तूपमासहोक्तिप्रतीपव्यतिरेकाः भेदप्रधानसाधर्म्यनिबन्धनाः। —प्रताप० पृ० ३३८।

इसमें केवल प्रतीप को सादृश्याश्रय अलंकारों में रुय्यक ने सम्मिलित नहीं किया है; और वे भेदप्रधान अलंकारों में व्यतिरेक तथा सहोक्ति इन दो अलंकारों को ही रखते हैं। व्यतिरेक में भेद का स्पष्ट कथन रहता है[2] पर सहोक्ति में भेद का प्राधान्य वस्तुतः शाब्द ही होता है, आर्थ नहीं। सादृश्य में पर्यवसित होने के नाते इनमें भी प्रतीति भेदाभेदतुल्यता की ही होती है।

एवं तुल्यप्रधानभावनिमित्तकं भेदप्राधान्यमपि शाब्दमेवात्र ज्ञेयम्। वस्तुतो हि सादृश्यस्यैव पर्यवसानात् भेदाभेदयोस्तुल्यत्वेनैव प्रतीतिः। तस्माच्छाब्दमेव भेदप्राधान्यमाश्रित्येहास्या वचनम्। —वि० पृ० १०३।

(ख) अधुना भेदप्राधान्येनालंकारकथनम्। —पृ० १०१।

(ग) अधुना विशेषणविच्छित्त्याश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते। तत्रादौ विशेषणसाम्यावष्टम्भेन समासोक्तिमाह। —पृ० १०७।

१. देखिए—अ० स० पृ० १०१।

२. विमर्शनी का इस सम्बन्ध में कथन उल्लेख्य है—

भेदस्य चात्र प्राधान्यादभेदस्य वस्तुतः सद्भावः सादृश्ये एव पर्यवसानात्। —वि० पृ० १०२।

इन अलंकारों के बाद विनोक्ति से लेकर आक्षेप तक के समग्र अलंकारों में उपमानोपमेयभाव गम्यमान ही रहता है अतः उन्हें भी गम्यमानौपम्याश्रय की श्रेणी में रखा जा सकता है। पर उन सभी में भेदप्रधानता खोज निकालना कठिन है। इस तरह हमारे सामने दो कठिनाइयां हैं एक तो यह कि अभेद-प्रधान अतिशयोक्ति के बाद और भेदप्रधान व्यतिरेक के पूर्व गम्यमानौपम्याश्रय अलंकारों—तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा निदर्शना—का निरूपण करने के नाते क्या इन अलंकारों को अभेदप्राधान्य वाली श्रेणी के अन्तर्गत रखना रुय्यक को अभीष्ट है? दूसरी यह कि भेदप्रधान सहोक्ति के बाद विनोक्ति से लेकर आक्षेप तक के अलंकारों को क्या भेदप्राधान्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है? जैसाकि पहले लिखा जा चुका है सर्वस्वकार ने साधर्म्य या सादृश्य के तीन भेद माने हैं उनके किन भेदों के अन्तर्गत (१) गम्यमानौ-पम्याश्रय अलंकार (तुल्ययोगिता से निदर्शना तक), (२) विनोक्ति, (३) विशेषणविच्छित्ति पर आश्रित समासोक्ति तथा परिकर, (४) विशेषणविशेष्य की विच्छित्ति पर आश्रित श्लेष (५) अप्रस्तुतप्रशंसा, (६) अर्थान्तरन्यास, (७) पर्यायोक्त, (८) व्याजस्तुति और (९) आक्षेप को रखा जाए? श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इन अलंकारों का श्रेणीविभाग इस प्रकार किया है—

अथ सादृश्यविच्छित्तौ भेदाभेदतुल्यतायामुपमा × × × × अभेदप्राधान्ये आरोपाश्रयतया रूपकं × × × × अध्यवसायाश्रयेणोत्प्रेक्षातिशयोक्ती, गम्यमानौपम्याश्रेण तुल्ययोगितादीपकप्रतिवस्तूपमादृष्टान्तनिदर्शनाव्यतिरेकसहोक्ति-विनोक्तयः, विशेषणविच्छित्त्या समासोक्तिपरिकरौ, विशेषणविशेष्यविच्छित्त्या श्लेषः, अप्रस्तुतात्प्रस्तुतावगतावप्रस्तुतप्रशंसा, सामान्यविशेषभावादिना निर्दिष्ट-प्रकृतसमर्थनेऽर्थान्तरन्यासः गम्यस्य भङ्ग्यन्तरोक्तौ पर्यायोक्तं, स्तुत्या निन्दया वा स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः, प्राकरणिकयोर्विशेषार्थं निषेधाभासे चाक्षेपः × × ×

—संजी० पृ० २२४।

संजीविनी के इस उद्धरण का विश्लेषण करने पर दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि श्रीविद्याचक्रवर्ती ने भेदप्रधान शब्द हटा दिया है, दूसरी यह कि अनेक अलंकारों को (अर्थान्तरन्यास से लेकर आक्षेप तक) प्रकीर्ण के रूप में रख दिया गया है। व्यतिरेक और सहोक्ति को उन्होंने गम्यमानौपम्याश्रय अलंकार में ही रख लिया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि रुय्यक सादृश्य पर आश्रित अलंकारों को साधर्म्य के त्रिविध विभाग के अतिरिक्त वाच्य औपम्य तथा गम्य औपम्य की दो श्रेणियों में बांटना चाहते हैं। उपमा से लेकर अतिशयोक्ति

तक के अलंकार तो प्रथम श्रेणी में आते हैं और तुल्ययोगिता से लेकर आक्षेप तक के अलंकार दूसरी श्रेणी में। उनका गम्यमानौपम्य से अभिप्राय यह नहीं है कि उसमें आनेवाले अलंकार व्यंग्य होते हैं। रुय्यक का अभिप्राय सम्भवतः यह है कि अतिशयोक्ति तक तो हम प्रकृत वस्तु (जैसेकि मुख) की चारुता का वर्णन साक्षात् करते जाते हैं; कहीं 'इव' का सहारा लेकर और कहीं नहीं भी पर अतिशयोक्ति तक कवि का उद्देश्य वर्णनीय को सुन्दर वस्तु के साथ समान या अभिन्न बताने से रहता है, और वह भी साक्षात्। उपमान और उपमेय वहां स्पष्ट मालूम पड़ते हैं। पर तुल्ययोगिता से लेकर आक्षेप तक के अलंकारों में प्रकृत और अप्रकृत का यह उपमानोपमेयभाव स्पष्ट नहीं हो पाता। जहां केवल प्रकृत का या अप्रकृत का वर्णन होगा वहां यह गम्य उपमानोपमेयभाव वैवक्षिक होगा क्योंकि वास्तविक उपमानोपमेयभाव तो वहीं हो सकता है जहां एक प्रकृत और दूसरा अप्रकृत हो। इस प्रकार इव आदि का प्रयोग न होने कारण इन्हें **गम्यमानौपम्याश्रय** अलंकार कहा जाता है।[1] विद्यानाथ के अनुसार इस वर्ग के अलंकारों में से कुछ को तो भेदप्रधान वर्ग में स्पष्टतः रखा जा सकता है और शेष गें भेदादि की प्रधानता का विचार प्रत्येक अलंकार को दृष्टि में रखकर पृथक् रूप से किया जाना चाहिए। यद्यपि ये सभी अलंकार सादृश्याश्रित हैं पर उन्हे स्पष्टतः तीन कोटियों में से एक में रखने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सादृश्याश्रय अलंकारों को हम प्रथमतः दो कोटि में बांट सकते हैं एक तो वाच्य औपम्य पर आश्रित और दूसरे गम्यमान औपम्य पर आश्रित। प्रथम कोटि में उपमा से लेकर स्मरण तक के अलंकार (जिनमें भेद तथा अभेद की समान प्रधानता रहती है) तथा रूपक से लेकर अतिशयोक्ति तक के अलंकार (जिनमें अभेद की विधा प्रधान होती है) सम्मिलित होंगे। दूसरी कोटि में भेदप्रधान अलंकार तथा समासोक्ति से लेकर आक्षेप तक के अलंकार सम्मिलित होंगे। वस्तुतः अप्रस्तुतप्रशंसा से लेकर आक्षेप तक के पाँच अलंकारों को रुय्यक गम्यमान औपम्य की श्रेणी में रखना अभीष्ट सनझते थे या नहीं, यह निश्चत रूप से कह पाना संभव नहीं है। उन्होंने इन पाँच अलंकारों के लिए यद्यपि किसी सामान्य तत्त्व का निर्देश नहीं किया है तथापि जैसा कि हम पहले संकेत कर आए हैं इनको भी सादृश्यमूलक वर्ग के ही अन्तर्गत रखना उचित होगा।

---

१. तत्रेवाद्यप्रयोगादुपमानोपमेयभावो गम्यमानः। —अ० स० पृ० ६१। तथा देखिए—समुद्र० पृ० ६६, ६८।

सादृश्याश्रय वर्ग के अलंकार

१. वाच्यौपम्याश्रय

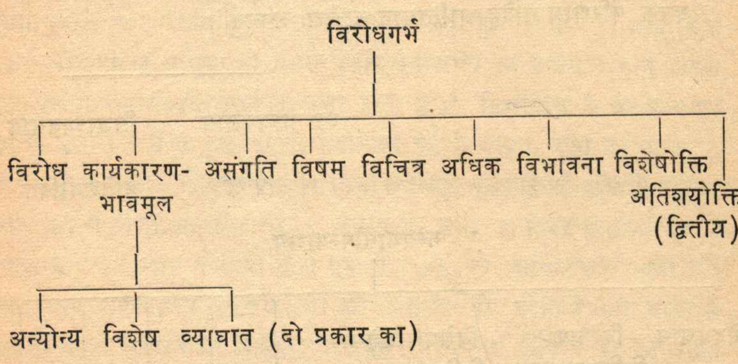
- भेदाभेदतुल्य
  - उपमा
  - अनन्वय
  - उपमेयोपमा
  - स्मरण
- अभेदप्रधान
  - आरोपगर्भ
    - रूपक
    - परिणाम
    - सन्देह
    - भ्रान्तिमान्
    - उल्लेख
    - अपह्नुति
  - अध्यवसायगर्भ
    - साध्याध्यवसाय
      - उत्प्रेक्षा
    - सिद्धाध्यवसाय
      - अतिशयोक्ति

२. गम्यमानौपम्याश्रय

- भेदप्रधान
  - पदार्थगत
    - तुल्ययोगिता
    - दीपक
  - वाक्यार्थगत
    - वस्तुप्रतिवस्तुभाव से
      - प्रतिवस्तूपमा
    - बिम्बप्रतिबिम्बभाव से
      - दृष्टान्त
      - निदर्शना
  - व्यतिरेक
  - सहोक्ति
- विशेषण-विच्छित्त्याश्रय
  - समासोक्ति
  - परिकर
- विशेषणविशेष्य-विच्छित्त्याश्रय
  - श्लेष
- अप्रस्तुतप्रशंसा
- अर्थान्तरन्यास
- पर्यायोक्त
- व्याजस्तुति
- आक्षेप

यद्यपि विनोक्ति को गम्यमान औपम्य पर आश्रित बताना सम्भव नहीं है पर संजीविनी ने स्पष्टतः उसे इसी वर्ग में रखा है। मल्लिनाथ भी 'औपम्य-गर्भत्वसाम्याद् विनोक्त्यनन्तरं समासोक्तिमाह' (तरल, पृ० २५३) से इसी बात का समर्थन करते हैं। रुय्यक, जयरथ अथवा समुद्रबन्ध ने इसे गम्यमान औपम्य पर आश्रित मानने का कोई निर्देश नहीं दिया है। अस्तु, हमने विनोक्ति को इस वर्ग में न रखकर लोकन्यायमूल अलंकारों के वर्ग में रखना अधिक उचित समझा है।

इसके बाद दूसरा वर्ग विरोधगर्भ अलंकारों[1] का है जिनका संकलन निम्नलिखित तालिका में है—



विद्यानाथ ने अतद्गुण, विशेष तथा भाविक को तथा प्रो० चन्दोकर ने प्रथम दो तथा परिसंख्या, उत्तर (द्वितीय) और अतिशयोक्ति (द्वितीय तथा चतुर्थ भेद) को विरोधगर्भ की श्रेणी में माना है। रुय्यक ने सम अलंकार का निरूपण तो अवश्य विरोधगर्भ अलंकारों के साथ किया है पर इसे इस वर्ग में नहीं रखा सकता है। समुद्रबन्ध की व्याख्या इस सम्बन्ध में स्पष्ट है—

विरोधगर्भालंकारमध्ये अताद्दशमपि समं विषमप्रसंगेन लक्षयित्वा पुनर्विरोधमूलत्वेन प्रकरणसंगतं विचित्रं लक्षयति। —समुद्र० पृ० १४६।

भाविक और विशेष को विरोधगर्भ अलंकार के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। इस अंश में विद्यानाथ का वर्गीकरण सदोष है। जहाँतक अतद्गुण का प्रश्न है उसे अवश्य विरोधगर्भ अलंकारों में रखा जा सकता है।

---

१. अधुना विरोधगर्भोऽलंकारवर्गः प्रक्रियते। —अ० स० पृ० १४५।

विभावना, विषम तथा विशेषोक्ति के साथ इसका काफी साम्य है । अलंकार-सारकार ने (विमर्शनी के अनुसार[1]) इसका अन्तर्भाव भी विशेषोक्ति में ही करना उचित समझा था । परिसंख्या अलंकार में मीमांसा का वाक्यन्याय प्राप्त होता है तथा उत्तर (द्वितीय) में लोकन्याय अस्तु, उन्हें क्रमशः वाक्यन्यायमूल तथा लोकन्यायमूल अलंकारों के वर्ग में ही रखना उचित है ।

शृंखलाबन्ध पर आश्रित[2] तीसरे वर्ग में कारणमाला, एकावली, माला-दीपक तथा सार अलंकारों का संग्रह किया गया है ।[3] शृंखलाबन्ध का अर्थ है सांकल की भाँति एक के बाद दूसरी वस्तु का क्रम से ग्रथन—

शृंखलाबन्धो नाम शृंखलावदुत्तरोत्तरग्रथितत्वेन निबन्धः ।

—समुद्र० पृ० १५७ ।

विद्यानाथ ने भी उपर्युक्त अलंकारों को ही इस वर्ग में सम्मिलित किया है ।[4]

चतुर्थ वर्ग तर्कन्यायमूल में दो अलंकार आते हैं—काव्यलिंग तथा अनुमान ।[5] विद्यानाथ ने अर्थान्तरन्यास को इसी वर्ग में रखा है । किन्तु रुय्यक ने इसे सादृश्याश्रित अलंकारों के अन्तर्गत रखना उचित समझा था । डा०पी० के गोडे ने वर्गीकरण के मनोवैज्ञानिक आधार पर इसे सादृश्याश्रित अलंकार सिद्ध किया है ।[6] बाद में श्री ए० एस० भण्डारकर ने इसे तर्कन्यायमूल में ही रखने की वकालत की ।[7] मैं रुय्यक के मत को ठीक समझता हूँ क्योंकि अर्थान्तर-न्यास के सामान्य और विशेष में समष्टिगत तथा व्यष्टिगत एकरूपता का

---

१. अत एवालंकारसारकृता विशेषोक्त्यन्तर्भाव एवोक्तः ।—वि० पृ० २१५ ।

२. एवं विरोधमूलानलंकारान्निर्णीय शृंखलाबन्धोपचिता अलंकारा लक्ष्यन्ते ।
—अ० स० पृ० १७६ ।

३. शृंखलावैचित्र्येण कारणमालैकावलीमालादीपकसाराः ।—संजी०पृ० २२४ ।

४. देखिए—प्रताप० पृ० ३३६ ।

५. अधुना तर्कन्यायाश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते ।

६. देखिए—Classification of Alaṅkāras, Annals B. O. R. I. खण्ड २, १६२१, पृ० ६६-७२ ।

७. देखिए—Annals B.O.R.I., खण्ड २, पृ० १६१-६६ ।

प्रतिबिम्बन होता है ।[1]

तर्कन्यायाश्रय श्रेणी के बाद वाक्यन्यायमूल[2] के वर्ग में यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय तथा समाधि का संकलन है। दूसरे आचार्यों के सम्भावना, मिथ्याध्यवसित, ललित आदि अनेक नवीन अलंकारों को इसी वर्ग में सम्मिलित करना चाहिए। पर्याय, परिवृत्ति तथा समाधि नामक अलंकारों को इस वर्ग में रखना उचित नहीं है क्योंकि उनमें वाक्यकृत कोई चारुता नहीं होती है। रुय्यक ने पर्याय तथा परिवृत्ति का इस वर्ग में संकलन क्रम तथा क्रमप्रतिभास की समानता को लेकर किया है। यथासंख्य में प्राग्निर्दिष्ट वस्तुओं का पश्चात् निर्दिष्ट वस्तुओं के साथ क्रमेण संबंध होता है। यह क्रमव्यवस्था पर्याय में स्पष्टतः मिलती है और परिवृत्ति में उसका आभास रहता है। समुच्चय और समाधि में तत्करत्व का समान न्याय है इसलिए समाधि को इस वर्ग में रखा गया है। कभी अलंकार के बाह्य रूप और उसके अभिव्यक्तिमाध्यम के ढांचे के आधार पर, और कभी अर्थ के आधार पर किसी वर्गविशेष में अलंकार को रख दिया जाता है। पर्याय तथा परिवृत्ति में इसी बाह्य रूप का साम्य है। समाधि को इस वर्ग में रखने का कारण है इसमें और समुच्चय (द्वितीय) में पाया जाने वाला तत्करत्व का समान तत्त्व। यदि सिद्धि के लिए कोई एक पर्याप्त है और उसी की सिद्धि-साधना में दूसरा भी स्पर्धा से योग देने लगता है तो समुच्चय (द्वितीय) माना जाता है।[3] समाधि में एक कारण दूसरे कारण की सहायता से कार्य को सुकर बना देता है।[4] यह सुकरता उपर्युक्त दोनों अलंकारों का समान तत्त्व है। इस सुकरता की अभिव्यक्ति शब्दों के विशेष क्रम से की जाती है इसीलिए सम्भवतः रुय्यक ने इसे वाक्यन्यायमूल वर्ग में रखा है।

इसके बाद लोकन्यायमूलक वर्ग है। रुय्यक ने इसमें प्रत्यनीक, प्रतीप, निमीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर का संग्रह किया है। लोक-व्यवहार में प्रचलित प्रयोग या लोकप्रसिद्ध न्याय पर आधारित अलंकार इसमें

---

१. देखिए—डा० द्विवेदी : मेघदूत के अर्थान्तरन्यास, साहित्यालोचन, अंक १, पृ० ३५-४१ ।

२. अधुना वाक्यन्यायमूला अलंकारा उच्यन्ते। —अ० स० पृ० १८७।
वाक्यन्यायो मीमांसान्यायः। —समुद्र० पृ० १६५।

३. एकस्य सिद्धिहेतुत्वे अन्यस्य तत्करत्वं च। —अ० स० पृ० २०२।

४. कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः। —अ० स० पृ० २०८।

रखे गए हैं। यह लोकन्याय है—दुनिया में यह न्याय समझा जाता है अन्याय नहीं अथवा दुनिया की यह रीति है कि यदि शत्रु बलवान् है और उसको हानि पहुंचाना सम्भव नहीं है तो उसके सम्बन्धिवों को ही सताया जाए। विनोक्ति को भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है क्योंकि उसमें शोभन या अशोभन की चर्चा लोकदृष्टि पर आधारित होती है। अतद्गुण को विद्यानाथ ने विरोधमूल में रखा है। यह मुझे भी अभिमत है। प्रतीप औपम्यजीवित है।[1] पर इसके रूप-विधान में लोकप्रचलित प्रयोग किए जाते हैं अतः इसे इस वर्ग में रखना अनुचित न होगा।

लोकन्यायमूल अलंकारों के बाद सर्वस्वकार ने वर्गीकरण की दृष्टि से लिखा है—

इतः प्रभृति गूढार्थप्रतीतिपरालंकारलक्षणम्। —अ० स० पृ० २१७।

यह वाक्य उत्तरालंकार के बाद तथा सूक्ष्मालंकार के पूर्व आया है, स्वभावतः गूढार्थप्रतीतिपर अलंकारों की श्रेणी का इसी सूक्ष्म अलंकार से प्रारम्भ मानना चाहिए,[2] उत्तर अलंकार से इस वर्ग का प्रारम्भ मानना अन्यथा भी उचित न होगा।

संसृष्टि अलंकार से पूर्व और भावशवलता के बाद—**तदेते चित्तवृत्ति-गत्वेनालंकाराः दर्शिताः** (पृ० २४०), वर्गीकरण का सूचक यह वाक्य आया है। समुद्रबन्ध ने '**तदेते**' का अर्थ यह दिया है—**रसवत्प्रभृतयो भावशबलतापर्यन्ताः** (पृ० २१४)। अतः रसवदलंकार के पूर्व तथा उत्तरालंकार के बाद से समग्र अलंकारों को गूढार्थप्रतीतिपर वर्ग का मान लेने पर उसकी सूची यह होगी—

गूढार्थप्रतीतिपर

सूक्ष्म | व्याजोक्ति | वक्रोक्ति | स्वभावोक्ति | भाविक | उदात्त (दो)

---

१. देखिए—वि० पृ० २०८।

२. समुद्रबन्ध ने (पृ० १६४) मूल ग्रन्थ के 'इतः प्रभृति' इन शब्दों की 'उत्तरादारभ्य' यह व्याख्या की है। इस प्रकार समुद्रबन्ध के अनुसार उत्तर अलंकार को गूढार्थ-प्रतीति के वर्ग में ही रखना चाहिए किन्तु उसे इस वर्ग में रखने का कोई औचित्य नहीं है, टीकाकार ने स्वयं भी कोई कारण नहीं दिया है। यदि 'उत्तरादारभ्य' का अर्थ उत्तर के बाद से लेकर, यह किया जा सके तो टीकाकार के कथन की संगति संभव है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अन्तिम दो अलंकारों का पृथक् परिगणन किया है—

गूढार्थपरत्वे सूक्ष्मव्याजोक्तिवक्रोक्तिस्वभावोक्तयः । स्फुटार्थत्वे भाविकम्, औदार्य्येणोदात्तद्वयम् ।
—संजी० पृ० २२५ ।

व्याजोक्ति तथा वक्रोक्ति जैसे अलंकारों के साथ स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त को रखने का औचित्य, गूढार्थप्रतीति पद की व्याख्या पर निर्भर है। सूक्ष्मालंकार में ऐसा अर्थ छिपा होता है जिसे स्थूल बुद्धि का व्यक्ति नहीं भांप सकता; व्याजोक्ति में छिपाने के योग्य (निगूढ) बात प्रकट होने से किसी प्रकार बचा ली जाती है। पहले में अर्थ की सूक्ष्मता निगूढ होने का कारण है तो दूसरे में वस्तु स्वयं निगूढ होती है और इसकी निगूढता व्याज-वचन से बचाई भी जाती है। वक्रोक्ति में निगूढार्थ इसी अर्थ में माना जा सकता है कि इसमें एक शब्द को दो व्यक्ति दो तरह से समझते हैं; वक्ता का अपना अर्थ श्रोता के लिए निगूढ होता है, निगूढ कदाचित् न भी हो तो श्रोता उसे अपनी ओर से निगूढ बना देता है। स्वभावोक्ति में निगूढार्थ से अभिप्राय है वस्तु का ऐसा स्वभाव जिसे जनसाधारण नहीं देख पाता कवि ही देख पाता है[1] और फिर उस निगूढार्थ की प्रतीति सहृदय को ही हो पाती है। भाविक का वर्ण्य विषय अतीत या भविष्य (वर्तमान का नहीं) का वृत्त या चरित्र होता है स्वभावतः वह निगूढ है। उदात्त में कविकल्पित अर्थ होता हैं जो आरोपित होता है, सहज नहीं। इसप्रकार निगूढ शब्द का विभिन्न अर्थों में यहाँ प्रयोग किया जाता है। प्रतीति का अर्थ सूक्ष्मालंकार के प्रकरण में प्रकाशन है, व्याजोक्ति में प्रक्षेप और वक्रोक्ति में उसीका अर्थ योजना है। स्वभावोक्ति और भाविक में प्रतीति का अर्थ अनुभूति और उदात्त में ज्ञान होगा।

ध्वनिकार ने रस आदि को चित्तवृत्ति का विभिन्न रूप माना है— **चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः**। सम्भवतः इसी आधार पर रुय्यक ने चित्तवृति-गत के रूप में एक नवीन श्रेणी बनाई है। इसमें रसवान्, प्रेयान्, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता इन अलंकारों का परिगणन किया गया है।

---

१. **सूक्ष्मः कवित्वमात्रस्य गम्यः ।**

२. ध्वन्या०, पृ० ४७३ ।

वर्गीकरण का समीक्षण

शुद्ध तथा मिश्र अलंकारों में से प्रथम को सामान्यतः दो श्रेणियों में बांट सकते हैं—वस्तुमूलक तथा चित्तवृत्तिमूलक । उपमा से लेकर उदात्त तक के समग्र अलंकार वस्तुमूलक हैं । कवि के लिए समग्र सूक्ष्म तथा स्थूल जगत् वस्तु है, प्रकृत है, वर्ण्य है, उपमेय है; भले ही उसे कभी वह अप्रकृत या उपमान कहकर पुकारे । उदात्त में महापुरुष के चरित का, उसके मन और हृदय की श्रेष्ठता का वर्णन होता है अतः रुय्यक सम्भवतः इस अलंकार को चित्तवृत्तिमूलक में ही रखना चाहेंगे—**उदात्ते महापुरुषचरितस्य चित्तवृत्तिरूपत्वात्**[1] × × × × । रसवदादि अलंकारों में वर्णना का केन्द्रबिन्दु वस्तु न होकर मनोविकार होते हैं । शृंगार, हास, करुण आदि के पुट से सँजोया भाववर्णन अलंकार बन जाता है । मानव की चित्तवृत्तियों के इस अलंकार को चित्तवृत्तिमूलक वर्ग के अन्तर्गत रखना स्वभावतः उचित है ।

वस्तुमूलक अलंकारों में से कुछ में तो वस्तु या अर्थ निगूढ़ होता है जिनके लिए गूढार्थप्रतीतिपर नामक एक नवीन वर्ग है । इन कुछेक अलंकारों को छोड़कर शेष अलंकारों को सम्बन्ध तथा न्याय इन दो आधारों पर विभाजित किया गया है । सम्बन्ध में रुय्यक ने सादृश्य तथा विरोध को लिया है । प्रथम सम्बन्ध पर आश्रित वर्ग में प्रायः आधे अलंकार आ जाते हैं । इसी में उन्होंने स्मरण तथा अप्रस्तुतप्रशंसा जैसे अलंकारों को भी सम्मिलित कर लिया है जो मनोविज्ञानवादी आलंकारिक की दृष्टि से प्रत्यासत्ति (contiguity) सम्बन्ध के उदाहरण हैं, सादृश्य के नहीं । विरोधसम्बन्ध पर आधारित अलंकारों की संख्या अधिक नहीं है । उन अलंकारों के सादृश्याश्रित तथा विरोधगर्भ वर्गों में विभाजित करने का आधार सादृश्य तथा विरोधसम्बन्ध की चित्तवृत्ति पैदा करना है । आनन्दवर्धन ने लिखा है कि प्रत्येक वस्तु किसी न किसी प्रकार की चित्तवृत्ति पैदा करती है—

न च तदस्ति वस्तु किंचित् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति ।

—ध्वन्या० पृ० ४७३ ।

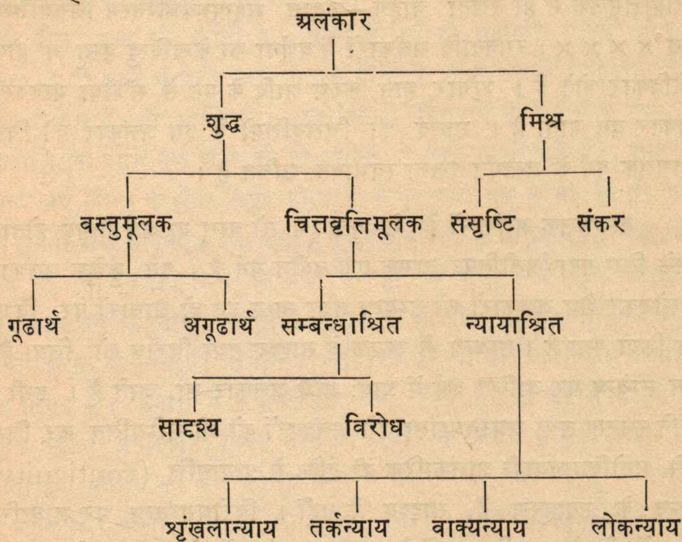
अलंकार प्रकृत वस्तु का उपरंजन तो करते ही हैं[2] पर साथ ही अन्य वस्तुओं

---

१. अ० स० पृ० २३२ ।

२. यावतोपमादीनां सर्वालंकाराणां प्रकृतवस्तूपरंजकत्वम् ।—वि० पृ० २३३ ।

की भाँति, अलंकृत वस्तु भी एक विशेष चित्तवृत्ति उत्पन्न करती है। इस अंश तक इस वर्गीकरण को मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं। न्याय को रुय्यक ने तर्क, वाक्य तथा लोक की तीन श्रेणियों में रखा है। शृंखलाबन्ध को भी शृंखलान्याय ही नाम दिया जा सकता है, विद्यानाथ ने दिया भी है। इस प्रकार हम न्यायसामान्य को चार भागों में बांट सकते हैं, और इसप्रकार इन पर आधारित वर्गों को चार न मान कर, न्यायसामान्य को एक मानकर, वर्गीकरण किया जा सकता है। इस प्रकार वर्गीकरण की आधार-रेखा निम्नलिखित हो सकती है—



अस्तु, एक तो पौनरुक्त्य के आधार पर शब्दालंकारों का प्राधान्येन वर्गीकरण किया जा सकता है और शुद्ध तथा मिश्र अर्थालंकारों में से शुद्ध अलंकारों को वस्तुमूलकता तथा चित्तवृत्तिमूलकता के दो प्रमुख आधार पर विभाजित कर सकते हैं। चित्तवृत्ति सादृश्य तथा विरोध के सम्बन्ध से उत्पन्न हो सकती है तथा लोक और शास्त्र में प्रचलित न्याय के आधार पर भी। इसप्रकार चित्तवृत्तिमूलक के दो भेद होंगे। वस्तुमूलक वर्ग में हम उन दो प्रकार के अलंकारों को रख सकते हैं जो या तो गूढ अर्थ की प्रतीति कराते हैं या अगूढ की। मिश्र अलंकारों की पृथक् कोटि रुद्रट ने स्पष्टतः प्रवर्तित कर दी थी। रुय्यक ने संसृष्टि **और** संकर इन मिश्र अलंकारों को स्वतन्त्र सिद्ध करते हुए कहा है कि 'जिस प्रकार सोने, मणि आदि से निर्मित लौकिक आभूषणों में बनावट

(संघटना) के द्वारा एक नया सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार प्रस्तुत अलंकारों (काव्यालंकारों) में भी मिश्रण होने पर एक नया अलंकार बन जाता है, पृथग्रूप से (उनका) अवसान नहीं होता है।"[1] संसृष्टि और संकर अलंकारों को स्वतन्त्र सिद्ध करने के लिए रुय्यक का यह कथन इन अलंकारों को मिश्र नाम की पृथक् कोटि में रखने का पर्याप्त आधार है।

अलंकार का निरूपण-क्रम

अलंकारों के वर्गीकरण से ही एक और समस्या सम्बन्धित है। विभिन्न वर्गों में से किस वर्ग के अलंकारों को प्राथमिकता दी जाए, एक वर्ग में आने वाले अलंकारों में से पहिले किसका विवेचन हो। उदाहरण के लिए पौनरुक्त्य के वर्ग में से पुनरुक्तवदाभास का ही सबसे पहले क्यों निरूपण हो? उपमा अर्थालंकारों में सबसे पहले क्यों बताई जाए? उपमेयोपमा के बाद स्मरण अलंकार लिखना ठीक है जैसाकि रुय्यक ने किया है या मम्मट की भाँति उत्प्रेक्षा पर उतर आना? रुय्यक ने भ्रातिमान् के बाद अपह्नुति लिखी थी या पहले? इसी प्रकार अतिशयोक्ति के बाद उल्लेख लिखा था या पहले? इन सब प्रश्नों का उत्तर तभी दिया जा सकता है जब अलंकारों के निरूपण-क्रम के निश्चित सिद्धान्त हों। मम्मट में क्रम के सम्बन्ध में यत्र तत्र निर्देश अवश्य है पर किसी क्रम का पालन नहीं है और न क्रम का औचित्य ही बताया गया है; रुद्रट ने अपने वर्गीकरण के अनुसार क्रम रखा है। वामन तथा कुन्तक भी यदा कदा क्रम का आधार बता देते हैं। किन्तु प्रत्येक अलंकारों का वर्गीकरण कर निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर उनमें से प्रत्येक का सयुक्तिक क्रमशः विवेचन रुय्यक की ही विशेषता है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने निरूपण-क्रम के सम्बन्ध में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनका कहना है कि कुछ अलंकार स्थूल होते है और कुछ सूक्ष्म। स्थूल और सूक्ष्म आपेक्षिक शब्द हैं। रुय्यक द्वारा जिन अलंकारों का पहले विवेचन हुआ है वे तो स्थूल हैं और उनके बाद आने वाले सूक्ष्म से सूक्ष्मतर। ध्वनिवादी की दृष्टि से अलंकार वही है जो रसोपकारक हो। संजीविनीकार का मत है कि स्थूलालंकार रस के आरादुपारक हैं और सूक्ष्मालंकार उनकी अपेक्षा प्रत्यासन्नोपकारी। दूसरे शब्दों में उपमा से अधिक रस का उपस्कारक अलंकार रसवत् है। संजीविनी से इस सम्बन्ध में उल्लेख आवश्यक है।

---

१. अ० स० पृ० २४१-४२।

अत्रैतदनुसन्धेयम्—इह यो यावानलंकारवर्गो विवेचयिष्यते विवेचितचरश्च, सर्वत्रैवात्र रसं प्रति प्रत्यासन्नोपकारिता, पूर्वं पूर्वं पुनरारादुपकारिता, तत्र यद्यपि प्रत्यासन्नोपकारिणां प्राधान्यम् अथापि तेषां सूक्ष्मसूक्ष्मतरत्वात् स्थूलालंकारपुरस्कारेण व्युत्पादनम्। —संजी० पृ० ४८-४९।

शब्दालंकारों का अर्थालंकारों से पहिले विवेचन होता है। अर्थ से पहले शब्द की प्रतीति होती है—शब्दप्रतीतिपुरःसरीकारेणार्थप्रतीतिः। शब्द की प्रतीति अन्तरंग है अर्थ की बहिरंग। शब्दालंकारों के प्रथम विवेचन का सम्भवतः यह भी रहस्य है कि वे अत्यन्त स्थूलालंकार हैं, उपमादि की अपेक्षा वे रस के और भी अधिक आरादुपकारक हैं (उपमा आदि रस के अधिक प्रत्यासन्न उपकारक हैं), तभी तो यमक, चित्र आदि अलंकारों की आलोचना रसवादी करता रहा है। इनका विस्तार उसे कभी अभीष्ट नहीं रहा है क्योंकि वह इन्हें काव्यान्तर्गडुभूत समझता है। रसवादी के मत से शब्दालंकार रसचर्वणा के प्रत्यूहकारी हैं। रुय्यक ने सूक्ष्म अथवा प्रकृष्ट को बाद में और स्थूल को पहले रखा है। वर्धमानोत्कर्षाणि शास्त्राणि प्रथन्ते—संस्कृत आचार्यों की यह नीति भी रही है। रूपक और उत्प्रेक्षा के परस्पर प्राथम्य पर विचार करते हुए रुय्यक का मन्तव्य है कि आरोप की अपेक्षा अभेद में अध्यवसाय प्रकृष्ट होता है अतः अध्यवसायमूलक अलंकारों का निरूपण बाद में करना ठीक है—

आरोपादभेदेऽध्यवसायः प्रकृष्यत इति पश्चात्तन्मूलालंकारविभागः।
—अ० स० पृ० ४५।

उपर्युक्त कथन श्रीविद्याचक्रवर्ती के आधार की पुष्टि करता है तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने के युक्तिसंगत सिद्धान्त का पालन करता है।

सर्वस्व के अलंकारों का क्रम देखकर उस सम्बन्ध में कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। सर्वस्वकार ने अलंकारों को पहले वर्गशः और फिर प्रमुख वर्गों को अवान्तरवर्गों में विभाजित किया है। प्रमुख वर्ग का प्रथम अलंकार उस वर्ग का बीजभूत अलंकार है। उपमा सादृश्याश्रित अलंकारों की बीजभूत है[1], अतः उसका सादृश्याश्रय वर्ग में प्रथम विवेचन है। इसी प्रकार विरोध, कारणमाला, काव्यलिंग, यथासंख्य, प्रत्यनीक, सूक्ष्म तथा रसवत् अपने अपने वर्गों के प्रमुख प्रतिनिधि हैं। अवान्तर वर्ग में उसी अलंकार का पहले विवेचन आवश्यक समझा गया है जो उस उपवर्ग का प्रतिनिधित्व कर सके

---

१. अनेकेऽलंकाराः साधर्म्याश्रयास्तत्रैवास्या बीजत्वात्। —वि० पृ० ३२।

तथा जिसकी प्रतीति की दृष्टि से प्राथमिकता हो। अध्यवसाय से पहले आरोप की प्रतीति होती है और सिद्ध से पहले साध्य की। यही कारण है कि आरोपगर्भ अलंकारों में रूपक का[1] और अध्यवसाय-गर्भ अलंकारों में उत्प्रेक्षा का पहले निरूपण हुआ है। शब्दार्थप्रतीति में शब्द की प्रथम प्रतीति की भांति, वाक्यार्थ की अपेक्षा पदार्थ की प्रथमतः प्रतीति होने के नाते[2] तुल्ययोगिता तथा दीपक को प्रतिवस्तूपमा तथा निदर्शना से पहिले रखा गया है। विशेषण तथा विशेषण-विशेष्य की विच्छित्ति पर आश्रित दो अलंकार हैं, स्वभावतः एक अर्थात् विशेषणमात्र पर आश्रित अलंकारों (समासोक्ति तथा परिकर) को पहिले रखा गया है, और विशेषण तथा विशेष्य इन दोनों की शोभा पर आश्रित श्लेषालंकार को बाद में।

इस प्रकार रुय्यक ने वर्ग तथा अवान्तर वर्ग के प्रथमालंकार के सम्बन्ध में या तो प्रतीति की प्राथमिकता का सिद्धान्त अपनाया है या अलंकार-विशेष के प्रतिनिधि होने का। सर्वस्वकार ने इस नियम का कड़ाई के साथ पालन किया है कि एक वर्ग-विशेष में आने वाले अलंकार एक साथ रखे जाएं इसीलिए वे मालादीपक तथा अतिशयोक्ति (द्वितीय) को दीपक तथा अतिशयोक्ति के साथ या गम्य औपम्य पर आश्रित सादृश्यमूलक वर्ग में न रखकर उन्हें क्रमशः शृंखलाबन्ध तथा विरोधगर्भ के वर्गों में रखना उचित समझते हैं। सर्वस्व तथा उसके टीकाकारों का कथन इस सम्बन्ध में स्पष्ट है—

प्रकारपञ्चकमध्यात् कार्यकारणभावेन यः प्रकारः स कार्यकारणताश्रयालंकारप्रस्तावे प्रपञ्चार्थं लक्षयिष्यते। —अ० स० पृ० ८४।

मालादीपक के सम्बन्ध में भी उनका इसी प्रकार कहना है—

मालात्वेन चारुत्वविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तावोल्लंघनेनेह लक्षणं कृतम्।
—अ० स० पृ० १७८-१७९।

---

१. **तत्राप्यारोपमूलालंकाराणां बीजभूतं रूपकमादौ सूत्रयति।**
— संजी० पृ० ४७।

२. **वाक्यार्थापेक्षया पदार्थप्रतीतेरन्तरंगत्वात्।** —वि० पृ० ८९।

३. **देखिए—अ० स० पृ० १६२। इस सम्बन्ध में तरल का व्याख्यान और भी स्पष्ट है—**
अथ हि लक्षितायामतिशयोक्तौ कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसरूपं तद्भेदमिह कार्यकारणभावमूलालंकारप्रस्तावे संगतिवशेनाह। —तरल, पृ० २८५।

विमर्शिनीकार ने प्राचीनों द्वारा दीपक के साथ ही मालादीपक को भी रखने की आलोचना करते हुए इसे शृंखलान्याय वर्ग में ही रखने का समर्थन स्पष्ट शब्दों में किया है—

प्राच्यैः पुनरेतद्दीपनमात्रानुगुण्यात् तदनन्तरं लक्षितम्। शृंखलात्वेन तु विशिष्टमस्य चारुत्वमितीह लक्षणं युक्तम्। —वि० पृ० १७८-७९।

वर्गविशेष के जो अलंकार (नीचे बताए जाने वाले दो सिद्धान्तों के आधार पर निरूपित होने के बाद) शेष बचते हैं उन्हें भी रुय्यक ने उसी वर्ग में पारिशेष्यात् न्याय के अनुसार रखा है। भेदाभेदप्रधान अवान्तरवर्ग के समाप्त होने के बाद स्मरण को, अभेदप्रधान अवान्तर वर्ग के अन्त में सन्देह को, इसी प्रकार आरोपगर्भ अलंकारों में अपह्नुति को पारिशेष्याद् अन्त में रखा गया है। विषम, विचित्र तथा सार के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है।

वर्ग तथा अवान्तरवर्ग में आने वाले विभिन्न अलंकारों का क्रम रुय्यक ने प्रधानतः दो मूलभूत आधारों पर रखा है। एक है लक्षण-साधर्म्य, दूसरा है लक्षण-वैधर्म्य। पहले को समानता या साधर्म्य का सम्बन्ध कहेंगे तो दूसरे को वैधर्म्य, विरोध या विपर्यय का। लक्षण-साधर्म्य से अभिप्राय यह है कि यदि एक अलंकार के स्वरूप का कोई अंश दूसरे में भी पाया जाता है तो स्वभावतः उसे साथ में रख दिया गया है। उदाहरणतः अनन्वय और उपमेयोपमा को लें। अनन्वय में द्वितीय सदृश की निवृत्ति होती है और उपमयोपमा में तृतीय सदृश की। प्रथम प्रकार की प्रतीति पूर्ववर्तिनी है और दूसरी अनन्तरभाविनी। भ्रांतिमान्, उल्लेख, निदर्शना अर्थान्तरन्यास, असंगति, विषम, विशेष, व्याघात, परिसंख्या, समाधि, तद्गुण, भाविक तथा रसवत् आदि अलंकारों के क्रम का रहस्य यही है। इनसे पूर्ववर्ती अलंकार सन्देह, भ्रान्तिमान्, प्रतिवस्तूपमा आदि में इनके स्वरूप का आंशिक साधर्म्य अनुस्यूत है। लक्षण-साधर्म्य के संकुचित अर्थ में हम नामसाम्य, शब्दसाम्य या समानन्याय को भी सम्मिलित कर सकते हैं। इसका अर्थ है कि जिन अलंकारों का नाम एक ही है या जिनमें कोई शब्दविशेष एक है उनका एक साथ वर्णन उचित है। इसे बाह्य लक्षणसाधर्म्य कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रथम आक्षेपालंकार के बाद द्वितीय आक्षेपालंकार[1] को, प्रथम व्याघातालंकार

---

१. **एवमिष्टनिषेधेनाक्षेपमुक्त्वा समानन्यायत्वादनिष्टविधिनाक्षेपमाह।**

—अ० स० पृ० १५२।

के बाद द्वितीय[1] को, तथा प्रथम उदात्त के बाद द्वितीय उदात्तालंकार[2] को, नामसाम्य के कारण ही, एक साथ रखा गया है; अन्यथा वे भिन्न अलंकार हैं। व्याजोक्ति के बाद वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति को शब्दसाम्य के आधार पर भी एकत्र रखा है। इन सभी अलंकारों के अभिधान का अन्तिम शब्द उक्ति है।[3] इसी आधार पर एकांश में समान नामान्त वाले इन अंलकारों का निरूपण एकत्र किया गया है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि अंलकारों का वर्गशः विवेचन तो प्रथम सिद्धान्त है अन्यथा सहोक्ति और विनोक्ति में भी उक्ति के शब्द-साम्य को लेकर उन्हें व्याजोक्ति आदि के साथ रखना पड़ता।

लक्षण-वैधर्म्य दूसरा मूलभूत आधार है। किसी अंलकार का एक दूसरे अंलकार के लक्षण या स्वरूप में आंशिक वैषम्य, विरोध या विपर्यय को लक्षण-वैधर्म्य की संज्ञा दी जा सकती है। कभी-कभी यह लक्षण-वैधर्म्य अंलकार के स्वरूप से सम्बन्धित न होकर केवल नाम तक ही सीमित रह सकता है। इस स्थिति में हम इसे औपचारिक या बाह्य लक्षण-वैधर्म्य कह सकते हैं। रूपक में प्रकृत का उपरंजन होता है और परिणाम में उसकी उपयोगिता। उपरंजन तथा उपयोग के इस वैधर्म्य को लेकर रूपक तथा परिणाम को एक साथ रखा गया है।[4] अपह्नुति[5], विनोक्ति[6],

---

१. नामसाम्यन्तु व्याहतिहेतुत्वलक्षणस्य निर्वचनस्य साधारण्यात्। —समुद्र० पृ० १५६।

२. (क) उदात्तशब्दसाम्यादिहाभिधानम्। —अ० स० पृ० २३१।
(ख) वाचकशब्दस्वरूपसाम्यमेवानन्तर्यहेतुः। —समुद्र० पृ० २०७।

३. (अ) उक्तिव्यपदेशसाम्याद् व्याजोक्त्यनन्तरमस्या लक्षणम्। —अ० स० पृ० २१९।
(ब) उक्तिवाचोयुक्तिप्रस्तावादस्येह लक्षणम्। —अ० स० पृ० २२३।

४. (क) अथ रूपकालंकारात् प्रकृतोपयोगलक्षणवैधर्म्यशालिने परिणामालंकाराय सूत्रम्। —संजी० पृ० ५४।
(ख) तदेवमारोपमूलेषु प्रकृतोपरंजकतया रूपकं निरूप्य तद्वैधर्म्येण प्रकृतोपयोगितया परिणामं लक्षयति। —तरल, पृ० २२०।

५. प्रक्रान्तानपह्नववैधर्म्येणेदमुच्यते। —अ० स० पृ० ६३।

६. सहोक्तिप्रतिभटभूतां विनोक्तिं...। —वहीं, पृ० १०५।
प्रतिभटभूतामिति प्रतिपक्षभूतामत एवैतदनन्तरमस्या लक्षणम्। —वि० पृ० १०५।

अप्रस्तुतप्रशंसा,[1] विशेषोक्ति,[2] सम,[3] एकावली,[4] विकल्प,[5] समुच्चय,[6] निमीलित,[7] अतद्गुण,[8] व्याजोक्ति[9] तथा उदात्त[10] (प्रथम) को विरोध सम्बन्ध के आधार पर ही यथास्थान रखा गया है। कभी कभी यह लक्षण-वैधर्म्य नामभेद पर भी आधारित हो सकता है जैसे कि तद्गुण और अतद्गुण, सहोक्ति और विनोक्ति में केवल नाम-भेद है।

इस प्रकार रुय्यक ने वर्गीकरण के अनुसार प्रत्येक वर्ग को एक साथ रखा है और फिर उनमें आने वाले अलंकारों का साधर्म्य या विरोध सम्बन्ध के

---

१. (क) अधुना तद्वैपरीत्येनाप्रस्तुतात्प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसोच्यते। अ० स० पृ० १३२।

(ख) यत्तु समासोक्त्यनन्तरं परिकरश्लेषयोर्वचनं तद्विशेषणसाम्यादिना प्रसंगागतम्। —वि० पृ० १३२।

२. विभावनां लक्षयित्वा तद्विपर्ययस्वरूपां विशेषोक्तिं लक्षयति। —अ० स० पृ० १६०।

३. (क) विषमवैधर्म्यादिह प्रस्तावः। —वहीं, पृ० १६७।

(ख) विरोधगर्भालंकारमध्ये अतादृशमपि समं विषमप्रसंगेन लक्षयित्वा...। —समुद्र० पृ० १४६।

४. कार्यकारणभावाश्रितां कारणमालामुक्त्वा सम्प्रति तद्वैधर्म्येण विशेषण-विशेष्यभावाश्रितामेकावलीमाह...। —तरल, पृ० २६७।

५. तस्मात् समुच्चयप्रतिपक्षभूतो विकल्पाख्योऽलंकारः। —अ० स० पृ० २००।

६. विकल्पप्रतिपक्षेणास्य स्थितिः। —वहीं,
तथा—अतश्च विकल्पानन्तरं लक्षितमिति भावः। —समुद्र० पृ० १८०।

७. समुच्चय और विकल्प का भी विरोध सम्बन्ध है। देखिए—ऊपर पादटिप्पणी संख्या ६।

८. (क) तद्गुणप्रस्तावात् तद्विपर्ययरूपोऽतद्गुण उच्यते। —अ० स० पृ० २१४।

(ख) विरोधसम्बन्धमानन्तर्यहेतुं दर्शयति। —समुद्र० १६२।

९. सूक्ष्मवैपरीत्येन व्याजोक्तिं लक्षयति। —तरल, पृ० ३६५।

१०. स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनं तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्तुवर्णनात्मत्वेन उदात्तस्यावसरः। —अ० स० पृ० २३०।

आधार पर क्रम स्थिर किया है। इसके लिए उन्होंने दो मूलाधारों के अतिरिक्त कुछ सामान्य आधारों की सहायता भी ली है जैसे कि प्रतीति की प्राथमिकता का सिद्धान्त। शब्दालंकार, आरोपमूलक अलंकार तथा पदार्थगत अलंकारों को क्रमशः अर्थालंकार, अध्यवसायमूलक अलंकार तथा वाक्यार्थगत अलंकारों से पहिले रखने का यही हेतु है। रुय्यक ने इस प्रकार शब्दार्थोभयविभाग में वर्गीकरण तथा निरूपणक्रम की प्राकरणिकता के सम्बन्ध में एक व्यवस्थित पद्धति, जो प्रायः वैज्ञानिक है, का उद्भावन किया है। अवश्य ही, प्राचीन परम्परा का अनुयायी होने के नाते उन्हें अनेकत्र अपनी पद्धति के विपरीत चलना पड़ा है। रुय्यक का प्रभाव इस सम्बन्ध में अर्वाचीन आलंकारिकों पर निश्चय रूप से पड़ा है। विद्यानाथ ने उनका अक्षरशः अनुकरण किया है। विद्याधर, अप्पय्य-दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ और अलंकारकौस्तुभकार विश्वेशर पर भी उनके प्रभाव को पाया जा सकता है। अलंकार-सम्प्रदाय निश्चय ही इस सम्बन्ध में रुय्यक का ऋणी है।

चतुर्थ अध्याय

उपमामूलक अलंकार : उपमा

भरत से लेकर आजतक के आलंकारिक किसी न किसी अलंकार को प्रधानता देते रहे हैं। भरत ने अलंकारों की गणना में उपमा को सर्वप्रथम रखना उचित समझा था।[1] भामह का वक्रोक्ति—अतिशयोक्ति—पर आग्रह प्रसिद्ध ही है। दण्डी ने वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में बाँटकर[2] श्लेष को वक्रोक्ति का श्रीहेतु बताया था।[3] स्वभावोक्ति या जाति का साम्राज्य उन्हें शास्त्र तथा काव्य दोनों में समान रूप से अभीप्सित था, यह उनका अभीप्सित अलंकार भी है।[4] उन्होंने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश अलंकारों को भी वाणी का उत्तम भूषण कहकर इनकी स्तुति की है।[5] वामन ने प्रतिवस्तु प्रभृति अनेक अलंकारों को उपमा का प्रपंच माना है।[6] रुद्रट ने अर्थालंकारों के चार मूलतत्त्व माने हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष।[7] अनेक अलंकारों को उन्होंने औपम्य का ही भेद माना है।[8] कुन्तक ने वक्रोक्ति को व्यापक काव्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। साथ ही वे उत्प्रेक्षा,[9] अतिशयोक्ति जैसे अलंकारों को प्रथमोल्लेख के लिए जीवित मानते हैं। महिमभट्ट ने **'सर्वेष्वलंकारेषूपमा जीवितायते'** कहकर उपमा की महिमा स्वीकार की है। रुय्यक ने अनेकत्र

---

१. ना० शा० १६।४३।

२. देखिए—काव्यादर्श, २।२६३।

३. वहीं, २।३६३।

४. वहीं, २।८ ; २।६६।

५. वहीं, २।२३५। भामह इन अलंकारों को वक्रोक्ति मानने को तैयार नहीं थे क्योंकि इनमें वक्रोक्ति का पुट नहीं होता है। देखिए—भामहालंकार, २।८६।

६. प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः। —का० अ० सू० वृ० ४।३।१।

७. रुद्रट : काव्यालंकार, १।७।

८. वहीं, ८।२-३।

९. उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते। —व० जी० पृ० १६२।

उपमा को अनेक अर्थालंकारों का मूलतत्त्व मानने का निर्देश किया है ।[1] विद्यानाथ तथा विद्याधर ने रुय्यक का इस सम्बन्ध में अनुसरण किया है ।[2] अर्वाचीन आलंकारिकों में अप्पय्यदीक्षित उपमालंकार के सबसे बड़े हिमायती हैं । उनकी निम्नलिखित उक्तियाँ इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं—

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः[3] ॥

—चित्रमी० पृ० ६ ।

तथा—

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात् ।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदा सा[4] ॥

—चित्रमी० पृ० ६ ।

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ३१-३२, ६०, ६७, १०२, २०८, २४४ आदि ।

२. देखिए—प्रतापरुद्र० पृ० २२८, तथा एका० पृ० १६४ पर तरल टीका ।

३. उपमा ही एक (मूल) नटी है जो चित्र (काव्य) की भूमिका के विविध रूपों में अवतीर्ण होकर अपने नृत्य से सहृदय का अनुरञ्जन करती है । विभिन्न अलंकार उपमा-शैलूषी के ही भूमिका-भेद तथा नर्तन हैं । इस रूपक से प्रतीत होता है कि दीक्षित इस अलंकार की उपमा प्रकृति-नटी अथवा मायानटी से देना चाहते हैं ।

४. ब्रह्मज्ञान से जिस प्रकार इस चित्र विश्व का ज्ञान हो जाता है (ब्रह्मणि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति) उसी प्रकार उपमा के ज्ञान से कवि द्वारा सृष्ट चित्र विश्व का ज्ञान हो जाता है । यहाँ उपमा का ज्ञान ब्रह्मज्ञान की भाँति बताया गया है ! इससे पहिले श्लोक में उपमा को शैलूषी कहा गया था जो प्रकृति या माया के समान है किन्तु इस श्लोक में उसे परोक्षतः ब्रह्म बताया गया है । अप्पय्यदीक्षित के इस परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वक्तव्यों का तात्पर्य, मुझे यह लगता है कि जहाँ वे प्रपञ्च-सृष्टि की बात कहते हैं वहाँ वे उपमा को माया के समान बताना चाहते हैं और जहाँ ज्ञान की बात कहना चाहता है वहाँ उसे ब्रह्म के समान । वेदान्त के अनुसार प्रपञ्च का मूल माया है और ज्ञान वस्तुतः ब्रह्म ही है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

राजशेखर ने तो उपमा को कवियों की माता, काव्यसर्वस्व तथा अलंकारशिरोरत्न तक कहा है—

अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम् ।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥

—अलंकारशेखर, पृ० ३२ उद्धृत ।

अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन आलंकारिकों ने उपमा के अनेक भेद प्रभेद कर तथा उसीमें अनेक अलंकारों का अन्तर्भाव कर इसी बात का परिचय दिया है कि यही काव्यालंकारों का जीवातु है—**प्राणत्वेनावतिष्ठते**[1] । अलंकार-सम्प्रदाय के इतिहास पर दृष्टिपात करने से एक बात मुझे मालूम पड़ती है कि वामन से पूर्व उपमा का विवेचन तो चलता ही था किन्तु वामन और उनके बाद से उपमालंकार की प्रधानता पर विशेष आग्रह मिलता है । मम्मट ने उसके अनेक भेदोपभेद किए हैं । रुय्यक ने घोषणा की है—**उपमैवानेकालंकार-बीजभूता** । संभवतः इन दोनों के प्रभाव से आगे के आलंकारिक[2] स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति, श्लेष जैसे अलंकारों की स्तुति न कर प्रधानतया उपमा का यशोगान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में करते हैं । औपम्य अनेक काव्यालंकारों का व्यापक तत्त्व बन गया है । अतिशय और वक्रता का विजयघोष मन्द पड़ गया ।

ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने यह स्पष्ट कर दिया था कि अतिशयोक्ति को सर्वालंकारसामान्य या काव्यजीवित मानने का प्रश्न ही नहीं है । जहाँ तक उसका काव्यतत्त्व के रूप में स्थान है वह उसे अवश्य मिल सकता है पर औचिती और भी व्यापक काव्यतत्त्व है और अतिशय की अपेक्षा (रसादि तो मुख्य जीवित है) उसे काव्यजीवित कहना अधिक युक्तिसंगत है ।

यदि तावदतिशयोक्तेः सर्वालंकारेषु सामान्यतारूपता सा तर्हि तादात्म्य-पर्यवसायिनीति । तद्व्यतिरिक्तो नैवालंकारो दृश्यते इति कविप्रतिभानं न तत्रापेक्षणीयं स्यात् । अलंकारमात्रं च न किञ्चित् दृश्यते । अथ सा काव्यजीवितत्वेन तु विवक्षिता । तथाप्यनौचित्येऽपि निबध्यमाना तथा स्यात् । औचित्यवती जीवितमिति चेद् औचित्यनिबन्धनं रसभावादिं मुक्त्वा नान्यत् किंचिदस्तीति तदेवान्तर्भासि मुख्यं जीवितमभ्युपगन्तव्यं नतु सा । —लोचन ।

---

१. का० प्र० पृ० ३४३ ।

२. जैसे कि शोभाकर, हेमचन्द्र, वाग्भट, जयदेव, अप्पय्यदीक्षित ।

अलंकार विच्छित्ति है। कवि प्रतिभा की सृष्टि है अतः अतिशय या वक्रता उसका स्वाभाविक और अपरिहार्य स्वरूप है जो सभी में समान रूप से है। पर उपमालंकार का औपम्य अलंकारों का विशेष तत्त्व है जो सभी में नहीं पर अनेक अलंकारों में पाया जाता है। इसी औपम्य, सादृश्य या साधर्म्य पर आश्रित प्रमुख अलंकारों का निरूपण इस अध्याय का प्रतिपाद्य है।

औपम्य का स्वरूप

ऊपर उपमा तथा औपम्य की प्रसिद्धि तथा मान्यता से इतना स्पष्ट है कि सादृश्य काव्यशास्त्र का एक प्रसिद्ध तत्त्व है। कवि का उद्देश्य, इतिहास की भाँति, वस्तु का यथावत् चित्रण नहीं होता हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है कि कवि कहलाने का अधिकार इतिवृत्त के वर्णन से नहीं मिलता है यह तो इतिहास आदि का ही कार्य है—

न हि कवेरितिवृत्तमात्रवर्णनेन आत्मपदलाभः। इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः।

प्राचीन आचार्यों ने इसी प्रकार वर्णन को वार्ता की संज्ञा दी थी। वस्तुतः जब कवि का वर्ण्य विषय मुख है तो वह मुख का बाह्य और स्थूल वर्णन न करके मुखदर्शन से उत्पन्न अपनी सौन्दर्य-भावना को अभिव्यक्त करता है। अलंकार कविसमर्पित धर्म की वर्णना है। यह सौन्दर्य-भावना वस्तु के स्थूल सौन्दर्य से भिन्न है, इस मन्तव्य को रुय्यक ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

कविसमर्पितानां धर्माणां ह्यलंकारत्वात्। न हिमांशुलावण्यादीनामिव वस्तुसन्निवेशिनाम्।

—अ० स० पृ० २२६।

कवि की वर्णना ही वस्तु की सौन्दर्यभावना को उभार पाती है। भाविक के प्रसंग में रुय्यक कहते हैं—

इह क्वचिद्वर्णनीयस्य वर्णनावशादेव प्रत्यक्षायमाणत्वम्।

—अ० स० पृ० २२६।

औपम्य के द्वारा कवि एक वस्तु से स्वरूपतः समान दूसरी वस्तु का बिम्ब उपस्थित कर देता है। रुद्रट ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर औपम्य की निम्नलिखित परिभाषा दी थी—

सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तरमभिदध्यात् वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम्॥

—काव्यालंकार, ८।१।

मुख के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए कवि कमल, चन्द्र आदि ऐसी वस्तुओं से मुख का सादृश्य बताता है जो लोक में अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। औपम्य के लिए इसीलिए यह आवश्यक माना गया है कि उपमान सदा प्रतीत या प्रसिद्ध ही होना चाहिए। सर्वथा अप्रतीत वस्तु से सादृश्य सहृदय की अनुभूति को नहीं छू सकता अतः उसे सदोष समझा जाता है। सदृशता का यह काव्य-विधान बिम्बों को स्पष्टतः उभाड़ कर चेतना के एकत्व का स्पर्श करता है अतः रमणीय बन जाता है।

अनेकधा यह सादृश्य निषेध, अपह्नव, अतिशय, कार्यकारणभाव आदि के द्वारा आता है। रुय्यक के वर्गीकरण पर यदि दृष्टिपात करें तो यह प्रतीति होगा कि सादृश्य का प्रत्यायन विभिन्न रूपों से सम्भव है। प्रथमतः सादृश्य वाच्य या गम्यमान माना जा सकता है। गम्यमान औपम्य से अभिप्राय उस सादृश्य से है जो निगूढ़ हो। उदाहरण के लिए उपमा में मुख को चन्द्र के समान बताने में औपम्य निगूढ़ न होकर स्पष्ट रहता है किन्तु तुल्ययोगिता, दीपक अथवा समासोक्ति में प्रकृत और अप्रकृत की यह सधर्मिता प्रकारान्तर से प्रत्यायित होती है। जैसे कि समासोक्ति में नायक-नायिका का व्यवहार-साम्य सहृदय को स्पष्ट रूप में कवि नहीं बताता है उसे कार्य या विशेषण में छिपाए रहता है अतः स्पष्ट और साक्षात् सादृश्य कवि के अभिधान का जहाँ उद्देश्य होता है वहाँ वह वाच्य औपम्य की विधा अपनाता है अथवा कुछ निगूढ पंथा का सहारा लेता है। वाच्यौपम्य वाले अलंकार में उपमा प्रधान है। कवि सादृश्य-वर्णन की यात्रा यहीं से प्रारम्भ करता है। गुण, आकृति, देश, काल आदि को लेकर दो वस्तुओं में विद्यमान सादृश्य की ओर वह उपमा और तन्मूलक अलंकारों से ही इंगित करता है। दो वस्तुओं का सादृश्य जब भेद और अभेद दोनों को समान बनाए रखता है तो उपमा, अनन्वय, स्मरण आदि अलंकार कहलाते हैं। 'मुख चन्द्र की भाँति है' उपमा की यही उक्ति, 'मुख मुख की भाँति है' 'मुख चन्द्र की भाँति है और वह चन्द्र मुख की भाँति है,' 'मुख देखकर मुझे चन्द्र का स्मरण हो आता है' इन अनन्वय, उपमेयोपमा और स्मरण की अभिव्यक्तियों में क्रमशः उद्भासित होने लगती है। जिस मुख का चन्द्र के साथ इन अलंकारों में भेद और अभेद समान था उस मुख को ही रूपक की स्थिति में चन्द्र मान लिया जाता है। इस प्रकार मुख ही प्रधान होने लग जाता है, चन्द्र गौण। परिणाम में कवि इस अभेद से कार्य भी लेने लग जाता है मुख-चन्द्र के अभेद से सहृदय का ताप परिशान्त होता है अतः रूपक में 'मुख ही चन्द्र है' यह कहा

जाता है तो परिणाम में 'मुखचन्द्र से ताप शान्त हो रहा है' यह कथन होता है। अभेद की इस स्थिति में मुख को चन्द्र समझने की भ्रान्ति होना स्वाभाविक है—मुख को देखकर चकोर प्रफुल्लित हो उठते हैं। कवि प्रयोग करता है कि 'चन्द्रसमझकर चकोर प्रफुल्लित हो रहे हैं।' आलंकारिक चकोर की इस चित्त-वृत्ति को भ्रान्तिमान् अलंकार बतलाता है। उल्लेखालंकार में मुख को चन्द्र के ही क्यों, अपितु अनेक रूपों में उल्लिखित किया जाता है। मुख को 'चकोर चन्द्र समझते हैं, चञ्चरीक उसे कमल समझते हैं'। अपह्नुति अलंकार में मुख और चन्द्र दोनों का नाम लेकर कवि कहता है 'यह चन्द्र ही है मुख नहीं'। यह निषेध भी अभेद-प्रधान सादृश्य का प्रत्यायन करता है। अभेद की इन स्थितियों में प्रकृतोपयोग, सन्देह, भ्रान्ति, अनेकधा ग्रहण तथा अपह्नव के माध्यम से मुख और चन्द्र दोनों का उपादान होता था। उपादान द्वारा भेद का निर्देश कर अभेद का प्रत्यायन था। सहृदय मुख और चन्द्र के इस कवि-कृत अभेद को इतना समझने लगा कि कवि आगे चलकर मुख का उपादान ही नहीं करता है। 'मानो चन्द्र है' वह इतना भर कहता है सहृदय समझ लेता है कि कवि का लक्ष्य अभेदप्रधान सादृश्य का प्रत्यायन है जिसमें वह विषय (मुख) का उपादान अभीष्ट या आवश्यक नहीं समझ रहा है। अध्यवसाय की यह साध्य स्थिति अतिशयोक्ति अलंकार में सिद्ध अवस्था में परिणत हो जाती है। इस स्थिति में कवि केवल चन्द्र का ही नाम लेता है। मुख को बताने के लिए वह कहता है—'चन्द्र को देखो'। जिस सहृदय ने उपमा की अभिव्यक्तियों से लेकर उत्प्रेक्षा तक की अभिव्यक्तियों से अपना परिचय कर लिया है उसे कवि की अतिशयोक्ति का लक्ष्य पहिचानने में कठिनता नहीं होती है।

परोक्ष को अपरोक्ष, व्यवहित को अव्यवहित, व्यष्टिगत को समष्टिगत, सूक्ष्म को संवेद्य एवं प्रत्येय बनाने के लिए ही कवि सादृश्य का विधान करता है। उसके इस उद्देश्य में स्मरण, भ्रान्ति, अपह्नव, अनेकधा उल्लेख, उत्प्रेक्षण या सम्भावन आदि तो सहायक हैं ही अतिशय-वचन या किसी बात को थोड़ा बढ़ा-चढ़ाकर कहना विशेष रूप से सहायक होता है। विना अतिरंजना के कवि का सूक्ष्म सहृदय को कदाचित् प्रतीत ही न हो पाए। अतिशय-वचन में वक्ता का अति-शयित के प्रति राग भी छिपा रहता है। कोई भी व्यक्ति किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर तभी कहता है जबकि उस व्यक्ति में उस वस्तु के प्रति राग या मोह होता है। अस्तु, वस्तु को परोक्ष से अपरोक्ष बनाने के लिए, साथ ही अपने राग और भावबन्धन को हृदय खोलकर कहने के लिए अतिशयोक्ति काव्य के धरातल

पर आवश्यक विधान हो जाती है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस मन्तव्य को अपनी भावमय शैली में इस प्रकार बताया है—

'मेरा सुख-दुःख मेरे निकट अव्यवहित है, तुम्हारे निकट तो वह वैसा नहीं है। मुझसे तुम दूर हो; इसी दूरी का विचार कर अपनी बात तुम्हारे निकट कुछ बढ़ा कर ही कहनी पड़ती है। सत्यरक्षण करते हुए इस बढ़ाने की क्षमता द्वारा ही साहित्यकार का यथार्थ परिचय मिलता है। जैसा है, ठीक वैसा ही लिखना साहित्य नहीं है, क्योंकि प्रकृति में जो देखता हूँ, वह मेरे निकट प्रत्यक्ष है, मेरी इन्द्रियाँ उसकी साक्षी देती हैं। साहित्य में जो दीख पड़ता है, वह प्राकृतिक होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं है; अतः साहित्य में उसी प्रत्यक्षता के अभाव की पूर्ति करनी पड़ती है।'[1]

महिमभट्ट ने इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा है जो अतिशय की उत्कर्ष या अपकर्ष की दोनों विधाओं पर चरितार्थ होता है। उनका कहना है कि उत्कर्ष या अपकर्ष के विना वस्तु में स्वाद नहीं आ पाता है अतएव कवि अलंकारों का विधान करते हैं।[2]

'इस प्रावृट् में मुख और चन्द्रबिम्ब कान्तिहीन है; शरद् में वह रमणीय हैं'—तुल्ययोगिता के ये दो भेद हैं। 'यह भी सुन्दर है और वह भी'—यह दीपकालंकार है। 'मुख ही रमणीय है चन्द्र ही हृद्य है'—यह प्रतिवस्तूपमा है। 'धरती पर मुख और आकाश में चन्द्र'—यह दृष्टान्त है। 'मुख को दोष लगाना, चन्द्रमा को मलिन बनाना है'—यह निदर्शना है। 'चन्द्र से बढ़कर है मुख और मुख से बढ़कर है चन्द्र'—यह व्यतिरेक अलंकार है। 'चन्द्रमा के साथ मुख'—यह सहोक्ति अलंकार है। उपर्युक्त इन सभी अलंकारों में मुख और चन्द्र के भेद का उपादान है। सहृदय को अतिशयोक्ति तक मुख और चन्द्र की अभेद-प्रतीति हो चुकी थी अब कवि इन दोनों को भिन्न बताता है पर चाहे कवि भेदाभेद का सहारा ले या अभेद का अथवा भेद का, सहृदय मुख और चन्द्र की सादृश्य-प्रतीति को नहीं भूल सकता है। दर्शन के क्षेत्र में ईश्वर और जीव में जिस प्रकार भेद, अभेद और भेदाभेद बताने वाले विभिन्न प्रस्थान जिस प्रकार अन्ततः जीव और ईश्वर के सादृश्य-सम्बन्ध के प्रत्यायक हैं उसी प्रकार काव्य-लोक में

---

१. उपमा कालिदासस्य, पृ० ६-७ पर उद्धृत।

२. विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते। —व्य० वि० २।१४।

भेदाभेद, अभेद और भेद की विचित्र भंगिमाओं द्वारा मुख और चन्द्र के सम्बन्ध का काव्यमय वर्णन भी अन्ततः इन दोनों के सादृश्य-वर्णन की ओर ही प्रवृत्त होता है।

'मुख के विना चन्द्र अच्छा नहीं लगता है'—यह विनोक्ति है। 'कला से अभिराम पूर्ण मुख'—यह समासोक्ति है। '**अब्जेन सदृशं वक्त्रं हरिणाहित-सक्तिना**' यह श्लेषालंकार है।[1] 'नमस्ते चन्द्र, प्रसन्न हो ?–यह अप्रस्तुतप्रशंसा है। 'मुख का रोष दोष नहीं है, कलंकरेखा इन्दु की निन्दा के लिए नहीं होती है'—यह अर्थान्तरन्यास है।

इस प्रकार उपमा से लेकर अर्थान्तरन्यास तक के अलंकार (रुय्यक की सूची के अनुसार) उपमा-बीज के ही आतान-प्रतान हैं। इनमें एक-दो अलंकारों को छोड़कर सभी सादृश्यमूलक या औपम्यमूलक अलंकारों में परि-गणित होते हैं। ऊपर हमने जो उदाहरण दिए थे वे प्रायः सभी संजीविनी टीका के अनुसार थे। इनमें से एक-दो अलंकार वहाँ उदाहृत नहीं हैं।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने उपमा के अतिरिक्त अर्थान्तरन्यास तक के अलंकारों में उपमामूलकता का निरूपण किया है। हम उसे यहाँ अविकल उद्धृत कर रहे हैं।

मुखं चन्द्र इवेत्युपमा। मुखं मुखमिवेत्यनन्वयः। मुखं चन्द्र इव स तद्विवेत्युपमेयोपमा। दृष्ट्वा मुखं चन्द्रमनुस्मरामीति स्मरणम्। मुखमेव चन्द्र इति रूपकम्। मुखचन्द्रेण तापः शाम्यतीति परिणामः। किं चन्द्र आहोस्वित् पद्ममिति सन्देहः। चन्द्र इति चकोरा नन्दन्तीति भ्रान्तिमान्। चन्द्र एव न मुखमित्यपह्नुतिः। नूनं चन्द्र इवेत्युत्प्रेक्षा। चन्द्रं पश्येत्यतिशयोक्तिः। अस्यां प्रावृषि मुखं चन्द्रबिम्बं च विच्छायमित्येका तुल्ययोगिता। शरदि रम्यमिति त्वन्या। इदं च तच्च रमणीयमिति दीपकम्। मुखमेव रम्यं चन्द्र एव हृद्य इति प्रतिवस्तूपमा। भुवि मुखं दिवि चन्द्र इति दृष्टान्तः। मुखदूषणं चन्द्रमसो मलिनीकरणमिति निदर्शना। चन्द्रादधिकं मुखं, मुखादधिकश्चन्द्र इति च व्यति-रेकः। चन्द्रेण सह मुखमिति सहोक्तिः। न मुखेन विना चन्द्रः समीचीन इति विनोक्तिः। कलाभिरामं पूर्णं मुखमिति समासोक्तिः। कलाभिरामौ मुखचन्द्राविति श्लेषः। नमस्ते चन्द्र प्रसन्नोऽसीत्यप्रस्तुतप्रशंसा। मुखे रोषो न

---

१. अब्ज का अर्थ चन्द्र तथा कमल दोनों होते हैं। 'अप् से जात'—समुद्र से उत्पन्न—यह अर्थ चन्द्र का अभिधान करता है।

दोषः, नहीन्दोर्निन्दायै कलंकरेखेत्यर्थान्तरन्यासः। —संजी० पृ० ३९-४०।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने सादृश्यमूलक इस सूची में अलंकारों का क्रम सर्वस्व के अनुसार रखा है। उपर्युक्त सूची में उल्लेख, परिकर, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति तथा आक्षेप को छोड़ दिया गया है; उन्हें औपम्यमूलक अलंकारों के अन्तर्गत रखना श्रीविद्याचक्रवर्ती को अभीष्ट प्रतीत नहीं होता है।

अप्पय्यदीक्षित ने अलंकारों की इस उपमामूलकता का, श्रीविद्याचक्रवर्ती की भाँति, वर्णन किया है।[1] उन्होंने उल्लेख तथा प्रतीप को भी उपमामूलक सूची में रखा है। तथा परिकर, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति और आक्षेप को श्रीविद्याचक्रवर्ती की भाँति, सादृश्यमूलक नहीं माना है। सादृश्यमूलक अलंकारों की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद अब उपमालंकार का विवेचन करना उचित होगा।

उपमालंकार

उपमा प्रायः प्राचीनतम अलंकार है। सादृश्य का भाव बताने के लिए वेदों में उपमा शब्द का प्रयोग मिलता है। मैत्र्युपनिषद् में उपमा को अलंकार

---

१. चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा। सैवोक्तिभङ्गीभेदेनानेकालङ्कारभावं भजते। तथा हि—'चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः, इत्युपमेयोपमा। 'मुखं मुखमिव' इत्यनन्वयः। 'मुखमिव चन्द्रः' इति प्रतीपम्। 'चन्द्रं दृष्ट्वा मुखं स्मरामि' इति स्मरणम्। 'मुखमेव चन्द्रः' इति रूपकम्। 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति' इति परिणामः। 'किमिदं मुखमुताहो चन्द्रः' इति सन्देहः। 'चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनुधावन्ति' इति भ्रान्तिमान्। 'चन्द्र इति चकोराः कमलमिति चञ्चरीकास्त्वन्मुखे रज्यन्ति' इत्युल्लेखः। 'चन्द्रोऽयं न मुखम्' इत्यपह्नवः। 'नूनं चन्द्रः' इत्युत्प्रेक्षा। 'चन्द्रोऽयम्' इत्यतिशयोक्तिः। 'मुखेन चन्द्रकमले निर्जिते' इति तुल्ययोगिता। 'निशि चन्द्रस्त्वन्मुखं च हृष्यति' इति दीपकम्। 'त्वन्मुख एवाहं रज्यामि चन्द्र एव चकोरो रज्यते' इति प्रतिवस्तूपमा। 'दिवि चन्द्रो भुवि त्वन्मुखम्' इति दृष्टान्तः। 'मुखं चन्द्रश्रियं बिभर्ति' इति निदर्शना। 'निष्कलङ्कं मुखं चन्द्रादतिरिच्यते' इति व्यतिरेकः। 'त्वन्मुखेन समं चन्द्रो निशासु हृष्यति' इति सहोक्तिः। 'मुखं नेत्राङ्करुचिरं स्मितज्योत्स्नोपशोभितम्' इति समासोक्तिः। 'अब्जेन सदृशं वक्त्रं हरिणाहितसक्तिना' इति श्लेषः। 'मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः' इत्यप्रस्तुतप्रशंसा। एवमुक्तानेकालङ्कारविवर्तवतीयमुपमा। —चित्रमी० पृ० ६०

के रूप में माना गया है तथा इसके अनेक भेदों का भी निरूपण है। अलंकार-शास्त्र उपमा शब्द और उसके अर्थ के लिए वैयाकरणों का ऋणी है। उपमा के व्याकरण से प्रभावित अनेक भेदोपभेदों से यह बात समझी जा सकती है कि यास्क से लेकर आजतक के आलंकारिकों पर व्याकरण का कितना प्रभाव है।

रुय्यक का उपमा-लक्षण है—**उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेद-तुल्यत्वे उपमा।**

संस्कृत के आचार्य अपनी परिभाषाओं की पूर्णता का सदा ध्यान रखते आए हैं। रुय्यक के उपमा-लक्षण का प्रत्येक पद इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उनके लक्षण में चार पद हैं। प्रथम पद '**उपमानोपमेययोः**' न केवल अप्रतीत उपमान और उपमेय की व्यावृत्ति करता है अपितु वह इस बात का भी संकेत करता है कि उपमान और उपमेय दोनों का उपादान आवश्यक है। अनन्वय में उपमेय ही उपमान बन जाता है अतः उसकी व्यावृत्ति भी उपर्युक्त पद से होती है। साधर्म्य पद का उपादान उपमा को व्यतिरेक अलंकार से भिन्न करता है। साधर्म्य के तीन भेद हैं। एक में भेद प्रधान होता है जैसे कि व्यतिरेक में। कहीं अभेद प्रधान होता है जैसे कि रूपक में। उपमा में भेद और अभेद दोनों की प्रधानता होती है। '**भेदाभेदतुल्य**' पद इसी मान्यता का सूत्रण है।[1] सादृश्य वहीं होता है, जहाँ कुछ साधारण तत्त्व हों जो अभेद की प्रतीति करा सकें और कुछ असाधारण धर्म हों जो भेद का ज्ञान कराएँ। अन्तिम पद अलंकार का नाम सूचित करता है। रुय्यक से पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण निम्नलिखित हैं—

यत् किञ्चित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया॥

—ना० शा० १७।४४।

विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा॥

—भामहालंकार, २।३०।

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ३२। विद्याधर का उपमालक्षण रुय्यक का अनुवाद है, उसमें प्रत्येक पदों की चरितार्थता का विशेषतः निरूपण है। देखिए—एका० पृ० १९५-१९७।

यथाकथंचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपंचोऽयं निदर्श्यते ॥
—काव्यादर्श, २।१३ ।

यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः ।
मिथोविभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत् ॥
—का० अ० स० १।३२ ।

उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा ।
—का० अ० सू० वृ० ४।२।१ ।

उभयोः समानमेकं गुणादि सिद्धं भवेद् यथैकत्र ।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत् साध्यत इति सोपमा त्रेधा ॥
—का० अ० ८।४ ।

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः ।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता ॥—स० क० ४।५ ।

वस्तुतः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा । —व० जी० ।

साधर्म्यमुपमा भेदे । —का० प्र० ।

इन लक्षणों पर ध्यान देने से यह प्रतीत होगा कि उपमान या उपमेय अथवा दोनों शब्दों का प्रयोग, साधर्म्य, साम्य या सादृश्य का प्रयोग, इवादि का प्रयोग, दूसरे अंलकारों से भेदक शब्द 'भेदाभेदतुल्यत्वे' आदि का प्रयोग तथा चेतोहारि, हृद्य अथवा उसके पर्यायवाची वाक्यार्थोपस्कारक आदि शब्दों का प्रयोग (जिसकी प्रवृत्ति परवर्ती लक्षणों में अधिक है) लक्षणनिरूपण में किया जाता रहा है।[1] मेरा अपना अभिमत है कि जगन्नाथ प्रभृति जो आचार्य 'सुन्दर' या

---

१. विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों के उपमालक्षणों में भी यही बात चरितार्थ होती है। इनके लक्षण हैं—

स्वतःसिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः ।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकगोपमा ॥ —प्रतापरुद्र० ।
विलसति सति साधर्म्ये स्यादुपमानोपमेययोरुपमा । —एका० ।
साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः । —सा० द० ।
सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः । —रसग० पृ० २०४ ।

'वाक्यार्थोपस्कारक' शब्द का प्रयोग अंलकारत्व को बताने के लिये करते हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि सौन्दर्य तो सभी अंलकारों का समान तत्त्व है, अतः प्रत्येक में उसका प्रयोग अवाञ्छनीय है। उपमान के साधर्म्य को उपमालंकार कहा जाता है। समानधर्मों के सम्बन्ध को साधर्म्य कहते हैं (**समानेन धर्मेण सम्बन्धः**)। यह सम्बन्ध उपमान और उपमेय में ही सम्भव है। साधारण धर्म प्रतियोगी है जिसके स्वाभाविक अनुयोगी उपमेय तथा उपमान होंगे। इस प्रकार '**साधारणधर्मप्रतियोगिकः उपमानोपमेयोभयानुयोगिकः सम्बन्धः**' (का० प्र० झलकीकर, पृ० ५४१) यह साधर्म्य का स्वरूप है। अतः साधर्म्य शब्द का प्रयोग करने पर लक्षण में उपमानोपमेय पदों का प्रयोग क्या वाञ्छनीय है ? यह प्रश्न जयरथ तथा समुद्रबन्ध दोनों ने उठाया है।[1] उपमा के लक्षण में मम्मट ने इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया था।[2] रुय्यक इसका प्रयोग आवश्यक समझते हैं क्योंकि उपमा के लिए यह अपेक्षित है कि ऐसे उपमान तथा उपमेय का प्रयोग किया जाए जो उस रूप में प्रतीत या प्रसिद्ध हों। मुख के साथ कमल की तुलना दी जाती है। कमल प्रतीत उपमान है, कुमुद नहीं। अतः **कुमुदमिव मुखं तस्याः** उपमा का उदाहरण नहीं माना जा सकता है क्योंकि कुमुद की मुख के उपमान के रूप में प्रतीति सहृदय को नहीं हो पाती है। उपमान की अप्रतीति लिंगभेद द्वारा भी हो सकती है। उदाहरणतः बाण के '**कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृंखला इव**' (कादम्बरी, श्लोक संख्या ६) इस श्लोकार्ध में खल उपमेय है और उसका 'बन्धन-शृंखला' उपमान है। '**कटु क्वणन्**' साधारण धर्म है। उपमेय खल के साथ इस साधारण धर्म में लिंग-विपर्यय की आवश्यकता नहीं पड़ती है किन्तु उपमान बन्धन-शृंखला के साथ

---

१. **ननूपमानोपमेययोरेव साधर्म्यं सम्भवति न कार्यकारणादिकयोरिति किं तदुपादानेन ?** —वि० पृ० ३१।

ननु साधर्म्यं समानधर्मसम्बन्धः। सचोपमानोपमेययोरेव सम्भवति, न कार्य-कारणादिकयोरिति साधर्म्यमित्यनेनैव गतार्थत्वादुपमानोपमेययोरिति न निर्देष्टव्यम्। —समुद्र० पृ० २२।

२. **इन पदों के प्रयोग न करने का औचित्य मम्मट की इन पंक्तियों से जाना जा सकता है—**

'उपमानोपमेययोरेव नतु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवति... ।'

—का० प्र० दशम उल्लास।

इसमें लिंगभेद आवश्यक हो जाता है। 'क्वणन्तः' के स्थान पर बन्धनश्रृंखला की दृष्टि से 'क्वणन्त्यः' करना पड़ेगा। 'क्वणन्तः' के प्रयोग से लिंगभेद होता है। यह दोष उपमान की सहज प्रतीति में बाधक सिद्ध होता है। अतः इसे भी विमर्शिनी के अनुसार उपमा का सुन्दर उदाहरण नहीं माना जा सकता है। जगत् का प्रत्येक पदार्थ कविवर्णन का विषय बन सकता है पर सभी को उपमेय कह देना कदाचित् अनुचित होगा। जो वर्ण्य वर्णन की दृष्टि से अनुचित हो वह अप्रतीत रहता है क्योंकि सहृदय उसकी उपमेय रूप में अनुभूति नहीं कर पाता।[1] उपमालंकार ऐसे अप्रतीत, अनुचित तथा दोषग्रस्त उपमान और उपमेय के समानधर्माभिसम्बन्ध में नहीं माना जा सकता अतः उपमालक्षण में उपमान और उपमेय पदों का ग्रहण आवश्यक है।[2]

उपमानोपमेययोरित्यप्रतीतोपमानोपमेयनिषेधार्थम्।—अ० स० पृ० ३१।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रुय्यक के उपमा लक्षण को सदोष सिद्ध करते हुए अप्रतीत पद पर भी एक अर्थ में आपत्ति की है, उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि अप्रतीत का प्रयोग कितना आवश्यक था। वस्तुतः प्रतीत के सादृश्य का प्रत्यायन ही सादृश्य का प्रमुख कार्य है। अप्रतीत के प्रत्यायन का सौन्दर्य दूसरे वर्ग के अलंकारों में पाया जा सकता है किन्तु उपमामूलक अलंकारों में हम अप्रतीत का समादर नहीं कर सकते हैं।

उपमातत्त्व

उपमालंकार में उपमेय, उपमान, साधारण धर्म तथा उपमावाचक शब्द प्रमुख तत्त्व हैं। इन पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा। कतिपय आचार्य यह मानते हैं कि उपमान सदा उपमेय से अधिक या उत्कृष्ट गुण वाला होता है और उपमेय उसकी अपेक्षा हीन या निकृष्ट गुण वाला। मुख की उपमा चन्द्र से इसीलिये अभीष्ट होती है क्योंकि कदाचित् चन्द्र अधिक

---

१. उदाहरण के लिए देखिए—वि० पृ० ३१।

२. संजी० का उल्लेख भी इस सम्बन्ध में आवश्यक है—

.........प्रसिद्धयोरेवोपमानोपमेययोरलंकारविषयत्वमिति नियमाय। अतो मेरुसर्षपादौ विवक्षया परिकल्पयितुं शक्योऽप्युपमानोपमयेभावो नालंकारविषयः। —पृ० ३८।

शोभन है । आचार्य वामन ने उपमेय और उपमान की परिभाषा में यही बात व्यक्त की है—

उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम्, यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम् । —का० अ० सू० वृत्ति, पृ० ५४ ।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने भी यही मत व्यक्त किया है—

उपमिमीते साधर्म्यं नयतीत्युपमानमप्राकरणिकोऽर्थः । तच्च नियमेनाधिकगुणमेव भवति गुणाधातृत्वात् । उपमीयते साधर्म्यं नीयते इत्युपमेयं प्राकरणिकोऽर्थः । तच्च नियमेनाधेयगुणत्वान्न्यूनगुणमेव भवति । —संजी० पृ० ३८ ।

संजीविनीकार के अनुसार अप्राकरणिक अर्थ (उपमान) प्राकरणिक अर्थ में गुण का आधान करता है अतः वह नियमतः अधिक-गुण होता है और उपमेय सदा न्यून-गुण क्योंकि उसमें गुण का आधान होता है । वामन तथा श्रीविद्या-चक्रवर्ती का यह मत अनुचित है। उपमेय के लिए उपमान खोजने की मानसिक प्रक्रिया का यदि हम विश्लेषण करें तो यही प्रतीत होगा कि उपमेय में गुण का आधान करने के लिये कवि प्रवृत्त नहीं होता है अपितु वह तो अपने उपमेय का सदृश उपमान पाना चाहता है ताकि उपमेय को, उसके समग्र सौन्दर्य को बिम्बविधा से वह बता सके । कालिदास का विरही यक्ष जब अपनी प्रियतमा के रूपसौन्दर्य और भावसौन्दर्य के लिए उपमान खोजने की कल्पना करता है तो पहिले उसे श्यामा लताओं में अङ्ग का सादृश्य दिखाई पड़ता है, चकित-हरिणी के नेत्र में दृष्टिपात, चन्द्र में मुख की कान्ति, मयूरों के चित्र-विचित्र बर्हभार में केशपाश, नदी की तरल तरंगों में भ्रूविलास, पर अन्त में उसे अनुभूति होती कि इनका सादृश्य कहीं एक साथ नहीं मिला । कवि द्वारा सादृश्यविधान की इस प्रक्रिया और अन्ततः उसकी निराशा से स्पष्ट है कि वह उपमेय को न्यूनगुण मानकर नहीं चला है । वस्तुतः उसने जिस लावण्य और सम्पत्ति का साक्षात्कार किया था उसका विशदता के साथ प्रत्यायन उसे अभीष्ट है और यह कार्य वह विभिन्न उपमानों की कविता में करता है । उपमालंकार के अतिरिक्त दूसरे अलंकारों के विश्लेषण से तो यह बात और भी स्पष्ट लगती है । उपमेयोपमा को ही लें । यदि उपमान सचमुच उत्कृष्ट गुण वाले होते तो उपमेय को उपमान बनाने की कवि को क्या आवश्यकता थी । अस्तु, यही मानना होगा कि उपमेय की भाव-रूप-सम्पत्ति की सदृश धर्म के माध्यम से स्पष्ट अभिव्यक्ति और साक्षात्कार कराने के लिए ही उपमान प्रकल्पित होता है अतः उसे अधिक-गुण मान लेना नितान्त अनुचित है ।

कल्पितोपमा भी उपमा का ही एक भेद है। कतिपय आचार्य इसे भिन्न अलंकार मानते हैं।[1] उपमान के असंभावित होने पर असंभावितोपमा को भी एक भिन्न अलंकार माना गया है पर उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होजाएगा कि उपमान के ये सारे रूप उपमेय का साक्षात्कार कराने के लिए होते हैं अतः उनका थोड़ा बहुत भेद होने पर भी, उन्हें उपमा के भिन्न रूप मानने पर भी उपमा से पृथक् अलंकार मानना ठीक नहीं है।

वस्तुतः कल्पित अथवा असम्भावित उपमान तथा उपमेय में सादृश्य सम्भव है अतः कल्पितोपमा या असम्भावितोपमा को उपमा से भिन्न अलंकार मानना उचित नहीं है। उपमा में उपमान या उपमेय इन दोनों में से कोई कल्पित या असम्भावित नहीं होता इस आधार पर कल्पितोपमा या असम्भावितोपमा को भिन्न अलंकार मान लेने पर समुच्चितोपमा आदि को भी पृथक् अलंकार मानना पड़ेगा क्योंकि 'समुच्चय' आदि विशेषतत्त्व उनमें भी पाए जाते हैं। उपमा में द्वितीय सदृश की निवृत्ति नहीं होती और अनन्वय में वह होती है। दोनों में फलभेद है। इस आधार पर जैसे इन दो अलंकारों को भिन्न माना जाता है उसी प्रकार कल्पितोपमा में दूसरे उपमान का अभाव प्रतीत होता है क्योंकि इसमें उपमेय का ज्ञान उपमानगुणविशिष्ट रूप में होता है जो उपमा में नहीं होता। जयरथ के अनुसार इस प्रकार फलभेद की कल्पना उचित नहीं है क्योंकि उपमेय की प्रतीति उपमालंकार में उपमागुणविशिष्ट रूप में ही होती है अतः फलभेद नहीं माना जा सकता। और फिर जिस प्रकार दृढ़ारोप रूपक में विषय-विषयी का अभेद दृढ़ बताने के लिए उनमें से किसी एक के धर्म को अधिक या कम बताया जाता है पर प्रतीति अभेद की ही होती है इसी प्रकार कल्पितोपमा में भी प्रतीति सादृश्य की ही करानी होती है, चमत्कार उसी में होता है। हाँ, चूँकि इसमें साम्यदार्ढ्य का एक विशेष तत्त्व है, अतः इसे उपमा का भेद अवश्य माना जा सकता है। पर थोड़े से भेद को लेकर गाय को घोड़ा तो नहीं बता सकते। यही जयरथ का आलोचनापूर्ण प्रतिपादन है[2] जिसे

---

१. शोभाकर ने कल्पितोपमा को भिन्न अलंकार माना है 'कल्पितेन कल्पितोपमा' लक्षण के अनुसार काल्पनिक उपमान से उपमेय का काल्पनिक सादृश्य इसका लक्षण है। शोभाकर उपमेय का कल्पित होना नहीं मानते। विमर्शिनीकार के अनुसार दोनों काल्पनिक हो सकते हैं और उनमें से एक का काल्पनिक होना कल्पितोपमा होने के लिए पर्याप्त है।

२. देखिए—वि० पृ० ३६-३७।

पण्डितराज ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हुए अवान्तर विशेष वाले सभी प्रभेदों को सादृश्य-चमत्कार के सामान्य आधार पर उपमा का ही भेद माना है—

परे तु अस्याः कल्पितोपमाया उपमानान्तरभावफलकत्वेनालंकारान्तरतामाहुः। तन्न। सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमान्तर्भावस्यैवोचितत्वात्। संनिरूपितत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावात्। उपमानान्तराभावफलकत्वं ह्युपमाविशेषत्वे साधकम् नतूपमाबहिर्भावे। —रसग०, पृ० १५८।

उपमान तथा उपमेय के सम्बन्ध में अन्त में एक दो बात कहना और आवश्यक है। एक तो यह कि इन दोनों को भिन्न होना आवश्यक है। रुय्यक के लक्षण में उपमेय और उपमान पदों का पृथग् उपादान तथा समस्यन्त पद में द्विवचन का प्रयोग इसी बात की ओर इंगित करता है। उद्भट के '**मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोः**' का यही अभिप्राय है।[1] कतिपय आलंकारिक इस भिन्नता के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि उपमान और उपमेय में सामान्य-विशेषभाव न हो क्योंकि उसके होने पर इनमें भेदाभेद की प्रतीति होगी और सादृश्य के लिए भेद होना आवश्यक है।

साधारण धर्म

धर्म का अर्थ है किसी पदार्थ में रहने वाला गुण। धर्म सदा पराश्रित होता है उसकी स्वतः स्थिति होती है पर पृथग् स्थिति नहीं होती है। 'धर्म' को साधारण इसलिए कहते हैं क्योंकि यह उपमेय तथा उपमान दोनों में समान रूप से रहता है। जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य के रूप में धर्म या धर्मी चार प्रकार का होता है। कोई भी धर्मी धर्म बन सकता है और कोई भी धर्म धर्मी। जो आश्रय है वह धर्मी है तथा जो आश्रयी है वह धर्म—

धर्मिधर्मभावस्याश्रयाश्रयिभावेन भावात्। —वि० पृ० ३२।

कुछ आलंकारिक जैसे कि शोभाकर साधारण धर्म को वैशेषिक दर्शन के अनुसार भाव तथा अभाव के रूप में दो प्रकार का मानते हैं। भावरूप साधारण धर्म उनके अनुसार जाति, गुण, क्रिया, समवाय तथा विशेष इन पाँच

---

१. **गौरिवायं गौरित्यमिधाने तु न प्रवृत्तिनिमित्तभेदः गोत्वस्यैवैकस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् तेनैवंविध उपमानोपमेयभावो न भवति।**—लघुवृत्ति, पृ० १६-२० तथा देखिए—काव्यानु० पृ० २८७।

भेदों में बांटा जा सकता है। उनके अनुसार जाति साधारणधर्म है अवश्य, पर वह सादृश्य का निमित्त नहीं बन सकता। सादृश्य के लिए तरतमरूप विशेष का होना आवश्यक है। जाति या सामान्य एक ऐसा साधारणधर्म है जो इस तरतम को समाप्त कर एकत्व (सामान्य) की प्रतिष्ठा करता है। यह मत उचित नहीं। जहाँ जातिरूप साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बरूप में निर्देश होता है, वहाँ वह सादृश्य का निमित्त बन सकता है। समवाय तथा विशेष को साधारण धर्म माना गया है किन्तु इन दोनों के नित्यपरोक्ष होने के नाते इन्हें काव्यांग नहीं माना जा सकता। विशेष (**अन्त्यो निव्यद्रव्यवृत्ति-विशेषः**) एक ऐसा पदार्थ है जो पदार्थों को एक दूसरे से तथा अपने को भी व्यावृत्त करता है। अतः उसे साधारण धर्म मानना अनुचित है। इसी प्रकार समवाय, जिसका कुछ नैयायिक प्रत्यक्ष भी मानते हैं, एक है।[1] उसे भी जाति की भाँति सादृश्य का निमित्त नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार वैशेषिक-मतानुयायी आलंकारिकों के अनुसार भावरूप साधारण धर्म दो प्रकार का है गुण तथा क्रियारूप। शोभाकर ने इसमें धर्ममात्र को भी सम्मिलित किया है।[2] अभावरूप साधारण धर्म को मिलाकर चार प्रकार के साधारण धर्म होंगे। वस्तुतः वैशेषिक प्रक्रिया का यह अहेतुक अनुसरण अनुचित है। भावाभावरूप में विभाजन चमत्कारी नहीं है। रुय्यक ने इसीलिए केवल भावरूप साधारण धर्मों के आधार पर सादृश्य का निर्देश अपने सभी उदाहरणों में किया है। गुण और क्रिया को सभी ने साधारण धर्म माना है। जाति को साधारण धर्म मानने का निरूपण अभी किया जा चुका है। द्रव्य धर्मी तो है ही, पर कोई भी धर्मी दूसरे धर्मी की दृष्टि से साधारण धर्म बन सकता है अतः इसे भी साधारण धर्म मानना उचित होगा। इसी आधार पर किसी को धर्ममात्र कहना असंगत है। विमर्शिनीकार का इस सम्बन्ध में आलोचनापूर्ण मन्तव्य उल्लेखनीय है—

......धर्मधर्मिभावस्य न वास्तवत्वम्। जात्याद्यात्मनो धर्मिणोऽपि

---

१. **समवायस्त्वेक एव—तर्कसंग्रह।**

२. **गुणादेर्धर्ममात्रं साधारणं चारुत्वाचारुत्वादिवदस्त्येव। तस्य च क्वचिद् द्रव्यवर्तित्वेऽपि न गुणत्वम्। गुणानां परिगणितत्वात् गुणक्रियावृत्तित्वाच्च। एवं गुणः क्रिया धर्ममात्रमिति त्रिविधो भावरूपः समानो धर्मः।**

—अ० र० पृ० ६।

कदाचिदन्याश्रितत्वे धर्मत्वात् । एवं च तदतिरिक्तं धर्ममात्रमपि साधारणं किंचिद् न वाच्यम् । —वि० पृ० ३२ ।

धर्म तथा धर्मी के इन चारों रूपों के दो उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा ।

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥—रघुवंश, १३ ।

यहाँ 'विभक्त' क्रियापद क्रियारूप धर्म का, 'राम', 'सेतु', 'छायापथ' द्रव्यरूप धर्म के, फेन और तारक जाति रूप धर्म के तथा 'प्रसाद' गुण रूप धर्म के वाचक शब्द हैं ।जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य रूप धर्मी का उदाहरण निम्नलिखित है—

घनोद्यानच्छायामिवमरुपथाद्दावदहना-
तुषाराम्भोवापीमिव विषविपाकादिव सुधाम् ।
प्रवृद्धादुन्मादात् प्रकृतिमिव निस्तीर्य विरहा-
ल्लभेय त्वद्भक्तिं निरुपमरसां शंकर कदा ॥
—वि० पृ० ३२-३ ।

इस श्लोक में छाया, वापी, सुधा तथा प्रकृति उपमान हैं जो जात्यादि-रूप हैं । मरुपथ, दावाग्नि, विषविपाक तथा उन्माद उपमेय हैं । उन्हें भी इन्हीं चार रूपों में विभाजित किया जा सकता है; समग्र वाग्विवर्त उसी में आता है—

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः । —महाभाष्य ।

साधारण धर्म का त्रिविध निर्देश

साधारण धर्म का निर्देश तीन रूपों में किया जा सकता है—अनुगामी रूप में, वस्तुप्रतिवस्तुभाव के रूप में तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के रूप में । जब साधारण धर्म उपमेय तथा उपमान में एक रूप से रहता है तो उसे अनुगामी कहते हैं । साधारण धर्म एक होने पर भी विभिन्न वाक्यों में भिन्न-भिन्न शब्दों से निर्दिष्ट रहता है तो उसे वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहा जाता है । यदि उपमेय-वाक्य तथा उपमान-वाक्य में धर्म भिन्न-भिन्न हो तो वह बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव कहलाता है ।[1] रुय्यक ने इस आधार पर उपमा तथा अन्य अनेक

---

१. वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के कुछ प्रसिद्ध लक्षण इस प्रकार हैं—
एकस्यैव धर्मस्य वारद्वयमुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः ।
भिन्नयोरेकधर्मयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः ।—एका० पृ० २०५ ।

अलंकारों के भेद किए हैं जिनका उपबृंहण जयरथ ने किया है ।[1] सर्वस्व के सभी टीकाकार इस बात पर सहमत हैं कि रुय्यक ने ही सर्वप्रथम उपमा के इन तीन भेदों की उद्भावना की है ।[2] जयरथ ने रुय्यक के सिद्धान्तसूत्र को लेकर प्रायः सभी सादृश्यालंकारों में साधारण धर्म के इस त्रैविध्य पर आधारित भेदों का सोदाहरण विवेचन किया है ।[3] साधारण धर्म का दो प्रकार से निर्देश सम्भव है ।[4] एकबार (सकृत्) और अलग-अलग (पृथक् या असकृत्) । पहले को ऐक्यरूपेण या अनुगामितया निर्देश भी कहा जा सकता है । दूसरे को रुय्यक ने वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथक् निर्देश कहा है । इसमें साधारण धर्म का जब दो बार निर्देश होता है तो या तो उन दोनों में शाब्दिक भेद होगा या वास्तविक भेद । जहाँ केवल शाब्दिक भेद होता है वहाँ साधारण धर्म भिन्न इसलिए मालूम पड़ते हैं क्योंकि उनके सम्बन्धी भिन्न होते हैं । जहाँ वास्तविक भेद या स्वरूपभेद होता है वहाँ वस्तुतः उन दोनों साधारण धर्मों में किसी प्रकार की एकता नहीं होती है, किन्तु सादृश्यप्रत्यायन की इच्छा या कविविवक्षा उनमें एकता का प्रत्यायन करती है । जगन्नाथ ने बिम्बप्रतिबिम्बभाव को इसीलिए सादृश्यमूलक अभेदाध्यवसाय कहा है क्योंकि इसमें भेद होने पर भी अभेद का अभिमान होता है ।

एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः । वस्तुतो भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः । —चित्रमी० पृ० २१ ।

तथा—

वस्तुतो भिन्नयोरप्युपमानोपमेयधर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नयोः पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः । —कुवलया० पृ० ४ ।

१. संजीविनी के अनुसार उपमा के पूर्णा, लुप्ता आदि भेदों का भी अन्तर्भाव इन्हीं तीन भेदों में किया जा सकता है—

या यावती सम्भवत्युपमा पूर्णा लुप्ता च सप्रभेदप्रपञ्चा सा सर्वैवास्मद्दर्शितेन वैचित्र्यत्रयेण त्रिधा प्रथते । —संजी०, पृ० ४१ ।

२. यथासम्भवं प्रकारत्रैविध्यमन्यैरप्रदर्शितं दर्शयति...। —समुद्र० पृ० २४ ।

३. एतच्च भेदत्रयं प्रायः सर्वेषामेव सादृश्याश्रयाणामलंकाराणां जीवितभूतत्वेन सम्भवतीत्यग्रत एव तत्र तत्रोदाहरिष्यामः । —वि० पृ० ३४ ।

४. देखिए—अ० स० पृ० ३३ ।

उपमेयगतानामुपमानगतानां चासाधारणानामपि धर्माणां सादृश्यमूलेनाभेदाध्यवसायेन साधारणत्वकल्पनादुपमासिद्धिः। ......अयमेव बिम्बप्रतिबिम्बभाव इति प्राचीनैरभिधीयते। —रसग० पृ० १५९।

मेरी दृष्टि में वस्तुप्रतिवस्तुभाव में भी यह भेद कभी कभी होता है। चन्द्र का लावण्य तथा मुख का लावण्य भले ही एक शब्द द्वारा कहा जाए पर कोई भी यह मानने को तैयार न होगा कि दोनों लावण्य एक ही हैं। जहाँ साधारण धर्मों का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है वहाँ तो उनमें अर्थसाम्य की एकता नहीं होती है।

तीनों के उदाहरण

'मुखं चन्द्र इव हृद्यम्' में हृद्यत्व साधारण धर्म है। इसमें एकबार एक ही रूप में हृद्यत्व का निर्देश है। कालिदास द्वारा उमा के वर्णन में—

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥

इस पद्य में 'पूतत्व' तथा 'विभूषितत्व' दो साधारण धर्म हैं जिनका समानरूप से उपमेय तथा उपमान से सम्बन्ध है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि यद्यपि धर्मी भी दूसरे धर्मी की दृष्टि से धर्म बन सकता है, किन्तु इस प्रथम भेद में ऐक्यरूपेण निर्देश धर्म का ही किया जा सकता है, धर्मी का नहीं—

तत्रैकरूप्येण निर्देशो धर्मरूपस्यैव। —समुद्र० पृ० २४।

भवभूति (मालतीमाधव) का—

यान्त्या मुहुर्बलितकन्धरमाननं तद्, आवृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्याः, गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः॥

यह पद्य वस्तुप्रतिवस्तुभाव का उदाहरण है। 'वलित' और 'आवृत्त' दोनों का अर्थ 'मुड़ी हुई' है। इन दो साधारण धर्मों का विभिन्न शब्दों से पृथक् निर्देश हुआ है। यद्यपि दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं किन्तु उनमें अपने सम्बन्धी 'कन्धरा' तथा 'वृन्त' की दृष्टि से कुछ भेद है ही उसी प्रकार जैसे 'चन्द्रसौन्दर्य' और 'मुखलावण्य' में। दूसरे शब्दों में वस्तुप्रतिवस्तुभाव में साधारण धर्म में भेद उपमेय और उपमान की दृष्टि से आता है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव सदा दो धर्मों या दो धर्मियों में होता है, धर्म और धर्मी में नहीं होता। अप्पय्यदीक्षित के अनुसार वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्ध रूप से न होकर केवल बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेषण तथा विशेष्य के रूप में रहता है।

स तु शुद्धो न संभवति। किन्तु विशेषणतया विशेष्यतया वा सर्वत्र बिम्बप्रतिबिम्बकरम्बितः। —चित्रमी० पृ० २१।

उपर्युक्त उदाहरण में 'वलितत्व', 'आवृत्तत्व' धर्मों में तो वस्तुप्रतिवस्तुभाव है, किन्तु उनके धर्मी 'आनन' तथा 'शतपत्र' में आपस में बिम्बप्रतिबिम्बभाव हैं। दीक्षित के अनुसार यहाँ वस्तुप्रतिवस्तुभाव विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है।

अत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्दिष्टयोः कन्धरावृन्तयोर्वलितावृत्तशब्दाभ्यामेक एक धर्मो विशेषणतया निर्दिष्टः। —वहीं, पृ० २२।

पर वस्तुतः वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्धरूप से भी हो सकता है।

विमलं वदनं तस्या निष्कलंकमृगांकति। —रसग०, पृ० १७५।

यहाँ वदन का सादृश्य मृगांक से दिखाया गया है। वदन में वैमल्य है तथा मृगांक में निष्कलंकता। इन दोनों में अन्तर केवल शब्दों का है; अर्थ दोनों का एक ही है। अतः इनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव न होकर वस्तुप्रतिवस्तुभाव है और इसी के द्वारा वदन का मृगांक से सादृश्य दिखाया गया है। रसगंगाधरकार का भी यही मत है।[1] बिम्बप्रतिबिम्बभाव के विशेष्यरूप में प्रयुक्त वस्तुप्रतिवस्तुभाव का उदाहरण है—

सा तेन जगृहे साध्वी हठात् साध्वसकम्पिता।
वानरेणातिलोलेन वाताधूतेव वल्लरी॥
—चित्रमी०, पृ० २२।

यहाँ साध्वी का सादृश्य वल्लरी से दिखाया गया है। वल्लरी तथा 'वात' में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। तथा कम्पितत्व और धूतत्व में वस्तुप्रतिवस्तुभाव। यह वस्तुप्रतिवस्तुभाव बिम्बप्रतिबिम्बभाव का विशेष्य है।

बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण है—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्तांगरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः।
—अ० स०, पृ० ३४।

यहाँ पाण्ड्य को अद्रिराज के सदृश बताया गया है। पाण्ड्य में हार तथा अंगराग धर्म हैं, तथा अद्रिराज के निर्झर और बालातप ये साधारण धर्म

---

१. देखिए—रसग०, पृ० १७५।

असकृदुपात्त हैं तथा इन दोनों में स्वरूपभेद है। एक बिम्ब है, दूसरा प्रतिबिम्ब। यदि वस्तुत: इन दोनों धर्मों में सर्वथा भेद है तो इनके आधार पर सादृश्य कैसे माना जा सकता है और इन्हें साधारण धर्म ही कैसे कहा जा सकता है क्योंकि साधारण धर्म तो तदतद्गामी होता है। उपमा का जीवातु है साधर्म्य पर कहीं भी कोई दो वस्तु एक नहीं होती हैं। पर प्रातीतिक एकता दो भिन्न पदार्थों में भी मानी जा सकती है। कवि हार तथा निर्झर इन दो भिन्न धर्मों का निर्देश कर, उपमेय तथा उपमान के परस्पर औपम्य की प्रतिपत्ति के लिए इन दोनों को एक बताना चाहता है। भेद होने पर भी उस की विवक्षा अभेद में है। बिम्ब प्रतिबिम्ब से भिन्न है, किन्तु मानव दर्पण में अपने मुख को देखकर उसे अपना ही प्रतिबिम्ब मानता है। प्रतिबिम्ब को देखकर उसे कृश या स्थूल होने पर दुख-सुख की अनुभूति होती है। दूसरी वस्तुओं के साथ मानव द्वारा यह स्वात्मा का 'अभिमान' जगत् का अविरत गतिचक्र है। शंकर ने इसे अध्यास कहा। शैव दार्शनिक इसे अभिष्वंग या राग कहेगा, सांख्य इसे पुरुष का अहंभाव कहेगा और आलंकारिक इस अभेदाभिमान को प्रातीतिक एकता या कवि की अभेदविवक्षा बतलाता है। दुनिया भ्रम में अनजाने पड़ी है, कवि जानबूझ कर पड़ता है। यही है लोक तथा काव्य का अन्तर। जगत् का कार्य प्रतिबिम्ब को बिम्ब मानकर चलता है। अपने दर्पण में पड़े कण्ठ-प्रतिबिम्ब को देख कामिनी हार पहिनती है, केशों में कुसुम सजोती है। कवि भी कल्पना की भूमि में 'पाण्डच' और 'अद्रिराज' को एक समझता है; अभेद की प्रतीति उसका प्राण ठहरा।

ततश्च धर्मयोर्वस्तुतो भेदेऽपि प्रतीतावेकतावसायाद्भेदेऽप्यभेदः एवं चात्राभेदविवक्षैव जीवितम्। —वि० पृ० ३५-३६।

'पाण्ड्योऽयमंसार्पित...' को लेकर आलंकारिकों में एक विवाद चल पड़ा है। अलंकारसारकार (जिनका ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है) का कहना है कि इस पद्य में पाण्डच अद्रिराज की भाँति अंगराग उपमेय तथा बालातपउपमान हैं और गम्यमान धवलता उनका साधारण धर्म है। इस प्रकार धर्मों में भी उपमानोपमेयभाव है और वह बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक है। जहाँ तक धर्मों के बिम्बप्रतिबिम्बभाव का प्रश्न है मैं अलंकारसार की धारणा से सहमत हूं, किन्तु उपमान और उपमेय होने पर भी पाण्डच और अद्रिराज की दृष्टि से इन्हें साधारण धर्म मानना आवश्यक है। साथ ही यह भुलाना न चाहिए कि यहाँ कवि को पाण्डच तथा अद्रिराज का औपम्य विवक्षित है। अंगराग तथा बालातप की समानधर्मिता अपेक्षित है, किन्तु उनका उपमानोपमेयभाव अप्रासंगिक होने के नाते

इस पद्य को धर्मी (पाण्ड्य तथा अद्रिराज) की दृष्टि से बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण मानना अधिक प्रासंगिक है, संभवतः इसीलिए रुय्यक ने 'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धर' (पृ० ३६) में बिम्बप्रतिबिम्बभाव बताने के बाद भी एक और स्पष्ट उदाहरण देना (असंकीर्णप्रकटनाशयेन, वि०, पृ० ३४) आवश्यक समझा था ताकि यह बताया जा सके कि बिम्बप्रतिबिम्बभाव दो धर्मों में ही नहीं अपितु दो धर्मियों में भी होता है। मम्मट,[1] विमर्शिनीकार, संजीविनीकार और समुद्रबन्ध में इस निष्कर्ष का समर्थन मिलता है।

वस्तुप्रतिवस्तुभावोऽयं धर्मापेक्ष एव। बिम्बप्रतिबिम्बभावस्तु धर्म्यपेक्षः।

—संजी०, पृ० ४३।

बिम्बप्रतिबिम्बभावो मिथः सादृश्यम्, अयन्तु धर्मधर्मिणोरुभयोरपि भवति।

—समुद्र०, पृ० २५।

दो धर्मियों में आपस में बिम्बप्रतिबिम्बभाव सम्भव है। वाक्यार्थोपमा में भी दो धर्मियों का साम्य निर्दिष्ट रहता है फिर बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक उपमा और वाक्यार्थोपमा में क्या भेद है? जयरथ ने इन दोनों का विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि वाक्यार्थोपमा में धर्मी परस्पर सम्बद्ध रहते हैं और उन परस्पर सम्बद्ध धर्मियों का उसी प्रकार के धर्मियों से जब साम्य होता है तो वाक्यार्थोपमा होती है।[2]

जनयित्र्याः कुलाल्याश्च रक्षित्र्या विदितोऽभवत्।
रत्नसूतेर्भुजंग्याश्च प्रच्छन्न इव शेवधिः॥

—वि० पृ० ३४।

वाक्यार्थ के विश्लेषण से इसमें जनयित्री (जननी) तथा रत्नसूति उपमेय तथा उपमान मालूम पड़ते हैं दोनों ही धर्मी हैं जो आपस में सम्बन्धित हैं। यह धर्मी का परस्पर साम्य है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव ऐसे धर्मों का होता है जो धर्मी में वैशिष्ट्य का आधान करने के लिए उन्मुख होते हैं।

बिम्बप्रतिबिम्बभावो पुनर्धर्मविशेषप्रतिपादनोन्मुखानां धर्माणां भवति।

—वि० पृ० ३५।

---

१. मम्मट के 'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्' की व्याख्याएं देखिए।

२. सा चानेकेषां धर्मिणां परस्परावच्छिन्नानां तादृशैरेव धर्मिभिः साम्ये भवति......। —वि० पृ० ३४।

उदाहरणतः 'पाण्ड्योऽमंसार्पित'—पद्य में हार तथा अंगराग का उपादान इन्दुमतीप्रेम के आलम्बन विभाव पाण्डच में वैशिष्टच लाने के लिए किया गया है। अद्रिराज के बालातप तथा निर्झर धर्मों की पाण्डच में वैशिष्टच-प्रतीति कराने के लिए उत्सुक हार तथा अंगराग के साथ बिम्बप्रतिबिम्बभाव है अतः बिम्बप्रतिबिम्बभाव धर्मों का होता है, वाक्यार्थोपमा धर्मियों के परस्पर साम्य में होती है। जहाँ तक बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक उपमा तथा धर्मसाम्यमूलक वाक्यार्थोपमा के अन्तर बताने का प्रश्न है, विमर्शिनी का यह प्रतिपादन उचित है किन्तु बिम्बप्रतिबिम्बभाव को केवल धर्मों में मानना उचित नहीं। विमर्शिनी-कार ने भी दृष्टान्तप्रकरण में यह स्वीकार किया है—

अतश्च धर्माणां धर्मिणां च बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्देशेऽयमलंकारः।
—वि० पृ० ९६।

बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्दिष्ट साधारण धर्म दो प्रकार का हो सकता है, सादृश्य-निर्वाहक तथा तदुत्कर्षक—

तस्मात् कश्चिद्धर्मः सादृश्यनिर्वाहकः कश्चित्तु तदुत्कर्षकः।
—अलंकारकौस्तुभ, पृ० ४७।

उपर्युक्त उदाहरण में यह सादृश्यनिर्वाहक है क्योंकि पाण्डच तथा अद्रिराज का सादृश्य अन्य किसी प्रकार से संगत नहीं।

अप्पय्यदीक्षित अनुगामी साधारण धर्मों के अतिरिक्त बिम्बप्रतिबिम्ब-भावादि से निर्दिष्ट अन्य साधारण धर्मों को केवल वाच्य मानते हैं अतः उनके अनुसार बिम्बप्रतिबिम्बभाव अर्थगम्य नहीं हो सकता। वस्तुतः बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका शब्द द्वारा उपादान हो, वह-अर्थगम्य भी हो सकता है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव के समान सादृश्यनिर्वाहक तथा सादृश्योत्कर्षक भेद से दो प्रकार का माना जा सकता है।

रुय्यक के साधारण धर्म के त्रैविध्य को विद्यानाथ, विद्याधर तथा विश्वनाथ आदि ने स्वीकार किया है। अप्पय्यदीक्षित ने इस त्रैविध्य के अतिरिक्त साधारण धर्म के अन्य भेद भी माने हैं। ये श्लेष, उपचार तथा समास हैं।[1] श्लेष को सभी स्थितियों में (विशेषकर केवल शब्दसाम्य की

१. देखिए—चित्रमीमांसा, पृ० २१।

स्थिति में) सादृश्य का आधार मानना मेरी दृष्टि में अनुचित है। उपचार के द्वारा उपमेय तथा उपमान में सादृश्य सम्भव है। विकास यद्यपि कमल का धर्म है पर उसका वर्णन नेत्रविकास में होता है। गौणी लक्षणा सादृश्यमूला होती है, अतः उस पर आधारित भेद सादृश्य के प्रत्यायक हो सकते हैं। समासभेद तभी सादृश्य का आधार माना जाना चाहिए जब कि उसमें अर्थसम्बन्धी सादृश्य हो। केवल शब्दसादृश्य को लेकर समासभेद को प्रत्येक दशा में सादृश्य का आधार मानना उचित नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने साधारण धर्म के इन तीनों भेदों तथा उनके उपभेदों के अतिरिक्त उपचरित तथा केवलशब्दात्मक धर्म के आधार पर भी उपमा के भेद माने हैं।

तत्र क्वचिदनुगाम्येव धर्मः, क्वचिदसन्नप्युपचरितः, क्वचिच्च केवल-शब्दात्मकः। —रसग०, पृ० १७४।

तथा—

तृतीयोऽपि त्रिविधः—विशेषणमात्रयोर्विशेष्यमात्रयोस्तद्युगलयोर्वा वस्तु-प्रतिवस्तुभावेन करम्बितः। —वहीं।

इन भेदों के सम्बन्ध में, जिसका अन्यत्र सूक्ष्म प्रतिपादन इन आचार्यों ने किया है, मेरा केवल इतना निवेदन अवश्य है कि जहाँ केवल शाब्दिक साम्य हो, विशेषण, उपचार, समास आदि के शाब्द आधार पर ही जहां साम्य दिखाई पड़ता हो उसे औपम्य की कल्पना में स्वीकार करना उचित नहीं। शब्द-साम्य का समग्र सौन्दर्य शब्दालंकारों के वर्ग में ही रखना चाहिए। अस्तु, जबतक अर्थ द्वारा उत्पन्न, शब्द उसमें निश्चित ही सहायक होगा, सादृश्य प्रतीति का विषय न बनें तब तक अर्थालंकार उपमा आदि मानना उचित नहीं है। इसी आधार पर श्लेष, उपचार, समास आदि के भेदों पर आपाततः शब्दोत्पादित साम्य में मैं उपमा आदि अर्थालंकार मानना अनुचित समझता हूँ।

उपमालक्षण की वृत्ति में सर्वस्वकार ने **'अर्थालंकारप्रकरणमिदम्'**[1] लिखकर तथा श्लेषप्रकरण में **'न गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यमुपमाप्रयोजकम्'** कहकर यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि शब्दसाम्य को उपमा-सादृश्य का

---

१. **समुद्रबन्ध की इस पर व्याख्या उल्लेख्य है—**

अर्थालंकारप्रकरणमिदमित्यनेनोपमादेर्भोजेनोक्तमुभयालंकारत्वं, शब्दसाम्ये रुद्रटस्याभिमतं शब्दालंकारत्वमर्थश्लेषादेश्च काव्यप्रकाशकारोक्तं शब्दा-लंकारत्वं च निरस्यति। —समुद्र०, पृ० २३।

प्रयोजक मानना अनुचित है। रुय्यक की इस मान्यता का अनुसरण करते हुए विद्यानाथ ने उपमा की परिभाषा में 'धर्मतः' शब्द का सन्निवेश किया है। धर्मतः पद की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—

धर्मत इत्यनेन श्लेषालंकारवैलक्षण्यम्। श्लेषे शब्दसाम्यमात्रमभ्युपगतं न गुणक्रियासाम्यम्। —प्रताप०, पृ० २५५।

इसी प्रकार प्राचीन आचार्य भामह, वामन आदि द्वारा उपमालक्षण में 'गुणलेश' शब्द का सन्निवेश इस बात का द्योतक है कि केवल शब्द-साम्य के आधार पर सादृश्य सम्भव नहीं है।

उपमावाचक

उपमा का तीसरा तत्त्व है—प्रतिपादक, द्योतक या वाचक शब्द जैसे कि 'इव', 'यथा', 'वा', 'तुल्यादि'। इन शब्दों की उपस्थिति से उपमान की उपमानतया प्रतीति सहज सम्भव हो जाती है अतः द्योतक शब्दों को उपमानविशेषण कहा गया है—**उपमानं उपमानतया विशिषन्ति व्यवच्छिन्दन्ति।**[1] इन्हें उपमान का भेदक भी कहा जा सकता है। वस्तुतः द्योतक शब्दों का साक्षात् सम्बन्ध उपमान से ही होता है, जिनसे उपमा श्रौती या शाब्दी कहलाती है।

यथेवैवादयो हि शब्दाः यतः पराः श्रयून्ते तस्यैव शब्दस्यार्थ उपमानतया नियमेन प्रतीयत इति उपमानस्यैव भेदका एते, उपमेयाभिसंबंधस्त्वार्थ इति यद्यपि प्रतिभासस्तथापि साधर्म्यस्यैकत्वात् शब्देनैव साधर्म्यं प्रतिपादयन्ति।
—सम्प्रदाय०, पृ० २५३।

जिस प्रकार षष्ठी विभक्ति दो में विद्यमान सम्बन्ध को सुनते ही बता देती है उसी प्रकार इव, वा शब्द उपमेय और उपमान के सम्बन्ध को स्वभावतः सुनते ही बता देते हैं। इस सम्बन्ध में एक श्लोक है—

भेदकत्वेऽपि नियते षष्ठीवदिववादयः।
द्विष्ठं श्रुत्यैव सम्बन्धं गमयन्ति स्वभावतः॥ —वहीं।

इव के अर्थ में जहाँ पाणिनि के सूत्र (तत्र तस्येव, ५-१-११६) के अनुसार वति होता है वहाँ भी उपमा को श्रौती ही माना जाता है किन्तु तुल्य आदि उपमाप्रतिपादक शब्दों के प्रयोग में जहाँ इन शब्दों का नियमतः किसीएक का विशेषण होना नहीं पाया जाता है वहाँ उपमा को आर्थी माना जाता है। 'तेनेदं

---

१. देखिए—सा० चू० पृ० २५३।

तुल्यम्', 'तत् तुल्यमस्य' तथा 'इदं च तच्च तुल्यम्' तुल्य शब्द से इन तीन प्रकार के प्रयोगों में तुल्य शब्द क्रमशः उपमेय, उपमान तथा उभय के विशेषणरूप में आया हैं अतः तुल्य, सदृश, सन्निभ आदि ऐसे उपमावाचक शब्द हैं जो नियमतः किसी के विशेषण नहीं होते हैं अतएव इनके द्वारा औपम्य की प्रतीति शाब्द न मानकर आर्थ ही मानी जाती है। इन शब्दों का दण्डी ने सविस्तार उल्लेख किया हैं।[1]

भेदोपभेद

उपमा के तीनों तत्त्व (१) उपमान-उपमेय (२) साधारण धर्म तथा (३) द्योतक शब्द का जब निर्देश होता है तो पूर्णोपमा होती है।

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाद्योतकानामुपादाने पूर्णा।

—समुद्र० पृ० २२।

इनमें से किसी के निर्देश न रहने पर लुप्ता।[2] पूर्णा, लुप्ता आदि उपमा के अनेक भेदोपभेद भरत से लेकर अर्वाचीनतम आलंकारिकों ने किए हैं।

अस्याश्च पूर्णालुप्तात्वभेदाच्चिरन्तनैर्बहुधित्वमुक्तम्।

—अ० स० पृ० ३३।

किन्तु इन भेदोपभेदों का उपबृंहण रुय्यक ने उचित न समझा था।[3] सम्भवतः यह सभी भेदजाल साधारण धर्म के त्रिविध वैचित्र्य की चारुता से बढ़कर नहीं है। इनकी गणना में कोई वैचित्र्य या मौलिकता के लिए स्थान भी नहीं है कदाचित् इसीलिए रुय्यक ने भेदोपभेद की चर्चा नहीं की है—

एवं चैतेषां गणने तथा न वैचित्र्यं किञ्चित्। —वि० पृ० ३३।

उपमा के भेदोपभेद का इतिहास भरत से ही प्रारम्भ हो गया था। उस सारे इतिहास या उसके स्वरूप की चर्चा मुझे नहीं करनी है तथापि रुय्यक से पूर्व तक का कुछ उल्लेख कदाचित् आवश्यक है ताकि हम उपमा-प्रपंच की रूपरेखा से थोड़ा बहुत परिचित हो सकें जो दूसरे अलंकारों का विकास समझने के लिए उपयोगी है। भरत ने प्रशंसा०, निन्दा०, कल्पिता०,

---

१. काव्यादर्श, २५७-६५।

२. एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता। —समुद्र० पृ० २३।

३. अतश्च किमस्माकं तदाविष्करणेन। —वि० पृ० ३३।

सदृशी० तथा किंचित् सदृशी० के भेद से उपमा को पाँच प्रकार का माना था।[1] भामह ने (१) यथा इव आदि शब्दों के प्रयोग पर आधारित, (२) समासगा और (३) वति प्रत्यय से युक्त क्रियासामान्यवाली उपमा इस प्रकार तीन भेद माने हैं। उपमा का सबसे अधिक विस्तार दण्डी ने किया था जिन्होंने इसके ३० से ऊपर भेदों का निर्देश किया है। परवर्ती आचार्यों ने उपमा के जिन भेदों की प्रकल्पना की है उनसे ये भेद नहीं मिलते हैं। दण्डी की विपर्यासोपमा, अन्योयोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा तथा प्रतिवस्तूपमा नाम के उपमाभेदों में बाद के क्रमशः प्रतीप, उपमेयोपमा, भ्रान्तिमान्, सन्देह तथा प्रतिवस्तूपमा अलंकारों का स्वरूप समाविष्ट है। उनकी निर्णयोपमा को ही बाद के आलंकारिकों ने निश्चय नामक अलंकार मान लिया है। वामन ने सर्वप्रथम लौकिकी तथा कल्पिता के रूप में उपमा को दो प्रकार का माना है। इनके पदवृत्ति तथा वाक्यवृत्ति के रूप में दो भेद हैं। वामन ने पूर्णा तथा लुप्ता का भी संकेत किया है पर इनके भेदोपभेद में वे नहीं गए हैं। उद्भट ने सर्वप्रथम व्याकरण के आधार पर उपमा का भेद-प्रभेद किया है। उन्हीं के आधार पर बाद के आलंकारिक मम्मट आदि ने इन समग्र भेदों का निरूपण किया है। उद्भट ने उपमा के कुल कितने भेद माने हैं इस सम्बन्ध में उनके टीकाकार परस्पर सहमत नहीं हैं। प्रतीहारेदुराज के अनुसार उद्भट को उपमा के सत्रह भेद अभीष्ट हैं जबकि तिलक के अनुसार इक्कीस। मम्मट ने उपमा का जो कुछ प्रपञ्च उनके समय तक हो चुका था उसे व्यवस्थित रूप में अपने काव्यप्रकाश में स्थान दिया है। इनके अनुसार उपमा के कुल भेद पच्चीस है, पूर्णा के छह तथा लुप्ता के उन्नीस। बाद में विश्वनाथ ने १९ के स्थान पर लुप्ता के २१ भेद मानकर उपमाभेदों की संख्या २७ तक पहुँचा दी थी। पण्डितराज के समय तक उपमाभेद की यह परम्परा बत्तीस तक पहुँच गई थी —

एवं च द्वात्रिंशद्भेदाः। —रसग०, पृ० २२२।

मम्मट के अनुसार उपमाभेदों की तालिका निम्नलिखित है—

पूर्णा के ६ भेद—श्रौती पूर्णा ३ (वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा)।
आर्थी पूर्णा ३ (वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा)।

लुप्ता के १९ भेद—श्रौती धर्मलुप्ता २ (वाक्यगा, समासगा)।
आर्थी धर्मलुप्ता ३ (वाक्यगा, समासगा, तद्धितगा)।

---

1. ना० शा० १७।५०।

उपमानलुप्ता २ (वाक्यगा, समासगा) केवल आर्थी।

वादिलुप्त ६ (समास १, क्यच् २, क्यङ् १, तथा णमुल् २, में होने वाली)—केवल आर्थी।

धर्मवादिलुप्ता २ (क्विप् तथा समास में)—केवल आर्थी।

धर्मोपमानलुप्ता २ (समास तथा वाक्य में)—केवल आर्थी।

वाद्युपमेयलुप्ता १ (क्यच् में)—केवल आर्थी।

त्रिलोपा अथवा वादिधर्मोपमानलुप्ता १ (समास में)—केवल आर्थी।

पण्डितराज जगन्नाथ, अप्पय्यदीक्षित तथा विश्वेश्वर आदि ने तो इसके अनेक आधारों पर भेद कर डाले हैं जिनकी चर्चा यहाँ प्रासङ्गिक नहीं है। अलंकारशास्त्र का प्रथम आचार्य भामह ही इसके भेदोपभेद की स्थिति और सम्भावना से ऊबने लगा था तभी तो उसने कहा था—**मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा।** —२।३८।

उपमामूलक अलंकार : अनन्वय

भामह ने सर्वप्रथम इस अलंकार का नामतः उल्लेख किया है। इसके पूर्व भरत की सदृशी उपमा तथा दण्डी की असाधारणोपमा में इसका स्वरूप मिलता है। रुद्रट ने आगे चलकर पुनः इसे उपमा का ही भेद माना। उद्भट ने अनन्वय की परिभाषा यह दी है—

यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्॥—६।७।

वामन ने भामह या उद्भट की भाँति अपनी परिभाषा में 'असादृश्यविवक्षा'[1] या इसी के समान 'उपमानान्तरव्यवच्छेद' पद का सन्निवेश करना उचित नहीं समझा। उनका लक्षण है—

एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः। —का० अ० सू० ४।३।१४।

यही लक्षण रुय्यक, विद्यानाथ, जयदेव, विश्वनाथ, दीक्षित आदि अनेक आचार्यों को अभिमत है। वे अनन्वय की परिभाषा में भामह, रुद्रट या जगन्नाथ की भाँति 'असादृश्यविवक्षा' इस तत्त्व का समावेश करना उचित नहीं समझते। इन सभी के अनुसार एक वस्तु का ही उपमेय तथा उपमान होना अनन्वय का पर्याप्त लक्षण है। 'एकस्यैवोपमानोपमेयत्वे' कहने से ही 'उपमानान्तरव्यवच्छेद' का भी अर्थात् समावेश हो जाता है अतः इन शब्दों का प्रयोग वस्तुतः अनावश्यक है। 'एकस्य तु विरुद्धधर्मसंसर्गो द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्त्यर्थः' से रुय्यक का यही मन्तव्य है। अनन्वय शब्द भी इस अलंकार के स्वरूप को (यद्यपि पूरी तरह से नहीं) बताता है। अनन्वय का अर्थ है सम्बन्ध का न होना। एक उपमेय को ही उपमान बताने का अर्थ है कि इसका (किसी दूसरी से) अन्वय या सम्बन्ध सम्भव नहीं है।[2]

---

१. इसका अर्थ है जिसके समान दूसरा नहीं है—नान्यत् तत्र (? तस्य) सदृशम्.......। —विवृति, पृ० ५०।

२. सदृशान्तरस्यानन्वयः। —संजी०।
सदृशान्वयाभावात्। —समुद्र०।
दीक्षित का कथन है: 'धर्मैक्ये हि स्वस्य स्वेनोपमा नान्वेतीत्यनन्वय इत्यन्वर्थं नाम'। —चित्रमी० पृ० ४९।

एकस्यैव सिद्धसाध्यरूपेणोपमानोपमेयत्वेनाविद्यमानोऽन्वयः सम्बन्धो यत्र स तथोक्तः। —वि० ३८।

एक ही का उपमेय और उपमान—सिद्ध तथा साध्य होना—असंगत भी है। इस असंगति के कारण भी इस अलंकार को अनन्वय कहना उचित है। सम्भवतः रुय्यक का यही अभिप्राय है।

एकस्य तु विरुद्धधर्मसंसर्गः द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्त्यर्थः। अत एवानन्वय इति योगोऽप्यत्र संभवति। —अ० स० पृ० ३८।

सादृश्य सदा दो भिन्न वस्तुओं में रहता है। यह द्विष्ठ धर्म है। अनन्वय में उपमेय तथा उपमान एक ही होता है। फिर इस अलंकार को सादृश्यमूलक कैसे कहा जा सकता है?

सादृश्यस्योभयनिष्ठत्वेनैव संभवादेकस्य च तदभावात्। कथमिहातदाश्रयस्याप्यस्य वचनम्? —वि० पृ० ३८।

अनन्वय में उपमेय तथा उपमान होता एक ही है किन्तु उन दोनों के लिए दो शब्दों का सदा प्रयोग होता है। जैसेकि **अर्जुनः अर्जुन इव**। एक ही अर्थ रखने वाले शब्दों का प्रयोग दो वस्तुओं का आभास दे देते हैं।[1] अतः यद्यपि इस अलंकार में वस्तुनिष्ठ भिन्नता नहीं होती पर शब्दकृत भेद अवश्य होता है। अतः अनन्वय में हम शाब्दिक सादृश्य मान सकते हैं—

इत्थं शाब्दमेव सादृश्यानुगममाश्रित्येहास्य लक्षणम्। —वहीं।

संजीविनीकार ने अनन्वय की सादृश्यमूलकता सिद्ध करने के लिए इसी बात को दूसरी तरह से कहा है। उन्होंने उपमेय के लिए आए शब्द को वाच्यदृष्टि से तथा उपमान के लिए आए हुए शब्द को व्यंग्यार्थ की दृष्टि से भिन्न भिन्न

मम्मट 'संबन्धाभाव' के कारण इस नाम की सार्थकता समझते हैं। रुय्यक और दीक्षित के अनुसार अनन्वय की चरितार्थता 'अनन्वितत्व' के कारण है।

१. एक एवार्थः शब्देन द्विरभिहितो भिन्नवदवभासते। तस्मादर्जुनोऽर्जुन इवेत्यादौ एकस्यैवार्जुनशब्दस्य शब्दवाच्याकारपर्यालोचनेन भेदावभासात् पूर्वनिर्दिष्टस्य साधर्म्यादिरूपस्यानुगमः संबन्धो वेदितव्यः।

—समुद्र० पृ० २६।

माना है ।[1] उदाहरणतः 'अर्जुनः अर्जुन इव' इसमें प्रथम अर्जुन शब्द का (उपमेय का) प्रयोग युधिष्ठिर के भाई अर्जुन व्यक्ति को बताने के लिए किया गया है। दूसरा अर्जुन शब्द शौर्य आदि गुणों का प्रतीक है। इस प्रकार उपमेय और उपमान के लिए एक शब्द रहने पर भी अर्थ-भेद को लेकर वस्तुभेद माना जा सकता है और इस प्रकार उन दो वस्तुओं में सादृश्य रह सकता है। पुनश्च सादृश्य अन्ततः दो वस्तुओं की एकता का प्रतिपादन करता है, यदि यह एकता एक को ही उपमेय तथा उपमान बताने से सिद्ध हो जाती है तो हम उसे सहज एकता भी कह सकते हैं। दो शब्दों का उपादान यही सिद्ध करता है कि शब्दभेद की उपाधि रहने पर भी वस्तुतः द्वितीय सदृश वस्तु सम्भव ही नहीं है। यही इस अलंकार का जीवातु है—

एवं चास्य द्वितीसब्रह्मचारिनिवृत्तिरेवालंकारत्वप्रतिष्ठापकं प्रमाणम् । —वहीं ।

यदि द्वितीय सब्रह्मचारि अथवा दूसरी सदृश वस्तु की निवृत्ति या सदृशान्तर के व्यवच्छेद की प्रतीति नहीं होती तो वहाँ अनन्वय अलंकार नहीं माना जा सकता है।

तस्याज्ञयैव परिपालयतः प्रजा मे कर्णोपकण्ठपलितंकरिणी जरेयम् ।
यद्गर्भरूपमिव मामनुशास्ति सोऽयमद्यापि तन्मयि गुरोर्गुरुपक्षपातः ॥

इस उदाहरण में वृद्ध तथा शिशु राजा को गुरु द्वारा दिए गए अनुशासन की दृष्टि से एक ही बताने की चेष्टा की गई है। पर इससे यह प्रतीति नहीं होती कि राजा के अतिरिक्त दूसरा ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिस पर किसी गुरु ने इस प्रकार अनुशासन किया हो, अतः इस उदाहरण में अनन्वय अलंकार नहीं माना जा सकता।

द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्तिप्रतिपत्त्यभावान्नायमलंकारः । —वि० पृ० ३८ ।

---

१. पूर्वरूपमुपमेयत्वम् । तदनुगमो वाच्याभिप्रायेण यत् पुनरपूर्वरूपमुपमानत्वं तदनुगमो व्यंग्याभिप्रायेण । —संजी०, पृ० ४३ ।
रुय्यक के 'वाच्याभिप्रायेण पूर्वरूपावगमः' की एक व्याख्याकार ने इसी अभिप्राय से यह टीका की है।
अन्ये तु पूर्वमुपमानोपमेययोरेकतरप्रतिपादनायोपात्तस्य...वाच्याभिप्रायेण वाच्यस्यार्जुनादेः शब्दभेदोपाधिकभेदप्रतिभासापनयनेन वास्तवस्यैकत्वस्य स्फुटप्रतिपत्तिमभिप्रेत्य क्रियते.......। —समुद्र० पृ० २६ ।

शोभाकर ने अनन्वय के तीन भेद किए हैं—

१. उपमेय को उपमान बनाकर सादृश्यकल्पना।

२. उपमेय के एकदेश को उपमा मानकर साधर्म्य-कल्पना।

३. तथा उपमेय को उसके प्रतिबिम्ब आदि के द्वारा भिन्न मानकर साधर्म्यकल्पना। इनमें से अन्तिम दो भेदों में उपमानान्तरनिषेध की प्रतीति व्यंग्य ही होती है, वाच्य नहीं, और अनन्वय अलंकार वहीं होता है जहाँ यह प्रतीति वाच्य हो अतः अन्तिम दो भेदों को अनन्वय अलंकार मानना उचित नहीं है।

अस्य ह्युपमानान्तरनिषेधपर्यवसायि अभिधीयमानमेकस्यैवोपमानोपमेयत्वं स्वरूपम्। —वि० पृ० २९।

चूंकि वाच्य अनन्वय को अनन्वयध्वनि से भिन्न मानना आवश्यक है[1] अतः स्पष्ट है कि शोभाकर का अन्तिम दो भेदों पर आधृत अनन्वय वाच्यालंकार नहीं माना जा सकता है। शोभाकर के—

तेनैव तदेकदेशेनावसितभेदेन वानन्वयः। —अ० र० सू० पृ० ६, में निर्दिष्ट अनन्वय-लक्षण का इसी आधार पर जयरथ ने खण्डन किया है। जगन्नाथ इस सम्बन्ध में जयरथ से सर्वथा सहमत हैं।[2]

अनन्वय और लाटानुप्रास

लाटानुप्रास उभयालंकार है और अनन्वय अर्थालंकार। पहिले का चमत्कार शब्दार्थ की पुनरुक्ति या अनुप्रास[3] पर अवलम्बित है तो दूसरे का अर्थ पर या यों कहिए उपमानान्तर के व्यवच्छेद पर। कवि का उद्देश्य इस प्रकार इन अलंकारों में भिन्न है और सहृदय की चमत्कारानुभूति का हेतु फलतः भिन्न है। अनन्वय में उपमान और उपमेय की निर्बाध ऐक्य प्रतीति कराने के लिए

---

१. देखिए—वि० पृ० ३८-३९; तथा रसग० पृ० २०६-२०८।

२. विमर्शिनीकार के इस मत को रुय्यक का समझकर जगन्नाथ ने इसकी आलोचना की है। इससे मेरी इस धारणा को बल मिलता है कि पंडितराज ने न तो शोभाकर का अलंकाररत्नाकर देखा था न रुय्यक का अलंकारसर्वस्व और न जयरथ की विमर्शिनी। अवश्य ही इन तीनों आचार्यों के मतों से वे परिचित हैं जो इन्हें परम्परया प्राप्त हुए थे।

३. चमत्कारस्त्वत्रानुप्रासकृतोऽवसेयः। —वि० पृ० १९।

कवि दोनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग करता है जैसे कि 'अर्जुनः अर्जुन इव' में। पर उसे शब्दपुनरुक्ति के चारुत्व से यहाँ प्रयोजन नहीं। असादृश्यविवक्षा के लिए अर्थ की पुनरुक्ति पर्याप्त है, शब्दैक्य इसलिए अनन्वय का स्वरूप या लक्षण नहीं, वह केवल आनुषंगिक है जिसे जयरथ के शब्दों में कहेंगे कि वह 'साक्षात् प्रयोजक' नहीं है। शब्दैक्य के विना भी अनन्वय का प्रतिपादन सम्भव है।[1] अनन्वय में शब्दभेद के कारण एकत्वप्रतीति में[2] विघ्न या विलम्ब[3] हो सकता है, उद्देश्य तथा प्रतिनिर्देश की एकरूपता नहीं रह सकती अतः इस दोष[4] से (जिसे पारिभाषिक शब्दों में पर्यायप्रक्रमभंग कहते हैं) बचने के लिए शब्दैक्य का प्रयोग उचित है[5] पर इसका महत्त्व वस्तुतः केवल अभावात्मक है। शब्दैक्य लाटानुप्रास का साक्षात् लक्षण है पर अनन्वय का केवल आगन्तुक या आनुषंगिक। पहला परस्परसापेक्ष[6] शब्दार्थ पर अवलम्बित है तो दूसरा अर्थ-पौनरुक्त्य पर जो अन्ततः उपमानान्तर के व्यवच्छेद का माध्यम है।

अन्योन्यापेक्षया शब्दार्थगतत्वेनार्थमात्रगतत्वेन च व्यवस्थितेर्भिन्नविषयत्वात्।
—अ० स० पृ० २९।

लाटानुप्रास और अनन्वय का भेद रुय्यक द्वारा उद्धृत इस प्रसिद्ध श्लोक में इस प्रकार प्रतिपादित है—

अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषंगिकम्।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव हि लक्षणम्॥—वहीं।

अनन्वय और असमालंकार

सम्भवतः सर्वप्रथम शोभाकर ने इस अलंकार का निरूपण किया है।

---

१. देखिए—वि० पृ० २९।
२. ....अन्य इवाभासमाना अनन्वयप्रतीतिं विघ्नयन्तीति शब्दैक्याभावो नौचित्यमावहति न पुनरनन्वयस्याभावात्। —वहीं।
३. ....शब्दभेदेन अर्थान्तरतया प्रतिभासादुपमानोपमेययोरेकत्वप्रतीतिविलम्बः स्यात्। —समुद्र० पृ० १९।
४. तत्र यद्यप्यर्थपौनरुक्त्यं लक्षणमथापि शब्दपौनरुक्त्यं दोषभयादंगीक्रियत एव। —संजी० पृ० ३५ तथा देखिए—नि० का०।
५. देखिए—एका० पृ० १९३ तथा उसपर तरल टीका।
६. परस्परव्यपेक्षिणोः शब्दार्थयोः लाटानुप्रासः। अनन्वयस्त्वर्थमात्रपौनरुक्त्यम्।

उनके अनुसार उपमान का असम्भवरूप में प्रतिपादन असमालंकार है—

तद्विरहोऽसमः । —अ० र० सू० १० ।

तथा

उपमानस्य विरहोऽसम्भवस्तत्प्रतिपादनमसमाख्योऽलंकारः ।
—अ० र० पृ० ११ ।

इनके अनुसार लुप्तोपमा वहीं होती है जहाँ सम्भव उपमान का अनुपादान हो पर असम में उपमान की असम्भवता का वर्णन होता है अतः लुप्तोपमा में इसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता ।

यत्रोपमानस्य न संभवोऽस्ति तत्रासमः स्यादुपमा न लुप्ता ।
संभाव्यमानस्य सतः समानधर्मादिकस्य त्वनुदीरणे सा ॥—वहीं ।

जगन्नाथ ने भी इसे पृथक् अलंकार मानकर इसकी परिभाषा निम्नलिखित की है—

सर्वथैवोपमानिषेधः असमाख्योऽलंकारः । —रसग० पृ० २१० ।

इनके अनुसार असमालंकार में सदृशान्तर का आत्यन्तिक निषेध होता है । उपमानलुप्ता या लुप्तोपमा में केवल क्वाचित्क निषेध । अतः उपमान का सर्वथा निषेध होने के नाते इसे उपमाप्रभेद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है—

आत्यन्तिकः क्वाचित्कश्च सदृशनिषेधोऽसमोपमानलुप्तयोर्विषयः ।
सर्वथैवोपमानिषेधेन सादृश्यस्याप्रतिष्ठानान्नोपमागन्धोऽपि । —वहीं ।

जहाँ तक असम और लुप्तोपमा के भिन्न होने का प्रश्न है इन आचार्यों का कथन तर्कसंगत है पर असम को अनन्वय से भी भिन्न बताना उचित नहीं है । '**उपमानान्तरव्यवच्छेद**' की प्रतीति कराने के लिए कवि की जो चित्तवृत्ति होती है वही उपमानान्तर का निषेध करने में, अतः अनन्वय और असम को भिन्न अलंकार मानना उचित नहीं । अनन्वय में जिस प्रकार केवल स्वसादृश्य वाच्य होता है उसी प्रकार असम में भी सदृशान्तर के आत्यन्तिक निषेध द्वारा परम्परया स्वसादृश्य की ही प्रतीति होती है । अतएव प्राचीन आलंकारिकों का यह मत ही ठीक है कि असम एक भिन्न अलंकार नहीं है—

प्राञ्चस्तु नेदमलंकारान्तरम्......। —रसग० पृ० २१२ ।

उपमामूलक अलंकार : उपमेयोपमा

यह भी बहुत प्राचीन अलंकार है। इसका निर्देश भामह से ही प्राप्त होता है। दण्डी ने उपमेयोपमा को अन्योन्योपमा कहकर उपमा के अन्तर्गत रखा है। नाम जो भी रखें पर उपमा में इसका अन्तर्भाव उचित नहीं है। यह सादृश्य-मूलक अलंकार अवश्य है। भामह ने उपमेयोपमा के नाम से ही (३।३७) इसका प्रतिपादन किया है। इनकी परिभाषा का प्रभाव मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विद्यानाथ, विद्याधर तथा विश्वनाथ पर है। विश्वनाथ की परिभाषा रुय्यक की परिभाषा से सर्वथा मिलती है। उद्भट, रुद्रट तथा जगन्नाथ की परिभाषाओं में 'तृतीयसदृशव्यवच्छेद' के तत्त्व का भी समावेश है। अनन्वय में द्वितीयसदृश के व्यवच्छेद की प्रतीत होती है; इस अलंकार में तृतीयसदृश के व्यवच्छेद की।[1] उपमान और उपमेय का क्रमशः उपमेय और उपमान होना—**उपमेयेनोपमा**—यह बताता है कि एक उपमेय का उपमान दूसरे के अलावा तीसरा नहीं है। उपमेयोपमा शब्द से इस प्रकार उपमानान्तर के तिरस्कार की प्रतीति स्वभावतः हो जाती है अतः तृतीयसदृशव्यच्छेद पद का लक्षण में निवेश अनावश्यक है।

अस्याश्चोपमानान्तरतिरस्कार एव फलम्। अतएवोपमेयेनोपमा इत्यस्या अन्वर्थाभिधानम्। —वि० पृ० ४०।

जहाँ उपमानान्तर के तिरस्कार की प्रतीति नहीं होती वहाँ यह अलंकार नहीं माना जा सकता है। शोभाकर ने

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति च दिनानि सुखदुःखवशीकृते मनसि॥
—अ० र० पृ० १८।

इस उदाहरण में उपमेयोपमा मानी है, क्योंकि इनके अनुसार सविता उपमेय का उपमान निशाकर ही हो सकता है और निशाकर का सविता ही। इसी

---

१. **एकेन धर्मेण एकप्रतियोगिके परानुयोगिके सादृश्ये निरूपितेऽपरप्रतियोगिकस्य एकानुयोगिकस्यापि तेन धर्मेण सादृश्यस्यार्थतः सिद्धतया शब्देन पुनस्तदुक्तिः स्वनैरर्थक्यपरिहाराय तृतीयसदृशव्यवच्छेदमाक्षिपति** —रसग० पृ० १९५।

प्रकार दिन और यामिनी परस्पर उपमेय तथा उपमान हैं। पर इस श्लोक में यह प्रतीति नहीं होती कि सविता तथा निशाकर का अथवा दिन और यामिनी का कोई दूसरा उपमान हो ही नहीं सकता। यहाँ केवल प्रतीति इतनी ही होती है कि सुख में उत्ताप सूर्य शीतल सुधाकर मालूम पड़ता है; दुःख में सुधाकर तपनशील सूर्य बन जाता है। सुख-दुःख में प्रकृति भी सहायक या विरोधिनी बन जाती है। अतः इसे उपमेयोपमा का उदाहरण मानना समीचीन नहीं, क्योंकि उपमानान्तर का तिरस्कार यहाँ कविविवक्षा का विषय नहीं है। यही जयरथ का मत है:

न ह्यत्र विधुसवित्रादीनामुपमानान्तरतिरस्करणं विवक्षितं किन्तु सुखदुःख-वशीकृतमनसामेवं विपरीतं भवतीति। —वि० पृ० ४०

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि जिस प्रकार अनन्वय में 'द्वितीयसदृश-व्यवच्छेद' या इसी प्रकार के किसी दूसरे पद का लक्षण में निवेश आवश्यक है उसी प्रकार उपमेयोपमा के लक्षण में 'तृतीयसदृशव्यवच्छेद' या इसीके समान पद का निवेश आवश्यक है अन्यथा इसकी परस्परोपमा में अतिव्याप्ति होगी। अतएव उद्भट, रुद्रट और जगन्नाथ के लक्षण ठीक हैं। अप्पय्यदीक्षित ने युगपदुपमा[1] का अन्तर्भाव इस अलंकार में करना चाहा है, पर यह उचित नहीं। **'रामरावणौ मिथस्तुल्यौ'** युगपदुपमा के इस उदाहरण में **'तृतीयसदृश-व्यवच्छेद'** की प्रतीति नहीं होती। इस प्रतीति के लिए यह आवश्यक है कि दो में सादृश्य देने के बाद तीसरे सादृश्य की सम्भावना को समाप्त किया जाए। युगपदुपमा के उपर्युक्त उदाहरण को उपमेयोपमा का बनने के लिए यह आवश्यक था कि राम रावण को समान बताने के बाद रावण के सादृश्य के लिए पुनः राम का उपादान होता। पर यहाँ तो प्रतीति दोनों के समान प्रतियोगी होने की है। यह परस्पर प्रतियोगिता, जिसे चित्रमीमांसाकार ने भी युगपदुपमा में माना है,[2] उपमेयोपमा का जीवातु नहीं है अतः इसमें युगपदुपमा का अन्तर्भाव करना उचित न होगा।

उपमानान्तर का तिरस्कार सादृश्यमूलक होना चाहिए अन्यथा उपमेयोपमा को अलंकार नहीं माना जा सकता है। दण्डी की नियतोपमा[3] में सादृश्य का वर्णन न होने के नाते उसे उपमेयोपमा में नहीं रखा जा सकता।

---

१. चित्रमी० पृ० ४३।

२. देखिए—चित्रमी० पृ० ४३।

३. काव्यादर्श, २।१६।

वाक्यभेद

उपमेयोपमा में दो वस्तुओं की परस्पर उपमा दी जाती है, अतः दो वाक्य होना आवश्यक है। पर यह वाक्यभेद कहीं तो श्रौत हो सकता है और कहीं आर्थ। जहाँ उपमान तथा उपमेय की उपमानता और उपमेयता शब्दतः उपात्त हो, वहाँ श्रौत और जहाँ दोनों में एक का उपादान अर्थलभ्य हो वहाँ वाक्यभेद आर्थ होगा। उदाहरण के लिए—

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्॥ —वि० पृ० ३९।

इसमें भूतल की तरह आकाश को और आकाश की तरह भूतल को बताते हुए, ये दो वाक्य शब्दतः उपात्त हैं। पर

भवत्पादाश्रयादेव गंगा भक्तिश्च शाश्वती।
इतरेतरसादृश्यसुभगामेति वन्द्यताम्॥ —वहीं।

इस उदाहरण में 'गंगा और भक्ति वन्दनीय हैं' इस प्रकार वाक्य तो एक अवश्य है पर अर्थ पर ध्यान देने से गंगा भक्ति की भाँति वन्दनीय है और भक्ति गंगा की भाँति वन्दनीय है, इन दो वाक्यों की प्रतीति होती है। अतः इसमें वाक्यभेद आर्थ है। 'नयनद्वयं परस्परात्मना तुलनामुदञ्चति' इस छोटे से एक वाक्य में अर्थ की दृष्टि से दो वाक्य हैं। एक नयन दूसरे नयन के समान है, और दूसरा पहिले के समान।

शब्दैक्य आनुषंगिक

मेरी दृष्टि में अनन्वय की भाँति उपमेयोपमा में भी एक ही शब्दों का होना उचित है। **'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला'** कहने से परस्पर उपमानापमेय-भाव की प्रतीति शीघ्रतया होती है। **'कमलेव मतिर्बुद्धिरिव लक्ष्मीः'** कहने से यह प्रतीति शीघ्र नहीं हो पाती। अतः एक ही प्रकार के शब्दों का होना औचित्य की दृष्टि से आवश्यक है, परन्तु अपरिहार्य नहीं।

त्रिविध भेद

उपमेयोपमा में कहीं तो साधारण धर्म का निर्देश न होगा, जैसेकि **'खमिव जलं जलमिव खम्'** में। जहाँ निर्देश होगा, वहाँ साधारण धर्म या तो अनुगामितया या वस्तुप्रतिवस्तुभाव से या बिम्बप्रतिबिम्बभाव से होगा। मम्मट

का 'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला' आदि धर्म के अनुगामितया निर्देश का उदाहरण है। इसमें 'विभाति' यह किया-रूप साधारण धर्म सभी के लिए एक-सा निर्दिष्ट है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के क्रमशः उदाहरण हैं। 'खमिव जलं जलमिव खं' तथा 'सच्छायाम्भोजवदनाः सच्छायवदनाम्बुजाः।'[1]

रुय्यक द्वारा उपमाप्रकरण में सामान्यतया संकेतित तथा जयरथ द्वारा उपबृंहित उपर्युक्त त्रिविध भेदों के आधार पर परवर्ती आलंकारिक जगन्नाथ तथा अप्पय्यदीक्षित ने भेदोपभेद का विस्तार किया है।

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ४०।

उपमामूलक अलंकार : स्मरण

इस अलंकार का प्रारम्भ रुद्रट के समय से होता है। बाद के सभी प्रमुख आलंकारिकों को यह मान्य है। शोभाकर ने इसका नाम स्मरण न रख स्मृति रखा है। अप्पय्यदीक्षित भी इसे स्मृति ही कहते हैं। जयरथ ने अलंकारोदाहरण में 'स्मृति' नाम से ही इसका उल्लेख किया है।

परिभाषा

रुय्यक ने 'सदृशवस्तु के अनुभव से दूसरी सदृश वस्तु का स्मरण' इस अलंकार का लक्षण किया है। इसका प्रभाव शोभाकर, विद्याधर तथा विश्वनाथ आदि के लक्षणों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। स्मरण के पूर्व मानसिक प्रक्रिया तीन अवस्थाओं से गुजरती है (अ) अतीत काल में किसी वस्तु का अनुभव,[1] (ब) उस अनुभव द्वारा उत्पन्न संस्कार तथा (स) सदृशवस्तु के अनुभव से पुन: उस संस्कार का उद्बोध। यही मानसिक प्रक्रिया स्मरणालंकार के मूल में भी है। तार्किक बुद्धि या ज्ञान को दो प्रकार का मानते हैं—स्मृति तथा अनुभव। स्मृति संस्कार से उत्पन्न होती है और अनुभव संस्कारजन्य नहीं होता।

जगन्नाथ का कथन है कि स्मरणालंकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सदृशान्तर वस्तु का स्मरण केवल सदृश वस्तु के अनुभव से ही हो, कभी सदृश वस्तु के स्मरण से उद्बुद्ध संस्कार भी 'स्मरण' को जन्म दे सकता है। उदाहरणत: चातक को देखकर कवि को मेघ का स्मरण हो जाता है और यह स्मरण मेघश्यामल कृष्ण की स्मृति जगा देता है। रसगंगाधर के अनुसार अनुभव-स्मरण-स्मरण यह प्रक्रिया भी इस अलंकार की सीमा में आती है। स्मरणालंकार सदृशवस्तु के अनुभव से भी हो सकता है और स्मरण से भी। इसी दृष्टि से जगन्नाथ के अनुसार स्मरण के लक्षण में अनुभव शब्द के स्थान पर ज्ञान शब्द का प्रयोग आवश्यक है। इसी आधार पर उन्होंने रुय्यक की परिभाषा का खण्डन भी किया है।[2] सदृश के स्मरण से सदृशान्तर के स्मरण

---

१. अनुभव शब्द का प्रयोग 'दर्शन' (मम्मट) की अपेक्षा उचित है। केवल दर्शन को स्मरणालंकार का आधार मानना उचित नहीं क्योंकि श्रवण आदि अनुभव के अन्य प्रकार भी स्मरण के कारण होते हैं।

२. देखिए—रसग० पृ० २२१-२२।

की मानसिक प्रक्रिया तो होती है, इससे किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी पर सादृश्यविधान की दृष्टि से अनुभूयमान से स्मर्यमाण में चमत्कार अधिक प्रतीत होता है, उतना चमत्कार स्मर्यमाण से स्मर्यमाण के सादृश्य-विधान में नहीं रहता। अतः मेरी दृष्टि से स्मरणालंकार वहीं मानना चाहिए, जहाँ अनुभूयमान-स्मर्यमाण में सादृश्य विवक्षित हो।

स्मरणालंकार की सादृश्यमूलकता

स्मृति न केवल सदृशवस्तु के अनुभव से अपितु अदृष्ट चिन्ता आदि अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है—

सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः।

भोज ने चिन्ता आदि को भी इस अलंकार का आधार माना है। साहित्यदर्पण में राघवानन्द महापात्र के मत का उल्लेख है। वे भी वैसादृश्य से इस अलंकार को मानते थे।[1] पर स्मरण में चमत्कार का आधार सादृश्य है। चिन्ता या सम्बन्धिज्ञान से उत्पन्न स्मृति को इसलिए स्मरणालंकार नहीं माना जा सकता। यदि गोदावरी नदी को देखकर राम को सीता के साथ बिताए हुए पुराने दिनों की स्मृति आ जाती है तो उसमें सदृशानुभव न होने से स्मरणालंकार नहीं माना जा सकता। अतः

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्॥

रघुवंश, १३।३५।

[यहाँ (गोदावरी के पास) मैं शिकार से लौटता था, लहरों की हवा से मेरी थकावट दूर होती थी और एकान्त में तुम्हारी गोद में सिर रखकर वेतस के घर में मैं सो जाता था—यह याद कर रहा हूँ]

रघुवंश के उपर्युक्त उदाहरण में तथा

स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम्।
ऋषीञ्ज्योतिर्मयान् सप्त सस्मार स्मरशासनः॥

कुमारसम्भव (६।३) के इस पद्य में स्मरणालंकार नहीं माना जा सकता

---

१. राघवानन्दमहापात्रास्तु वैसादृश्यात् स्मृतिमपि स्मरणालंकारमिच्छन्ति।
—सा० द० पृ० ५२१।

क्योंकि सादृश्य के विना स्मृति को स्मरणालंकार मानना रुय्यक को कदापि अभिमत नहीं है।

सादृश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलंकारः। —अ० स० पृ० १४।

परवर्ती आलंकारिकपरम्परा उनकी इस मान्यता से सहमत है।

सादृश्यव्यतिरिक्तं स्मरणं न कश्चिदलंकारः। —अ० र० पृ० २३।

अयं चालंकारिकाणां सम्प्रदायो यत् सादृश्यमूलकत्वे स्मरणं निदर्शनादिवदलंकारः। —रसग० पृ० २१०।

सादृश्य-विधान के लिए दो वस्तुओं का होना आवश्यक है जिसमें एक उपमेय होता है और दूसरा उपमान। स्मरणालंकार में अनुभूयमान तथा स्मर्यमाण दो वस्तुएँ होती हैं। इनमें से कौन उपमेय है और कौन उपमान? सर्वस्व के अनुसार

अतिशयिसुरासुरप्रभावं शिशुमवलोक्य तवैव तुल्यरूपम्।
कुशिकसुतमखद्विषां समाजे धृतधनुषं रघुनन्दनं स्मरामि॥

—उत्तरराम० ४।४।

[देव तथा दानव से अधिक पराक्रमी, राम के समान ही रूप वाले बालक को देखकर, विश्वामित्र के यज्ञ से द्वेष रखने वाले राक्षसों का विनाश करने के लिए धनुष धारण किए हुए राम का मुझे स्मरण हो आता है]

इस उदाहरण में अनुभूयमान लव उपमेय है और स्मर्यमाण राम उपमान। दूसरा उदाहरण देखिए। मेघ को देख विरही यक्ष कहता है—

तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः,
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण,
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि॥

—मेघदूत, २।१४।

यहाँ सामने खड़ा अनुभूयमान मेघ उपमान है और स्मर्यमाण क्रीडाशैल उपमेय है। अतः दोनों वस्तुओं में कोई भी उपमेय या उपमान बन सकता है। अस्तु, अनुभूयमान से स्मर्यमाण का या स्मर्यमाण से अनुभूयमान का सादृश्यविधान किया जा सकता है। यह जयरथ का अभिमत है—

अतश्च स्मर्यमाणेनानुभूयमानस्य अनुभूयमानेन वा स्मर्यमाणस्य सादृश्यपरिकल्पनमयमलंकारः। यदुक्तम्—

यथा दृश्येन जनिता साम्यधीः स्मर्यमाणगा ।
स्मर्यमाणकृताप्यस्ति तथेयं दृश्यगामिनी ॥—वि० पृ० ४१ ।

इस प्रकार रुय्यक के अनुसार प्रस्तुत तथा स्मर्यमाण में उपमानोपमेय-भाव या सादृश्य आवश्यक है । सदृश वस्तु को देखकर स्मरण सदृश वस्तु का ही होना चाहिए 'वस्त्वन्तरं सदृशमेव', पर जगन्नाथ के अनुसार यह आवश्यक नहीं ।

एकीभवत्प्रलयकालपयोधिकल्पमालोक्य संगरगतं कुरुवीरसैन्यम् ।
सस्मार तल्पमहिपुंगवकायकान्तं निद्रां च योगकलितां भगवान् मुकुन्दः ॥
—रसग० पृ० २१६ ।

पण्डितराज के अनुसार इस उदाहरण में हमें प्रथम दो वस्तुओं—पयोधि तथा सैन्य—में सादृश्य का ज्ञान होता है और तब उनके सादृश्यज्ञान के आधार पर तल्प का, तथा उसके सम्बन्ध से निद्रा का स्मरण होता है । अतः इसमें सदृश वस्तु को देखकर सदृश-विषयक स्मरण नहीं है । जगन्नाथ की परिभाषा वस्तुतः सदोष है । सदृश वस्तु के अनुभव से दूसरी सदृश वस्तु की स्मृति को ही स्मरणालंकार माना जा सकता है । अतः जगन्नाथ के स्मरण-लक्षण में **सदृश-विषयकं स्मरणं** या इसी प्रकार के दूसरे पद का समावेश आवश्यक है ।

स्मरण तथा अन्य अलंकार

भाव के चार रूप हैं ।(अ) रमण-रमणी के अतिरिक्त रति का विषय जब देवता, नृप, साधु आदि होते हैं, (ब) रति के विषय रमण-रमणी होने पर भी जब वह पुष्ट नहीं हो पाती है, (स) रति के अतिरिक्त अन्य स्थायिभाव भी जब रसदशा को नहीं पहुँचते, तथा (द) प्रधानरूप से व्यञ्जित व्यभिचारी भाव[1] इन भावों का तीन रूप से निबन्धन हो सकता है । कहीं तो ये प्रधान रस की अभिव्यक्ति में सहायता करते हैं, कहीं रस की अपेक्षा स्वयं प्रधान बन जाते हैं और कहीं अंग बने रहते हैं । अन्तिम स्थिति में प्रेयान् अलंकार होता है ।

---

१. (अ) देवतादिविषये व्यञ्जितो रत्यादिरपि भावः । —संजी० पृ० २०७
(ब) कान्तादिविषयाप्यपुष्टा रतिः ।
(स) हासादयश्चाप्राप्तरसावस्थाः ।
(द) व्यभिचारी तथाञ्चितः ।

(१) इह हि निर्वेदादीनां त्रयी गतिः। तत्र 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' इति नीत्या रसव्यञ्जकत्वमेका गतिः।

(२) क्वचिदपि 'मुख्ये रसेऽपि तेंऽगित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन' इति नीत्या राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवद्विभावानुभावव्यञ्जितानां रसगुणीभावे प्राधान्यम्।

(३) क्वचिदपि अपरस्यांगमिति नीत्यैषामंगत्वे प्राधान्याभावादलंकारत्वम्। —वि० पृ० २३४-३५।

व्यभिचारिभावों में एक स्मृति भी है। यदि यह स्मृति सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी आधार से उत्पन्न होती है तो प्रेयान् अलंकार होता है। प्रेयान् अलंकार में स्मृति एक संचारी भाव है, जो किसी रसादि का अंग होती है। और इस स्मृति का उपादान भी शब्दतः नहीं होना चाहिए। स्मरणालंकार में 'स्मरामि' या 'संस्मार' जैसे पदों का प्रयोग साधारणतया होता है। इन पदों का प्रयोग न होने पर भी सादृश्य के आधार पर स्मरणालंकार शोभाकर के अनुसार हो सकता है।

सादृश्यनिमित्तस्यापि स्वशब्दानुपात्तस्य स्मरणस्य ... ...औपम्यसामर्थ्यलभ्यत्वेनालंकारतयाऽभिधानम्। —अ० र० पृ० २३।

प्रेयान् अलंकार में तो इन पदों का प्रयोग सर्वथा अनपेक्षित है क्योंकि केवल व्यंग्य स्मृति ही इसका विषय बन सकती है।

प्रेयोऽलंकारस्य तु सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोत्थापिता स्मृतिर्विषयः। ...तत्रापि विभावाद्यागूरितत्वे न स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यत्वे। —अ० स० पृ० ४२।

जहाँ स्मृति का उत्थान सादृश्य के आधार पर नहीं होता पर उसका शब्दतः प्रतिपादन होता है वहाँ न तो स्मरणालंकार होगा, न प्रेयान्, वहाँ केवल वस्तुवर्णन मानना चाहिए। 'अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तः' इसी प्रकार का उदाहरण है। रुय्यक की उपर्युक्त मान्यता जगन्नाथ को भी अभिमत है।[1]

जैसाकि प्रारम्भ में बताया गया है इस अलंकार का प्रारम्भ रुद्रट से होता है। भामह, दण्डी, उद्भट तथा वामन आदि आचार्यों ने इसका निरूपण नहीं किया है। सम्भवतः इनमें से कुछ आचार्य इस अलंकार के तत्त्वों का अन्तर्भाव प्रेयान्, अनुमान, विशेष तथा काव्यलिंग जैसे अलंकारों में से किसी एक या अनेक में करते थे। रुय्यक ने सम्भवतः इसीलिए इन अलंकारों से

---

१. देखिए—रसग० पृ० २२०-२२१।

स्मरण का भेद बताना आवश्यक समझा था। अनुमान में एक वस्तु को देख कर दूसरे का ज्ञान होता है। पर उसमें सदृश वस्तु को देखकर सदृशान्तर का स्मरण होना आवश्यक नहीं है।[1] 'गौ' को देखकर उसके समान गवय का स्मरण होना व्याप्ति (अविनाभाव) की प्रक्रिया में नहीं आता है। 'गौ' और 'गवय' का न तो तादात्म्य सम्बन्ध है जैसे कि कृतकत्व और अनित्यत्व का और न उनमें धूमवह्नि जैसा नित्यसाहचर्य ही है। विशेषालंकार में सदृश वस्त्वन्तर का अनुभव अवश्य होता है पर चमत्कार उसके स्मरण में न होकर असम्भाव्य कार्य या वस्तु के सम्पादन में होता है।

यैर्दृष्टोऽसि तदा ललाटपतितप्रासप्रहारो युधि,
स्फीतास्रक्स्रुतिपाटलीकृतपुरोभागः परान् पातयन्।
तेषां दुःसहकालदेहदहनप्रोद्भूतनेत्रानल—
ज्वालालीभरभास्वरे स्मररिपावस्तंगतं कौतुकम्।

—अ० स० पृ० ४२।

[जिन्होंने भी उस समय युद्ध में बरछे के प्रहार को भाल में पाए हुए और खून के स्फीत धाराप्रवाह से लाल शरीरवाले तुम्हें शत्रु को मारते हुए देखा है उनकी उत्सुकता कामदेव के शरीर को भस्म करने के लिए उत्पन्न नेत्राग्नि के ज्वालावलय से प्रदीप्त कामारि (शिव) का दर्शन करने को नहीं रह गई है।]

विशेषालंकार के इस उदाहरण में शस्त्रों के घाव से भरे और रुधिरसने राजा का शत्रुविदारण जैसे कठिन कार्य को देख कामारि शिव की याद तो अवश्य आई है पर चमत्कार भगवद्दर्शनरूप अर्थ में है।[2] इसमें स्मृति सादृश्य-मूलक अवश्य है पर वह वाक्य का प्रधान अर्थ नहीं है। इसी विशेषालंकार को उद्भट तथा उनके अनुयायी काव्यलिंग कहते हैं। स्मरणालंकार का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है।

---

१. नेदमनुमानम्। सदृशमनुभूय सदृशमेव स्मर्यत इति नियमाभावात्। सदृशदर्शनेन विसदृशस्यापि स्मरणसंभवात्। —एका० पृ० २१०।

२. अत्र त्वद्दर्शनमभिलषतां जनानां न त्वद्दर्शनावाप्तिरेवाभूत् यावत्तेषाम-सम्भाव्यं भगवद्दर्शनमपि जातमित्यशक्यवस्त्वन्तरकरणम्।……विशेषा-लंकारस्य हि अशक्यवस्त्वन्तरकरणं रूपम्……….।

—वि० पृ० ४२-४३।

त्रिविध भेद

साधारण धर्म का अनुगामितया निर्देश (जैसेकि उपर्युक्त 'अतिशयित-सुरासुरप्रभावम्' ...में अतिशयितसुरासुरप्रभाव, तुल्यरूप तथा धृतधनुष में) तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव से तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश के आधार पर साधारणधर्ममूलक तीन भेद हैं। अन्तिम दो भेदों के उदाहरण हैं—

सान्द्रां मुदं यच्छतु नन्दको वः सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः।
कुर्वन्नजस्रं यमुनाप्रवाहसलीलराधास्मरणं मुरारेः॥
—वि० पृ० ४१।

इसमें 'सोल्लास' तथा 'सलील' दोनों धर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव-रूप हैं क्योंकि उनमें केवल सम्बन्धिभेद से भिन्नता है अन्यथा वे एक हैं।

पूर्णेन्दुना मेघलवांकितेन द्यां मुद्रितां सुन्दरि वीक्षमाणः।
विवाहहोमानलधूमलेखामिलत्कपोलां भवतीं स्मरामि। —वहीं।

यहाँ मेघलव-धूमलेखा तथा आकाश-कपोल में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ ने भी इन भेदों का निरूपण किया है।

उपमा से लेकर स्मरण तक के अलंकारों में सादृश्यविधान की दृष्टि से एक वस्तु समान रूप से विद्यमान है और वह एक वस्तु के धर्म अथवा धर्मों को अन्यत्र खोजने की प्रक्रिया है। उपमा, उपमेयोपमा तथा स्मरण में इस प्रक्रिया में सफलता मिलती है। अतः इनमें अन्य वस्तु तथा प्रस्तुत वस्तु के अन्य धर्मों के आधार पर वैधर्म्यप्रतीति भी होती है। अनन्वय तथा उसी के प्रभेद असम में इस प्रक्रिया को सफलता नहीं मिलती अतः इनमें कोई ऐसे अन्य धर्म नहीं रहते जिनके आधार पर वैधर्म्य-प्रतीति हो। इन सभी अलंकारों में भेद तथा अभेद दोनों की प्रधानता या समानता रहती है।

उपमामूलक अलंकार : रूपक

उपमा की भाँति रूपक भी प्राचीनतम अलंकारों में से है। भरत ने उसे अपने चार अलंकारों में गिनाया है। उनके अनुसार नाना द्रव्यों के अनुषंग आदि द्वारा जो गुणाश्रय औपम्य रूप की निर्वर्णना से युक्त होता है उसे रूपक कहा जाता है। इस लक्षण का अनुषंग शब्द ही बाद में उपरंजन शब्द के द्वारा अभिव्यक्त होने लगा। रूपक के लक्षण में भरत ने स्वविकल्पों द्वारा विरचित होना, तुल्यावयव से स्वरूपघटित होना तथा किंचित् सादृश्य से सम्पन्नता बताई है।[1] भामह ने उपमान द्वारा उपमेयतत्त्व की गुणसाम्य के आधार पर रूपण की प्रक्रिया को रूपक बताया था और इस प्रकार भरत की अपेक्षा रूपण-विधा के विश्लेषण की दृष्टि से उनका लक्षण अधिक स्पष्ट है।[2] उपमा के साथ इसका सम्बन्ध कितना निकट का है यह बात दण्डी के लक्षण में स्पष्ट है।[3] उद्भट ने रूपक के सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह कि रूपक में एक पद का दूसरे पद के साथ योग होता है। यह योग शब्दत: तो दोनों के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं करता है किन्तु अर्थतः दो पदों का योग होने पर एक पद प्रधान होता है और दूसरा गुणवृत्ति अर्थात् गुणभाव और प्रधानता में धर्मशील।[4] अनुषङ्गतः यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रुय्यक ने उद्भट का अनेकत्र अनुसरण करने पर भी रूपक के स्वरूप-निरूपण में दण्डी का ही अनुगमन किया है। भरत ने तुल्यावयव की जो बात कही थी कदाचित् उसी की मान्यता उद्भट ने रूपक में गुणों की तुल्यता की चर्चा से की है। अस्तु, भामह से लेकर अर्वाचीनतम

---

१. नानाद्रव्यानुषङ्गाद्यैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम्।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम्।
स्वविकल्पैर्विरचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
किंचित साद्दश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत्॥—ना०शा० १६।५७-५८।

२. उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः। —भामहालंकार, २।२१।

३. उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। —काव्यादर्श।

४. श्रुत्या सम्बन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्॥ —का० अ० सं०।

आलंकारिक इसे मानते आए हैं। दण्डी ने तो अपह्नुति, आक्षेप और व्यतिरेक अलंकारों का अन्तर्भाव भी रूपक में किया है।

'चन्द्र इव मुखम्' में जिस सादृश्य की प्रतीति होती है उसमें मुख तथा चन्द्र दोनों की प्रतीति की प्रधानता है। मुख चन्द्र से भिन्न है और अभिन्न भी। यह भेदाभेदप्रतीति आगे चलकर अभेद-प्रतीति या ताद्रूप्य में परिणत हो जाती है। कतिपय आलंकारिक अभेदप्रतीति के स्थान पर ताद्रूप्य शब्द का प्रयोग करते हैं।[1] उनके अनुसार आरोप में ताद्रूप्यप्रतीति होती है और अध्यवसान में अभेद-प्रतीति। पर इस प्रकार का दोनों में भेद करना वांछनीय नहीं है। रूपक की प्रतीति को अभेद-प्रतीति भी कहा जा सकता है और ताद्रूप्यप्रतीति भी।[2] उपमागत प्रतीति से इसका भेद करने के लिए अभेदप्रतीति कहना अच्छा है, और अध्यवसानमूलक प्रतीति से भेद करने के लिए इसे ताद्रूप्यप्रतीति कहना समीचीन है।

अभेदप्रतीति की प्रक्रिया

'मुखं चन्द्रः' कहने पर सहृदय को दोनों में अभेद की प्रतीति होती है। इसका आधार आरोप है। प्रकृत उदाहरण में मुख विषय है और चन्द्र विषयी। विषयी चन्द्र का मुख पर आरोप है। इस प्रकार एक (प्रकृत) का दूसरे (अप्रकृत) के रूप से रूपित होना आरोप है। 'अन्यत्रान्यावापः' रुय्यक के इस आरोपलक्षण का खण्डन करने के लिए शोभाकर पूछते हैं कि आरोप में एक शब्द, जैसे कि मुख में शब्दान्तर जैसे कि चन्द्र, का आरोप होता है या एक अर्थ में अर्थान्तर का। शोभाकर के अनुसार 'मुखं चन्द्रः' में न तो शब्द में शब्दान्तर का और न अर्थ में अर्थान्तर का ही आरोप मान जा सकता है।[3] 'मुखं चन्द्रः' में शब्द में शब्दान्तर का आरोप तो अवश्य नहीं होता पर अर्थ में अर्थान्तर का आरोप

---

१. अभेदारोप एव रूपकमिति काव्यप्रदीपः। अन्ये तु............ताद्रूप्यमेव रूपकमित्याहुः। —अलंकारकौस्तुभ, पृ० २०६।

२. ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरारोपस्तदभेदप्रतिपत्तिरध्यवसाय इति तयोर्भेदः—इति चेत् न वैपरीत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्। —चित्रमी० पृ० ५२।

३. शोभाकर द्वारा रुय्यक के आरोपलक्षण के खण्डन के लिए देखिए—अ०र० पृ० ३२।

मानना सर्वथा युक्तियुक्त है ।[1] शुक्तिका में ही रजत का आरोप होता है पर यह आरोप सदा विना किसी प्रयोजन के स्वरसतः होता है अतः यह आरोप भ्रान्तिमूलक है पर कवि मुख पर चन्द्र का आरोप करता है तो उसे भ्रान्ति नहीं होती । सहृदय को जो अभेदप्रतीति होती है वह भी भ्रान्त नहीं होती । कवि मुख तथा चन्द्र के सौन्दर्य में अभेदप्रतीति या अतिसाम्य बताने के एक प्रयोजनविशेष से ही आरोप करता है ।

स च प्रयोजनपरतया तथा निर्दिश्यते न तु भ्रान्त्या । —वि० पृ० ४४ ।

आरोप करने की शैली में भले ही भ्रम का भाव हो पर ज्ञान भ्रम नहीं बनता ।

प्रतिपादनभ्रमोऽयं न भ्रान्ता प्रतिपत्तिः ।

शुक्तिका में जब रजत का आरोप होता है उस समय प्रमाता को इन दोनों पदार्थों की भिन्नता का ज्ञान नहीं रहता, पर मुख में चन्द्र का आरोप करने वाले कवि को तथा उसका अनुभव करनेवाले सहृदय को यह मालूम रहता है कि विषय मुख विषयी चन्द्र से भिन्न है । अतः '**मुखं चन्द्रः**' में चन्द्र से मुख, रजत से शुक्तिका की भाँति, आच्छादित नहीं होता । अभेदप्रतीति होने पर भी भेदसद्भाव बना रहता है । इस दृष्टि से रुय्यक का आरोपलक्षण युक्तियुक्त है । शोभाकर ने आरोप की परिभाषा निम्नलिखित दी है—

भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देश आरोपः । —अ० र० पृ० ३२ ।

दो भिन्न वस्तुओं का समानविभक्तिक निर्देश उनके अनुसार आरोप होता है । यह लक्षण सर्वथा सदोष है । आरोप के लिए यह आवश्यक नहीं है कि समान-विभक्तिक निर्देश ही हो ।

याताः कणादतां केचिदपरे विन्ध्यवासिताम् ।
शबरस्वामितामन्ये शास्त्रकारास्तवारयः ॥
—अ० र० पृ० ३७ ।

इस उदाहरण में शत्रु पर कणाद आदि होने का आरोप है । विषय शत्रु का निर्देश प्रथमा विभक्ति में हुआ है और विषयी कणाद आदि का

---

१. इस सम्बन्ध में आलंकारिकों के विभिन्न मतों का हेमचन्द्र ने इस प्रकार उल्लेख किया है—
अत्र च केचिच्छब्दारोपपूर्वकमर्थारोपं ब्रुवते । अपरे विपर्ययम्, अन्ये यौग-पद्यं नोभयम् । एष एव च युक्तः पक्षः । —काव्यानु० पृ० २६६ ।

द्वितीया में । अतः इनमें सामानाधिकरण्येन निर्देश नहीं है । यदि शोभाकर के अनुसार इसमें आर्थ सामानाधिकरण्य मान भी लिया जाए तब भी उनकी परिभाषा तो अव्याप्त ही रहती है; क्योंकि उसमें शाब्द तथा आर्थ इन दो विभागों का निर्देश तो है नहीं । इसके अतिरिक्त **'नीलमुत्पलम्'** इस उदाहरण को देखिए । इसमें दो भिन्न वस्तुओं नील गुण तथा उत्पल जाति का समान-विभक्तिक निर्देश है पर क्या इसमें आरोप माना जा सकता है ? शोभाकर का आरोप-लक्षण इस प्रकार अतिव्याप्त भी है । उनकी परिभाषा में असम्भव दोष भी है क्योंकि दो भिन्न वस्तुओं का कभी भी समानविभक्तिक निर्देश शब्दतः नहीं होता है । जयरथ ने इन्हीं दोषों के कारण शोभाकर की परिभाषा को सर्वथा त्याज्य माना है ।

आरोप और लक्षणा

कतिपय प्राचीन आचार्यों के अनुसार (जिनमें अलंकारभाष्यकार मुख्य हैं, जिनका ग्रंथ अभीतक उपलब्ध नहीं हो पाया है) रूपक या अभेदप्रतीति की प्रक्रिया के मूल में सारोपा लक्षणा है ।[1] लक्षणा के दो भेद हैं गौणी तथा शुद्धा । गौणी सारोपा लक्षणा सादृश्यमूलक है। **'गौर्वाहीकः'** इसमें वाहीक को बैल, उन दोनों में विद्यमान गुणों के साम्य को लेकर कहा गया है । शुद्धा सारोपा लक्षणा का उदाहरण 'आयुर्घृतम्' है । घी को आयु, सादृश्य के आधार पर नहीं, अपितु अन्य सम्बन्ध (**अतिशयकार्यकारित्व**) के आधार पर बताया गया है । यदि सारोपा लक्षणा रूपक के मूल में है तो यह अलंकार न केवल सादृश्य से अपितु सम्बन्धान्तर से भी माना जाना चाहिए । शोभाकर ने अलंकारभाष्य की **'लक्षणापरमार्थं यावता रूपकस्वरूपम्'** इस मान्यता का पूर्ण समर्थन किया है । इनके अनुसार रूढा लक्षणा में तो प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ नहीं हो सकता । व्यंग्यार्थ का पुट न रहने से चारुता नहीं होती, और इसके विना रसपरि-पोषकता नहीं आती । अतः रूढ़ा लक्षणा को किसी भी अलंकार का मूल नहीं माना जा सकता । प्रयोजनवती लक्षणा में व्यंग्यार्थ का पुट और उससे उत्पन्न चारुता तथा रसपरिपोषकता होने के नाते, उसे रूपक का आधार मानना चाहिए ।[2] यह लक्षणा सादृश्य तथा सम्बन्धान्तर दोनों से होती है । अतः तन्मूलक

---

१. **लक्षणापरमार्थं यावता रूपकस्वरूपम्** ।
—अलंकारभाष्य वि० पृ० ४४ पर उद्धृत ।

२. देखिए—अ० र० पृ० ३२-३३ ।

रूपक को भी उभय सम्बन्ध पर आधारित आरोप से मानना चाहिए, क्योंकि यह कहाँ का न्याय है कि सादृश्य-सम्बन्ध प्रयुक्त लक्षणा से तो अलंकार माना जाए और सम्बन्धान्तर से नहीं।

साद्दश्यसम्बन्धनिबन्धनाया अलंकृतित्वं यदि लक्षणायाः।
साम्येऽपि सर्वस्य परस्य हेतोः सम्बन्धभेदेऽपि तथैव युक्तम्।

—अ० र० पृ० ३३।

रूपक की सादृश्यमूलकता

प्राचीन आचार्यों में दण्डी निश्चित रूप से सम्बन्धान्तर से होने वाली लक्षणा को रूपक का आधार मानने के लिए तैयार नहीं है। उनके अनुसार रूपक सादृश्यनिमित्तक अलंकार है।

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। —काव्यादर्श, २।६६।

रुय्यक को भी यही अभिमत है। इसीलिए उन्होंने दण्डी के इस प्रमाण-वचन को '**साधर्म्यं त्वनुगतमेव**' कहने के साथ उद्धृत भी किया है।[1] जहाँ आरोप सम्बन्धान्तर से होता है वहाँ केवल वैचित्र्य होता है, अलंकार नहीं।[2] सादृश्य-निमित्तक आरोप को ही रूपक मानने वाले दण्डी प्रभृति

---

१. उद्भट के लक्षण से यह सर्वथा स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे रूपक को सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध से मानते थे या नहीं। 'एक पद का दूसरे पद से योग' इस बात की संभावना देता है कि उद्भट सादृश्येतर सम्बन्ध में भी रूपक मानने को प्रस्तुत है विशेषकर इसलिए भी इस संभावना को पुष्टि मिलती है क्योंकि उन्होंने रूपक-लक्षण में पिछली परम्परा से चले आ रहे औपम्य, साम्य आदि शब्दों का परित्याग किया है। उनके अनुसार एक पद प्रधान होता है दूसरा गुणवृत्ति; तिलक ने अन्तिम का अर्थ किया है 'धर्मेषु वर्तमानम्' और इस आधार पर ही कदाचित् उद्भट को सादृश्यमूलकता अभीष्ट रही होगी, यह अनुमान लगा सकते हैं। पर प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार गुणवृति का अर्थ यदि हम लक्षणा का व्यापार मान ले तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि उद्भट रूपक को कदाचित् सादृश्यमूलक नहीं भी मानते थे।

२. इहान्ये सादृश्यनिमित्त एवारोपो रूपकं न सम्बन्धान्तरनिमित्तकोऽपि तेन सम्बन्धान्तरपूर्वक आरोपो वैचित्र्यमात्रं न त्वलंकारः कश्चिदिति मन्यन्ते यत्पठन्ति च उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकम्...। —अ० र० पृ०३२।

आचार्यों का यही मन्तव्य है। सर्वस्व के अनुसार रुय्यक भी इसी मत के समर्थक हैं। सर्वस्व के टीकाकार जयरथ अलंकारभाष्य तथा अलंकाररत्नाकर से सहमत हैं और उन्होंने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि रुय्यक भी सम्बन्धान्तर आरोप को रूपक का मूल मानते हैं। उन्होंने यह बात रुय्यक के एक अप्राप्य ग्रंथ अलंकारानुसारिणी के आधार पर सिद्ध की है। उसमें **'अमृत-कवलः शोभाराशिः'**... (वि० पृ० ४४) के उदाहरण में इन्दु में श्रद्धा का आरोप वर्णित है। इन्दु और श्रद्धा में कार्यकारणसम्बन्ध है, सादृश्य का सम्बन्ध नहीं। रुय्यक ने, जयरथ के अनुसार, इसमें मालादीपक माना है, अतः उन्हें भी सम्बन्धान्तर से होनेवाले आरोप से रूपक अभिमत है। अलंकारानुसारिणी अभी तक उपलब्ध नहीं है अतः निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर कम से कम अलंकारसर्वस्व में केवल सादृश्यनिमित्तक आरोप को ही रूपक का आधार माना गया है। सर्वस्व में आए सभी उदाहरण, तथा **'साधर्म्यं त्वनुगतमेव'** यह उक्ति इस सम्बन्ध में प्रमाण है। जयरथ ने भी इस उक्ति के व्याख्यान में यही स्वीकार किया है—

अनेन च सादृश्यनिमित्त एवारोपो रूपकमित्युक्तं भवति।

—वि० पृ० ४४।

आचार्य जगन्नाथ भी सर्वस्व की इस मान्यता से सहमत हैं—

सादृश्यमूलकमेव च तादात्म्यं रूपकमामनन्ति। —रसग० पृ० २९७।

उन्होंने अलंकाररत्नाकर के मत का अनुवाद देकर खण्डन भी किया है। यद्यपि स्मृति चिन्ता आदि अनेक कारणों से पैदा हो सकती है पर जिस प्रकार सादृश्यमूलक स्मृति को ही स्मरणालंकार का आधार माना जाता है, उसी प्रकार सादृश्य के अतिरिक्त कार्यकारणभाव आदि अनेक सम्बन्धों से आरोप सम्भव होने पर भी सादृश्यमूलक आरोप से ही रूपक मानना चाहिए।[1] अतः गौणी सारोपा लक्षणा को ही आरोप का आधार माना जा सकता है। रूपक में विषयी विषय को अपने रूप में रंग लेता है। सारोपा लक्षणा में यदि अप्रकृत द्वारा प्रकृत का रूपण नहीं होता तो हम सारोपा लक्षणा पर

---

१. **किंच सादृश्यमूलकं स्मरणं स्मरणालंकारः, नतु चिंतादिमूलमिति भवतैव पूर्वमुदितम्। तत्र यदि सादृश्यामूलकस्यापि कार्यकारणादिकयोः कल्पितस्य तादूरूप्यस्य रूपकत्वमभ्युपेयते तदा सादृश्यामूलकस्य चिन्तादि-मूलस्य स्मरणस्याप्यलंकारत्वमभ्युपेयताम्।** —रसग० पृ० २९८।

आधारित प्रयोग को रूपक नहीं मान सकते। सारोपा लक्षणा पर आधारित प्रत्येक प्रयोग रूपक नहीं है। रूपक का अपना स्वरूप तथा प्रयोजन है। विषयी द्वारा विषय का अवष्टम्भन या रूपण उसका स्वरूप है। विषय में अतिशय का आधान करते हुए उन दोनों में चमत्कारभरी अभेदप्रतीति उसका प्रयोजन है। जहाँ स्वरूप तथा प्रयोजन न होगा वहाँ रूपक न होकर केवल लक्षणा होगी, इस आधार पर अलंकारभाष्यकार के **'लक्षणापरमार्थं यावता रूपकस्वरूपम्'** से प्रस्तुत लेखक सहमत नहीं है। अवश्य ही, आरोप सादृश्यमूलक लाक्षणिक प्रयोग द्वारा सम्भव है पर केवल इसलिए लक्षणामात्र को रूपक नहीं माना जा सकता। अलंकार होने के लिए उस में कविकृत विच्छित्ति आवश्यक है, **'गौर्वाहीकः'** जैसे प्रयोगों में केवल लक्षणा है रूपकालंकार नहीं।

त्रिविध भेद

उपमादि के समान रूपक में भी साधारण धर्म का निर्देश अनुगामितया, वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से हो सकता है।

कन्दर्पद्विपकर्णकम्बुमसितैर्दानाम्बुभिर्लाञ्छितम्,
संलग्नाञ्जनपुञ्जकालिकमलं गण्डोपधानं रतेः।
व्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः संच्छाद्यमानोदरं,
पश्यैतच्छशिनः सुधासहचरं बिम्बं कलंकांकितम्॥

—वि० पृ० ४४।

यहाँ 'सुधासहचर' की अनुगामिता है, 'लाञ्छित' और 'अंकित' में वस्तुप्रतिवस्तुभाव, तथा कलंकदान में बिम्बप्रतिबिम्बभाव। दीक्षित रूपक के लक्षण में साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं मानते है। इसीलिए उन्होंने लक्षणमें बिम्बविशिष्ट[1] शब्द रखा है। रूपक का स्वरूप अभेदप्रतीति या ताद्रूप्यप्रतीति का है। यह प्रतीति अनुगामिता तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव दोनों से ही सम्भव है। अतः जहाँ साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है वहाँ ताद्रूप्य को रूपक से भिन्न अलंकार में नहीं रखा जा सकता। पुनश्च जब उपमा आदि में साधारण धर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव के माध्यम से सादृश्य सम्भव है, तो रूपक में उसके आधार पर ताद्रूप्यप्रतीति भी सम्भव है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिए अप्पय्यदीक्षित के उपर्युक्त मत को उनकी भ्रान्ति माना है।

---

१. देखिए—चित्रमी० पृ० ५६।

यदपि रूपके बिम्बप्रतिबिम्बभावो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्येव ।

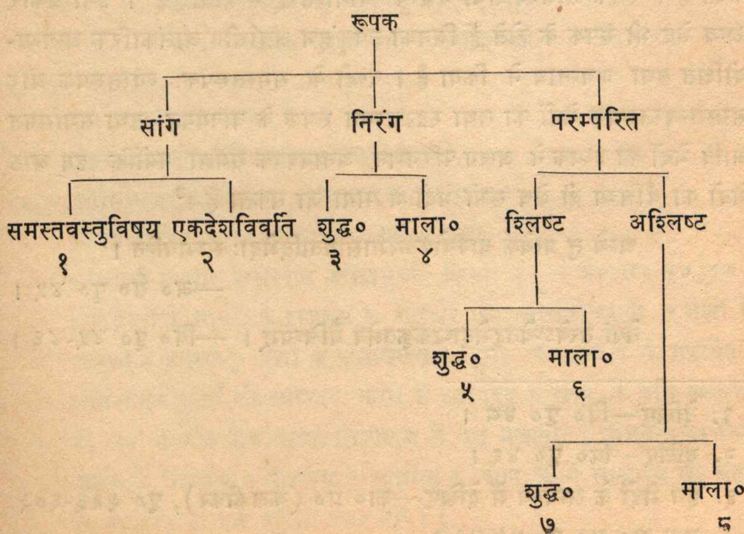
—रसग० पृ० २२७ ।

पण्डितराज ने अपने इस मत के समर्थन में विमर्शिनी से उपर्युक्त उदाहरण उद्धृत करते हुए रूपक में अनुगामिता, वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से साधारण धर्म की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है। अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ आदि ने श्लिष्ट, उपचरित आदि साधारण धर्मों के आधार पर भी रूपक के भेद गिनाए हैं, जिनका उल्लेख सर्वस्वकार ने नहीं किया है।

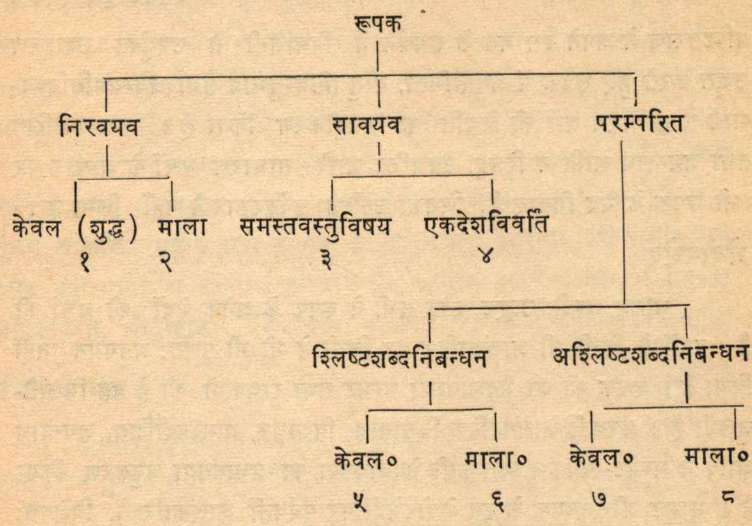
भेदोपभेद

भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट सभी ने रूपक के अनेक भेदों की चर्चा की है। इनमें से किसी भी आलंकारिक का किसी ने भी पूर्णतः अनुगमन नहीं किया है। रूपक की जो भेदव्यवस्था मम्मट तथा रुय्यक ने की है वह मिलती-जुलती है। परवर्ती आलंकारिक विद्यानाथ, विद्याधर, अप्पय्यदीक्षित, जगन्नाथ आदि ने मम्मट-रुय्यक-सम्मत इसी भेदव्यवस्था का प्रधानतया अनुसरण किया है। मम्मट और रुय्यक के इन भेदोपभेदों पर पूर्ववर्ती आलंकारिकों, विशेषतः रुद्रट का प्रभाव है। मम्मट तथा रुय्यक ने रूपक के जो भेदोपभेद बताए हैं उनकी तालिकाएँ निम्नांकित हैं—

मम्मट का रूपक-विभाग



रुय्यक का रूपक-विभाग



जयरथ के अनुसार सावयव के दोनों भेद श्लिष्ट हो सकते हैं ।[1] मालोपमा की भाँति मालारूपक के भेद भी रुय्यक को, जयरथ के अनुसार, अभिमत हैं ।[2] रशनारूपक में वैचित्र्य नहीं होता, अतः मम्मट और रुय्यक इसे स्वीकार नहीं करते हैं । रूपक साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों तरह से होता है । इसी प्रकार अन्य भेद भी रूपक के होते हैं जिनका उपबृंहण अर्वाचीन आलंकारिक अप्पय्य-दीक्षित तथा जगन्नाथ ने किया है । दण्डी के समस्तरूपक, व्यस्तरूपक और समस्तव्यस्तरूपक भेदों का तथा रुद्रटसम्मत रूपक के वाक्यगत तथा समासगत आदि भेदों का रुय्यक ने अलग परिगणन अनावश्यक समझा क्योंकि इन आठ भेदों का वैचित्र्य ही शेष सभी भेदों में पाया जा सकता है ।[3]

अन्ये तु प्रत्येकं वाक्योक्तसमासोक्तादिभेदाः सम्भवन्ति ।
—अ० स० पृ० ४५ ।

तेषां तत्त्वेऽप्येतद्भेदाष्टककृतमेव वैचित्र्यम् । —वि० पृ० ४५-४६ ।

---

१. देखिए—वि० पृ० ४८ ।

२. देखिए—वि० पृ० ४६ ।

३. इन भेदों के सम्बन्ध में देखिए—का० प्र० (झलकीकर), पृ० ५९३-६०५ तथा अ० स० पृ० ४५-४६ ।

श्लेष-रूपक

जहाँ श्लेष और रूपक दोनों अलंकार होते हैं वहाँ 'निरवकाशत्वात् बली श्लेषः सर्वालंकारबाधकः' इस सिद्धान्त के आधार पर श्लेष प्रधान होता है।

अमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणं च चलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥
—अ० स० पृ० ५० ।

[मेघरूप सर्प से उत्पन्न विषरूप वर्षा की बूंदें वियोगिनियों के लिए चक्कर, विषयों में अरुचि, उदासीनता, प्रलय, मूर्च्छा, अन्धकार, देहपीडा और मरण हठात् पैदा कर देती हैं।]

सिर में चक्कर से लेकर मरण तक जिन आठ कार्यों का यहाँ वर्णन हुआ है, वे जल से नहीं अपितु विष से ही सम्भव हैं। विष में श्लेष (गरल तथा जल) मान कर ही वह मेघ में सर्प के आरोप का कारण बन सकता है अन्यथा नहीं। 'विद्वन्मानसहंस'[1] में पहले विद्वान् में मानस का आरोप हो जाता है अतः रूपक पूर्वसिद्ध है पर जलदभुजगज पद में रूपक पूर्वसिद्ध नहीं है क्योंकि पहले विष में श्लेष की प्रतीति होती है और उस के बाद रूपक सिद्ध होता है। अतः इस उदाहरण में श्लेष प्रधान है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने रुय्यक के इस मत को इसप्रकार व्यक्त किया है—

रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषमुत्थापयेद् यदि ।
तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते ॥ —नि० का० २१ ।

---

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—

विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते,
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर ।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो,
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥ —अ० स० पृ० ४७ ।

[विद्वानों के मानस के राजहंस! शत्रुओं के श्रीसंकोचरूपी कमलों के असंकोच के सूर्य! दुर्गों के अमार्गणरूप दुर्गा के मार्गण के महादेव! समिधारूप युद्धों को स्वीकार करने में अग्निदेव! सत्य के प्रति अनुराग ही सती के प्रति रोष, उसके निष्पादन में दक्ष प्रजापति! विजय-प्रारम्भरूप अर्जुन के भीमसेन! वीरश्रेष्ठ! स्वामिन्! आप अपने साम्राज्य का ब्रह्मा के सैकड़ों वर्षों तक शासन करते रहें।]

मम्मट का कथन है कि विष शब्द से गरल की प्रतीति श्लेष से नहीं होती, अपितु जलवाचक विष शब्द से पहले गरल अर्थ व्यंग्य होता है। यह गरलरूप व्यंग्यार्थ ही बाद में वाच्यालंकार रूपक का साधक है।

अत्र हालाहलं व्यंग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत्।

—का० प्र० (झलकीकर) पृ० २०६।

जयरथ न तो रुय्यक और न मम्मट से सहमत हैं। उनके अनुसार प्रकृत उदाहरण में न तो श्लेषालंकार है और न ध्वनि। श्लेष तो इसलिए नहीं है क्योंकि दो वाच्यार्थ प्रकृत तथा अप्रकृत हैं, और उनमें विशेष्यसाम्य (विष शब्द एक होने से) है। ध्वनि इसलिए नहीं है क्योंकि जलद में भुजग के रूपक से शब्द-शक्ति से ही विष के दो अर्थ वाच्य ही हैं, व्यंग्य नहीं। यदि रूपक के आधार पर विष शब्द से दो अर्थों को वाच्य न मानें तो जलद पर भुजग का आरोप ही व्यर्थ है। अतः प्रकृत उदाहरण श्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित रूपक का है।[1]

अभेदालंकार का अन्तर्भाव

शोभाकर ने अभेद को रूपक से भिन्न माना है। आरोप विषय का आरोप्यमाण के साथ अत्यन्त साम्य बताने के लिए जब विषयी में नियत रूप से रहने वाले धर्म का अभाव बताया जाता है ताकि उससे यह प्रतीति हो सके कि शेष सभी रूपों में विषय और विषयी में अत्यधिक साम्य है तो अभेदालंकार होता है।[2] उदाहरण के लिए औषधि को अतैलपूर सुरत-प्रदीप कहना।[3] किसी भी प्रदीप में तेल की आवश्यता होती है। औषधि को अतैलपूर सुरत-प्रदीप कहने से यह मालूम देता है कि औषधि का प्रदीप से केवल इतना अन्तर है कि उसे तैल की आवश्यकता नहीं, अन्यथा दोनों सर्वथा समान हैं। शोभाकर के अनुसार रूपक में अभेदमात्र की प्रतीति होती है पर अभेदालंकार में सर्वथा अभेद की प्रतीति होती है।

---

१. देखिए—वि० पृ० ५०।

२. नियतधर्महानावारोप्यमाणस्यातिसाम्यमभेदः। —अ० र० सू० २७। तथा उसकी वृत्ति भी देखिए।

३. वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्संगनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥

—कुमारसम्भव, १।१०।

अभेदमात्रप्रतीतौ रूपकं, नियतधर्महानावन्यतः सर्वतोऽभेदप्रतीतौ अभेदः........। —अ० र० पृ० ३८ ।

शोभाकर का यह मत ठीक नहीं है। अभेद को केवल साम्यदार्ढ्य की भिन्न प्रतीति के आधार पर रूपक से भिन्न मानना अनुचित है। प्रत्येक अलंकार के भेद-प्रभेदों में कुछ न कुछ प्रतीतिभेद होता है, पर इसलिए हम उन्हें भिन्न अलंकार तो नहीं मान सकते जब तक प्रतीति, चमत्कार और अभिव्यक्ति वस्तुतः भिन्न न हों। आरोप से होने वाली अभेदप्रतीति कहीं तो भेदप्रतीति को लेकर हो सकती है, और कहीं आरोप्यमाण में नियतधर्म की हानि या धर्माधिक्य[४] का विधान कर अभेद-प्रतीति को ही सर्वथा प्रधान बनाया जा सकता है। इस दूसरी स्थिति को हम 'दृढ़ारोप रूपक' की संज्ञा दे सकते हैं पर इसमें भी आरोपमूलक अभेदप्रतीति ही होती है अतः रूपक से उसे भिन्न नहीं माना जा सकता।

४. उदाहरण के लिए देखिए—अ० र० पृ० ३८-३९ तथा वि० पृ० ४९।

उपमामूलक अलंकार : परिणाम

मम्मट से पूर्ववर्ती किसी भी आलंकारिक ने इस अलंकार का उल्लेख नहीं किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकारों के अनुसार मम्मट को इसका अन्तर्भाव रूपक में अभीष्ट है, पर उन्होंने स्वयं इसका कोई संकेत या उल्लेख नहीं किया है। रुय्यक का कोई भी टीकाकार इस बात का संकेत नहीं देता कि उन्होंने इस अलंकार का स्वरूप-निरूपण सर्वप्रथम किया है। सम्भव है कि किसी अज्ञात आलंकारिक ने, हो सकता है कि अलंकारसार या अलंकारभाष्य के लेखक ने, इसकी उद्भावना की हो। रुय्यक से परवर्ती प्रायः सभी आलंकारिकों ने इस अलंकार को रूपक से पृथक् माना है, यद्यपि हेमचन्द्र जैसे कुछ आलंकारिकों ने भिन्न अलंकार के रूप में इसे मान्यता दी है। इससे अभीतक यही कहा जा सकता है कि परिणाम अलंकार के उद्भावक आचार्य रुय्यक हैं।

परिणामलक्षण तथा उसका रूपक आदि से भेद

आरोप में सदा दो वस्तुएँ होती हैं—आरोपविषय तथा आरोप्यमाण विषयी। उपमा में हम इन्हीं को क्रमशः उपमेय तथा उपमान कहते हैं। उपमान उपमेय का सदा उपस्कार करता है, क्योंकि एक दृष्टि से उपमेय को आधेयगुण तथा उपमान को गुणाधाता माना जाता है। जब कवि मुख की उपमा चन्द्र से देता है तो चन्द्र के सौन्दर्य की मुख में प्रतीति होती है। इसी सादृश्य-प्रतीति के बाद उपमा का कार्य विश्रान्त हो जाता है। रूपक में जब मुख को कवि चन्द्र कहता है तो चन्द्र-सौंदर्य की मुख में अभेदेन सादृश्य-प्रतीति होती है। इसी प्रकार जब मुख में कवि चन्द्र की सम्भावना करता है तो चन्द्रसौंदर्य मुख का उपस्कार करता है। उपमा में यह उपरञ्जन सादृश्यप्रत्यायन तक सीमित है। रूपक में वह तादूप्यप्रतीति में पर्यवसित होता है और उत्प्रेक्षा में साध्याध्यवसाय के सौन्दर्य में। इन तीनों ही अलंकारों में उपमान या आरोप्यमाण उपमेय या आरोपविषय का उपरञ्जन करता है। वही उसका अंतिम उद्देश्य है। वाक्यार्थ की विश्रान्ति भी प्रकृतार्थ के उपरञ्जन से हो जाती है। परिणामालंकार में कवि जिस आरोप्यमाण का प्रयोग करता है वह प्रकृतार्थ का उपरञ्जन तो करता ही है पर साथ ही उसकी प्रकृतार्थ में उपयोगिता भी होती

है ।[1] रूपक में विषयी का आरोप प्रकृतार्थोपरञ्जन कर विश्रान्त हो जाता है। परिणाम में वह आरोपविषय बनकर विश्रान्त होता है । 'मुखं चन्द्रः' की सौंदर्यप्रतीति में चन्द्र का मुख के रूप में कोई उपयोग नहीं है। मुख में चन्द्र के रूप का आरोप भर होता है । रूपक के रूपसमारोप और परिणाम के रूप-समारोप में भी थोड़ा अन्तर है । प्रथम में विषयी विषय को अपने रूप से सर्वथा रूपित कर देता है; विषय का रूप विषयी के रूप में डूब सा जाता है, वह अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है पर परिणाम में विषयी का उपयोग शेष रहता है अतः वह विषयी के रूप में सर्वथा अपने को नहीं डुबाता । वह अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता । 'मुखं चन्द्रः' में मुख चन्द्र के सौंदर्य में विलीन हो जाता है और फिर उसका कोई उपयोग न होने के नाते उसका स्वरूप नष्ट-सा हो जाता है। पर इसके विपरीत 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति' परिणामालंकार के इस उदाहरण में चन्द्र अपने रूप से मुख को रूपित तो करता ही है पर साथ ही मुख अपना स्वरूप नहीं खोता क्योंकि अभी भी उसका तापशमन के साथ उपयोग शेष है । उपर्युक्त उदाहरण का विश्लेषण करने पर उसमें दो अंश बताए जा सकते हैं। एक है मुखचन्द्र और दूसरा है तापशमन । प्रथम अंश रूपसमारोप का है, दूसरा उपयोग का, श्री चक्रवर्ती ने इसी को व्यवहारान्त आरोप[2] कहा है । जयरथ इसे प्रकृत का अप्रकृतव्यवहारविशिष्ट[3] होना कहते हैं । इसका अर्थ है कि परिणाम में न केवल रूपसमारोप होता है अपितु व्यवहारसमारोप भी होता है । प्रकृत पर अप्रकृत का व्यवहारसमारोप ही प्राकरणिक अर्थ की सिद्धि में समर्थ होता है, यही उसकी उपयोगिता है । समासोक्ति में भी अप्रकृत के व्यवहार का प्रकृत पर आरोप होता है पर वहाँ अप्रकृत—विषयी का उपादान नहीं होता वह प्रतीय-मान रहता है, पर परिणाम में विषय तथा विषयी दोनों का उपादान होता है, और फिर अप्रकृत प्रकृतोपयोगी होता है । आरोप्यमाण यदि केवल प्रकृतार्थ का उपरंजन करता है तो उसमें केवल औचित्य भर है, पर यदि वह प्रकृतार्थ का सम्पादक भी है तो वह उपयोगी है। परिणाम में यदि प्रकृतार्थ पर

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ५१ ।

२. अतो व्यवहारान्तमारोपः, नतु रूपकन्यायेन रूपसमारोपमात्रम्...।

—संजी० पृ० ५८ ।

३. प्रकृतमप्रकृतव्यवहारविशिष्टतयावतिष्ठते । —वि० पृ० ५१ ।

अप्रकृतार्थ का आरोप (रूपसमारोप ही नहीं, अपितु व्यवहार-समारोप भी) न किया जाए तो प्रकरणार्थ की सिद्धि न होगी।

'सौमित्रमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय'[1]—राम ने नाविक को लक्ष्मण की मैत्री उतराई दी। यहाँ प्रकृत कार्य है नदी-संतरण। उसके लिए आवश्यक या उपयोगी है उतराई, न कि मैत्री। आरोप की दृष्टि से विषयी है उतराई और विषय है मैत्री। केवल मैत्री का प्रकृत कार्य में उपयोग नहीं है, अतः मैत्री में विषयी—उतराई—के व्यवहार का आरोप भी करना आवश्यक है। तभी वह प्रकृतार्थ की सिद्धि कर सकेगा। इस प्रकार आरोप्यमाण, न केवल प्रकृतार्थ का उपरंजन करता है अपितु उसका कार्यसिद्धि में उपयोग भी है। यही औचित्य और उपयोग का अन्तर है।

औचित्यं हि सिद्धस्य सतः[2] **प्रकृतार्थोपरंजक भवति, उपयोगः पुनः सिद्धावेव प्रकृतार्थहेतुतां भजते।** —वि० पृ० ५२।

प्रकृतार्थ की दृष्टि से आरोप्यमाण का औचित्य तो सभी अलंकारों में रहता है पर उसका उपयोग केवल परिणाम में ही होता है। उत्प्रेक्षाप्रकरण में जयरथ ने इस बात को पुनः दोहराया है।

न ह्यौचित्यमेव तस्य (परिणामस्य) **स्वरूपम्, किन्तु यथोक्तं प्रकृतोपयोगित्वम्। औचित्यं च नोत्प्रेक्षायां विरुद्धम्। तस्य सर्वत्र भावात्।**

—वि० पृ० ७७।

---

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है—

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय।
व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतकोदञ्चदक्षं,
कृच्छ्रादन्वीयमानस्त्वरितमथ गिरिं चित्रकूटं प्रतस्थे। —अ० स० पृ० ५१।

—शिव की मौलिमाला गंगा को सीता, लक्ष्मण और स्वयं तीसरे राम ने पारकर उस नाविक (निषाद) को लक्ष्मण की मित्रता उतराई दी। इसके बाद विशाल स्तनों वाली शबर युवतियों के द्वारा कौतुकभरे नयनों से कष्टपूर्वक अनुसृत राम शीघ्र ही चित्रकूट पर्वत की ओर चल पड़े।

२. निर्णयसागर के 'प्रकृतार्थोपलम्भकम्' पाठ से दूसरी आदर्श पुस्तकों में प्राप्य 'प्रकृतार्थोपरजंकम्' पाठ अधिक उपयुक्त है।

इस प्रकार परिणाम के अतिरिक्त अन्य अलंकारों में प्रकृतार्थ के लिए उपमान, आरोप्यमाण या विषयी का औचित्य माना जा सकता है, उपयोग नहीं। प्रकृतोपयोगिता तो परिणाम का ही असाधारण लक्षण है। जहाँ जहाँ प्रकृतोपयोगिता नहीं है, वहाँ वहाँ परिणाम न होगा, और जहाँ भी प्रकृतोपयोगिता होगी वहाँ परिणाम मानना आवश्यक है। इस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर भी प्रकृतोपयोगिता को परिणाम का असाधारण लक्षण माना जा सकता है। जिस प्रकार अनन्वय में शब्दैक्य का विधान उचित है, अपरिहार्य नहीं पर लाटानुप्रास में शब्दैक्य उसका स्वरूप है अतः अपरिहार्य है, इसी प्रकार परिणाम में आरोप्यमाण का कार्य में उपयोगी होना उसका अपरिहार्य स्वरूप है, यही नहीं कि केवल उसका औचित्य ही हो।

दो मत

आरोप्यमाण प्रकृतार्थ का उपरंजक ही नहीं अपितु प्रकृतोपयोगी भी होता है, यहाँ तक तो सभी टीकाकार तथा परवर्ती आलंकारिक सहमत हैं पर आरोप्यमाण प्रकृतात्मना परिणत होकर उपयोगी होता है अर्थात् अप्रकृत का प्रकृत के रूप में परिणाम होता है या प्रकृत स्वयं अप्रकृत का व्यवहार लेकर प्रकृतकार्योपयोगी होता है, इस सम्बन्ध में आलंकारिकों में मतभेद है। रुय्यक के परिणामविवेचन में इन दोनों मतों के लिए स्थान है।

परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोगः। —अ० स० पृ० ५१।

इससे तो यह अर्थ निकलता है कि आरोप्यमाण प्रकृतरूप में परिणत होकर प्रकृतकार्योपयोगी होता है।[1] इसी के आगे '**प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन**' इससे यह मालूम होता है कि प्रकृत अप्रकृत में परिणत होकर प्रकृतकार्योपयोगी होता है अर्थात् '**प्रकृतमप्रकृतरूपतया परिणमति**'। शोभाकर, जयरथ तथा विद्याधर द्वितीय मत के समर्थक हैं—

प्रकृतमप्रकृतरूपतया परिणमति। —अ० र० पृ० ३६।

अतश्च प्रकृतमप्रकृततया परिणमतीति परिणामः। —वि० पृ० ५२।

(क) परिणमति यत्र विषयः प्रस्तुतकार्योपयोगाय।

(ख) यत्रारोपविषयः प्रकृतकार्यसिद्ध्यर्थमारोप्यमाणात्मतया परिणमति।

—एका० पृ० २२१।

---

१. **अप्रकृतं प्रकृतात्मतया परिणमति। यही मत श्रीविद्याचक्रवर्ती का भी है।**

शोभाकर तथा जयरथ विद्याधर से पूर्ववर्ती हैं, अतः त्रिवेदी का यह कथन तो असंगत है कि यह मत विद्याधर का है।[1] वस्तुतः रुय्यकक ा 'प्रकृतमारोप्यमाण-रूपत्वेन परिणमति' वाक्य स्वयं इस मत के लिए पर्याप्त निर्देश है।

प्रथम मत अर्थात् 'अप्रकृतं प्रकृतात्मतया परिणमति' का बीज भी रुय्यक के 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे' इस लक्षण तथा 'परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोगः' उसकी इस वृत्ति में है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इसी मत का प्रतिपादन अपने व्याख्यान तथा निष्कर्ष में किया है।

यदा तु विषयी रूपात् स्वस्मादप्रच्युतो भजेत्।
उपयुक्त्यै पराकारं परिणामस्तदा मतः॥—नि० का० २३।

आरोप्यमाणः प्रकृते यदासावुपयुज्यते।
परिणामस्तदा तेन रूपकादस्य भिन्नता॥ —वहीं, २४।

परिणामालंकारे पुनरारोप्यमाणं··प्रकृतरूपमपह्नुवानं सत् तदात्मत्वेनो-पयुज्यते। —संजी० पृ० ४५।

इसी मत को विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ आदि आचार्य मानते हैं।

आरोप्यमाणमारोपविषयात्मतया स्थितम्।
प्रकृतस्योपयोगित्वात् परिणाम उदाहृतः॥—प्रतापरुद्र० पृ० ३७७।

आरोप्यमाणस्यारोपविषयात्मतया परिणमनात्परिणामः।
—सा० द० (काणे), पृ० २५।

परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना। —चित्रमी०।

विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृते प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः। —रसग० पृ० २४८।

दोनों मतों का समन्वय

परिणाम में आरोपविषय पर विषयी के रूप तथा व्यवहार दोनों का आरोप होता है। प्रकृत का यह अप्रकृतव्यवहारविशिष्ट होना उसका अप्रकृतरूप में परिणाम है। यह परिणाम दूध का दही बनना नहीं, जिसमें

---

१. 'In this view Vidyādhara seems to stand alone.'
—एका० पृ० ४५३

दूध अपना स्वरूप ही खो बैठता है। प्रकृतार्थ से साक्षात् सम्बन्ध सदा प्रकृत या विषय का होता है, विषयी का नहीं, अतः विषयी के उपयोग के लिए यह आवश्यक है कि वह विषयरूप में परिणत हो। अस्तु, जहाँ तक व्यवहारसमारोप का प्रश्न है विषय विषयी के व्यवहार में परिणत होता है और जहाँ प्रस्तुतार्थ में उपयोग का प्रश्न है विषयी विषय का रूप धारण करता है। परिणामालंकार में दो प्रक्रियाएँ हैं, एक व्यवहार-समारोप की और दूसरी प्रकृत-कार्योपयोग की। प्रथम प्रक्रिया की व्याख्या प्रकृत अप्रकृतात्मना परिणत होता है—'प्रकृतमप्रकृतात्मना परिणमति'—यह मत करता है और दूसरी प्रक्रिया की अप्रकृत प्रकृतात्मना परिणत होता है—'अप्रकृतं प्रकृतात्मना परिणमति'—यह मत। समन्वय की इसी दृष्टि से जगन्नाथ द्वारा अलंकारसर्वस्व के लक्षण की आलोचना[1] का परिहार भी हो जाता है।

सौमित्रमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय।

इस उदाहरण में सौमित्रमैत्री पर उतराई के व्यवहारसमारोप के लिए यह कहना पड़ेगा कि प्रकृत अप्रकृत रूप में परिणत हुआ है।

सौमित्रमैत्री प्रकृता आरोप्यमाणसमानाधिकरणातररूपत्वेन परिणता।

—अ० स० पृ० ५२।

यहाँ मैत्री को उतराई मानने के बाद उस उतराई का सामान्य उतराई के रूप में नहीं अपितु मैत्री के रूप में उपयोग हुआ है अतः कहेंगे कि अप्रकृत उतराई मैत्री-रूप में दी गई है। अप्रकृत उतराई प्रकृत (मैत्री) के रूप में काम आई है। इसी प्रकार 'वचोभिः[1] क्षितिभर्तुरुपायनं चकार'[2] राजा को वाणी का उपहार दिया—इस उदाहरण में वाणी (प्रकृत) पर उपहार (अप्रकृत) के व्यवहार का आरोप है अर्थात् प्रकृत अप्रकृतात्मना परिणत हो गया है (प्रकृतमप्रकृतात्मना परिणमति)। दुनिया में राजाओं को भेंट साधारणतः घोड़े हाथियों की दी जाती रही है। पर यहाँ उपहार (अप्रकृत) वाणी (प्रकृत) के रूप में दिया

---

१. देखिए—रसग०, पृ० २५१।

२. पूरा श्लोक इस प्रकार है—

अथ पक्त्रिमतामुपेयिवद्भिः सरसैर्वक्त्रपथाश्रितैर्वचोभिः।
क्षितिभर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्परतस्तु तुरङ्गमाद्यैः॥

—इसके बाद पहले मुखमार्ग पर आश्रित प्रौढ़ वचनों से राजा को उपहार दिया और बाद में घोड़े आदि का।

गया है, अतः अप्रकृत का प्रकृतात्मतया उपयोग हुआ है, अप्रकृत का प्रकृत के रूप में नहीं। यही बात अप्पय्यदीक्षित के 'प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा' तथा जगन्नाथ के 'समन्तात् सन्तापं हरिनवतमालस्तिरयतु' उदाहरणों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पहले में कमल के रूप (सौन्दर्य) और व्यवहार (प्रसन्नता) का समारोप नयन पर है, और उसका वीक्षणरूप उपयोग विषय-नयन के रूप में है। दूसरे उदाहरण में तमाल की रमणीय शोभा (रूप) तथा पथिकों की श्रान्ति दूर करने (व्यवहार) का आरोप 'भगवदात्मा' में है। तमाल सन्तापहरण भगवान् के रूप में ही कर सकता है अतः उसका विषयात्मतया उपयोग है।[1]

दीक्षित ने रुय्यक के परिणाम-लक्षण को रूपक, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, अनुमान अलंकारों में अतिव्याप्त तथा दृष्टान्त से संकीर्ण परिणाम अलंकार में अव्याप्त माना है। प्रारम्भ में इस अलंकार के विशद विवेचन में यहाँ यह बात स्पष्ट की गई थी कि प्रकृत का अप्रकृत व्यवहार से विशिष्ट होना, रूप-समारोप के साथ व्यवहारान्त आरोप और प्रकृत का अप्रकृतात्मना उपयोग ऐसा स्वरूप है जो दूसरे अलंकारों में नहीं पाया जाता। अभिव्यक्ति और अनुभूति के इस भेद के कारण परिणाम का भिन्न अलंकार मानना ही उचित है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने परिणाम का रूपक से भेद स्पष्ट करते हुए परिणाम के स्वरूप को बड़ी विशदता के साथ स्पष्ट किया है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती का कहना है कि रूपक और परिणाम के विषयविवेचन में प्राचीन आचार्यों की बुद्धि भी चकरा जाती है।[2] इन दोनों के भेद का रहस्योद्घाटन संजीविनी में विशद रूप से किया गया है। एक प्रासंगिक अंश को हम यहाँ उद्धृत कर दे रहे हैं। इस अंश का उपसंहार संजीविनीकार ने कारिका में भी किया है।[3]

---

१. भगवदात्मतयैव तमालस्य संसारतापनिवर्तनक्षमत्वम्। मार्गश्रान्तजन-सन्तापहारकत्वरमणीयशोभाधारत्वाच्च तमालो विषयितयोपात्तः।

—रसग० पृ० २४८।

२. प्रायेणात्र प्राचामाचार्याणामपि व्यामोहकलानुवृत्तिरिति रहस्यमुद्घाटितं रूपकपरिणामविषयविवेचनस्य। —संजी० पृ० ५५।

३. देखिए—नि० का० २२-२५।

तत्रोपयोगित्वं वाक्यार्थानुप्रवेशपर्यन्तमारोपविवक्षायां स्यात्, तद्धि रूपके नास्ति मुखमेव चन्द्र इत्येतावतैव रूपकत्वसिद्धेः। तस्मादारोपम्यमाणं चन्द्रत्वादि मुखादौ ताद्रूप्यप्रतीत्याधानरूपेणोपरञ्जकत्वेनैव रूपालंकारेऽन्वयं भजते । × × × × परिणामालंकारे पुनरारोप्यमाणं न केवलं प्रकृतोपरंजकं, यावता प्रकृतरूपमपह्नुवानं सत् तदात्मत्वेनोपयुज्यते । अत इह वाक्यानुप्रेशान्तमारोपविवक्षा, सा चाप्रकृतस्य प्रकृतरूपापत्तावेवोपपद्यते न पुना रूपकवद (? द्) प्रकृतस्याप्रकृतरूपापत्तौ । × × × × × विषयित्वारोपणं विषये ताद्रूप्यप्रतीतिमाक्रान्तं चेद् विवक्ष्यते तदा ताद्रूप्यप्रतीतिजनकत्वमात्रमुपरञ्जकत्वमिति तावतैवारोपणस्य चरितार्थता। अतस्ताद्रूप्यप्रतीतिमात्रप्रसिद्ध्यर्थमप्रकृतं प्रकृतरूपापन्नं भवति रूपके । परिणामे तु प्रकृतोपयोगान्तमारोपविवक्षेति स्वरूपादप्रच्युतस्यैव प्रकृतस्याप्रकृतरूपोपग्राहित्वलक्षणावस्थान्तरापत्तिरेव । इतरथा रूपकन्यायेन प्रकृतस्य स्वरूपस्थगनेन प्रकृतमेव न प्रतीयेत का तत्र प्रकृतोपयोगिता, तदभावे च का रूपकविविक्तविषयता ?

—संजी० पृ० ५४-५५ ।

उपमामूलक अलंकार : सन्देह

भामह ने सर्वप्रथम ससन्देहालंकार के नाम से इसका निरूपण किया था। दण्डी को संशयोपमा में इसका अन्तर्भाव विवक्षित है, उन्होंने इसका पृथक् निरूपण नहीं किया है। संशय के विपरीत निर्णय में उन्होंने निर्णयोपमा भी मानी है।[1] उद्भट के समय इसका अभिधान सन्देह तथा ससन्देह दोनों ही था। 'ससन्देहं विदुर्बुधाः' और 'सन्देहनाम तत्' इस प्रकार दोनों ही अभिधान से उन्होंने इसका उल्लेख किया है। राजानक तिलक ने दोनों ही नाम के सम्बन्ध में प्रचलित परम्परा का स्पष्ट उल्लेख भी किया है—

अस्य चालंकारस्य ससन्देहसन्देहशब्दाभ्यां द्वाभ्यामप्यभिधानम्।

—विवृति, पृ० ५०।

भोज तथा रुद्रट इसे संशयालंकार कहते हैं। जगन्नाथ को छोड़ कर कुन्तक, मम्मट,[2] रुय्यक, शोभाकर, विश्वनाथ, जयदेव तथा अप्पय्यदीक्षित आदि प्रमुख आलंकारिकों ने ससन्देह के स्थान पर इसे केवल सन्देह कहना उचित समझा है। यह ठीक भी है क्योंकि अनुमान, हेतु, विरोध आदि अलंकारों को यदि सानुमान, सहेतु, सविरोध आदि नहीं कहा जाता तो सन्देह में 'स' का पुछल्ला लगाना बेकार है।

त्रिविध प्रत्यय

काव्यप्रतीति को सामान्यतः तीन रूपों में बांटा जा सकता है। काव्यप्रतीति से हमारा अभिप्राय कवि की चित्तवृत्ति तथा सहृदय की ज्ञानवृत्ति से है। भारतीय अलंकारशास्त्री ने ध्वनिवादी की भाँति कवि तथा सहृदय दोनों को ही महत्त्व दिया है। कवि किस भावना से उद्वेलित होकर अलंकारविधान करता है तथा अलंकारविशेष सहृदय में किस वृत्ति का सृजन करता है, इन दोनों की

---

१. काव्यादर्श, २ २७।

२. त्रिवेन्द्रम संस्करण का पाठ है 'स सन्देहस्तु'। इसी आधार पर यह संभावना है कि मम्मट स्वयं इसका नाम सन्देह मानते थे क्योंकि 'स' सन्देह के साथ एक शब्द नहीं है।

दृष्टियों से काव्यप्रतीति को प्रथमतः निश्चयात्मक, अनिश्चयात्मक इन दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं। साधारणतः अर्थ से अव्यभिचरित ज्ञान (या प्रवृत्ति-संवाद) को सम्यक् ज्ञान तथा अर्थ से व्यभिचरित (या प्रवृत्तिविसम्वाद) को असम्यक् ज्ञान कहा जाता है। शास्त्रसम्मत यह विवेचन ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य के निरूपण के लिए भले ही उपयोगी हो पर कवि तथा सहृदय की मानस-वृत्तियों या अनुभूतियों के विश्लेषण में हम इन परिभाषाओं का उपयोग नहीं कर सकते। आलंकारिकों के अनुसार मुख को कमल ही मान लेना निश्चयात्मिका काव्यप्रतीति है। भला कौन शास्त्रकार इसे सम्यक् ज्ञान मानने को तैयार होगा ? पर कवि और सहृदय के लिए तो यह सम्यक्ज्ञान है। सौन्दर्य का पारखी सहृदय तो मुख को मुख न समझकर कमल समझना सही ज्ञान समझेगा; उसे केवल रुधिर मान्सपेशियों आदि का संघात भर समझना तो अज्ञान है। विरही यक्ष के लिए धूम, ज्योति, सलिल और मरुत् का सन्निपात मेघ भले ही दूत का काम न दे किन्तु उस प्रकृतिपुरुष जलद को 'दूरबन्धु', 'भर्तुमित्र' और 'सन्तप्तानां शरणम्' मानने में कालिदास को कोई आपत्ति नहीं। अनिश्चय ज्ञान तो यह है कि कवि 'मुख है या कमल है, या चन्द्र' इस सन्देह में अथवा 'यह कमल है, पर वह तो केवल सरोवर में रहता है,' इस वितर्क में पड़े। इसी अनिश्चयात्मक ज्ञान के एक भेद संशय पर आधारित अलंकार सन्देह है। संशय में विचारतराजू के दोनों पलड़े अनियत रूप से नीचे ऊपर उठा करते हैं। न एक पक्ष शिथिल रहता है, न दूसरा दृढ़। कविमानस मुख-कमल की उभयावलम्बी प्रतीति पर दौड़ा करता है।

संशयो हि अनियतोभयांशावलम्बित्वेनोदेति। —वि० पृ० ६८।

और इसका कारण ? कवि ने कल्पना की भूमि पर मुख और कमल का सादृश्य देखा है फिर भला वह मुख पर कमल का आरोप क्यों न करे ? और इस सादृश्य विधान का फल ? रुय्यक का उत्तर है : दोनों में कवि अभेद बताना चाहता है।

अभेदप्राधान्य आरोप इत्येव। —अ० स० पृ० ५३।

आचार्य जगन्नाथ का कहना है कि भले ही कवि को कल्पनाभूमि पर दोनों में सन्देह उत्पन्न होता है (अर्थात् कवि की चित्तवृत्ति केवल आहार्य होती है) पर कविनिबद्ध पात्र को स्वारसिक या अनाहार्य सन्देह भी होता है।[1]

---

१. रसग० पृ० ३९१।

सन्देह में आरोप तथा अध्यवसाय

जयरथ के अनुसार रुय्यक सन्देह में न केवल आरोप मानते हैं अपितु अध्यवसाय भी उन्हें अभीष्ट है। अध्यवसाय में विषय का उपादान या तो सर्वथा नहीं होता जैसेकि अतिशयोक्ति में, और होता भी है तो विषयी द्वारा उसके निगरण की प्रक्रिया (निगीर्यमाणता) अवश्य रहती है। साध्याध्यवसाय सन्देह में भी हो सकता है।

रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण॥
—अ० स० ५५।

इसमें तिमिर आरोपविषय है। उसमें राग, नमन, स्थगन, पूरण, संकोच आदि विभिन्न धर्मों का आरोप किया गया है। इन विभिन्न धर्मों का आरोप वृक्ष, शैल, आकाश, धरा तथा दिशा इन विभिन्न आश्रयों के आधार पर सम्भव हुआ है। 'नु' शब्द विभिन्न सम्भावनाओं की प्रतीति कराने में सहायक है। पर यह सम्भावना सन्देह की है, क्योंकि कवि को विषय की अपेक्षा विषयी की ओर अधिक या कम झुकाव नहीं है। कवि की चित्तवृत्ति अनेक कोटियों में दोलायमान रहती है। यही रुय्यक का अभिमत है।

अत्रारोपविषयतिमिरे रागादि तर्वादिभिन्नाश्रयत्वेनारोपितम्। केचित्त्वध्यवसायाश्रयत्वेन सन्देहप्रकारमाहुः। —अ० स० पृ० ५५।

विमर्शिनी ने इसे ग्रन्थकार का मत माना है—

अनेन च सन्देहस्याध्यवसायमूलत्वमपि ग्रन्थकृतैवोक्तम्।—वि० पृ० ५५।

कतिपय आचार्य सम्भावनाद्योतक 'नु' शब्द के आधार पर उपर्युक्त उदाहरण में उत्प्रेक्षा मानते हैं किन्तु संजीविनीकार ने इस उदाहरण में उत्प्रेक्षा न मानकर अध्यवसायमूलक सन्देह का समर्थन किया है।

वस्तुतस्तु नेह सम्भावनाप्रतीतिः वितर्कस्यैककोटिपक्षपाताभावात्। अतो दोलायमानानाकोटिकोऽयं सन्देह एवेति भावः। —संजी० पृ० ६०।

शोभाकर ने रुय्यक के इस मत का खण्डन कर सन्देह को केवल आरोपगर्भ ही माना है। जगन्नाथ को भी रुय्यक तथा जयरथ का मत मान्य न हो सका। उन्होंने सन्देह (संशय) को अध्यवसानमूलक मानना उचित न समझा।[1]

---

१. देखिए—रसग० पृ० २५९।

जयरथ ने अध्यवसायमूलक सन्देह के स्वरूपसन्देह, हेतुसन्देह तथा फलसन्देह इन तीन भेदों का प्रतिपादन किया है ।[1]

भोज ने चिन्ता आदि से उत्पन्न स्मरण को अलंकारहेतु माना है[2] पर संशय अलंकार का आधार वे अतिसादृश्य ही मानते हैं । रुय्यक तथा जगन्नाथ इससे सहमत हैं ।[3] शोभाकर अवश्य साधर्म्य के अतिरिक्त निमित्तान्तर के आधार पर इस अलंकार को मानने के लिए तैयार हैं ।[4]

सन्देह के भेद

रुय्यक के अनुसार सन्देहभेदों की यह तालिका है—

सन्देह

शुद्ध | निश्चयगर्भ | निश्चयान्त | भिन्नाश्रय

शुद्ध सन्देह वह है जहाँ संशय में ही पर्यवसान हो, निश्चयगर्भ वह है जिसका संशय से प्रारम्भ हो मध्य में निश्चय हो और अन्त संशय में हो । निश्चयान्त वह है जिसमें संशय से उपक्रम और निश्चय में पर्यवसान होता है ।

मम्मट को भी प्रकारान्तर से ये ही भेद अभिमत हैं । प्राचीन आलंकारिकों में भामह का उदाहरण निश्चयगर्भ सन्देह का है ।[5] भट्टि का उदाहरण भी इसी में आता है ।[6] उद्भट ने शुद्ध तथा निश्चयगर्भ का उल्लेख किया है, निश्चयान्त का नहीं । निश्चयान्त में उपमेय तथा उपमान का अभेद स्पष्टतः प्रतिपादित हो जाता है अतः उसमें संदेह का सौन्दर्य नहीं रहता, इसलिए

१. वि० पृ० ५५ ।

२. सदृशादृष्टचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम् ।
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानस्वप्नाद्यपि न तद्बहिः ॥ —सरस्वती० पृ० ३७५ ।

३. देखिए—रसग० पृ० २५६ ।

४. तेन साधर्म्यं विहायापि निमित्तान्तरमवलम्ब्य कविप्रतिभोत्थापितः सन्देहोऽलंकार एव । —अ० र० पृ० ४५ ।

५. भामहालंकार, ३।४४ ।

६. भट्टिकाव्य, १०।६८ ।

इन्दुराज के अनुसार उद्भट इस तीसरे भेद को मानने के लिए तैयार नहीं है। वामन के लक्षणोदाहरण शुद्ध सन्देह के हैं। रुद्रट ने प्रथम तीनों भेदों को माना है। भोज ने सन्देह के, जिसे वे संशय कहते हैं, अनेक भेदोपभेद किए हैं पर अर्वाचीन आलंकारिकों को उद्भट-रुद्रट द्वारा निर्दिष्ट तथा मम्मट-रुय्यक द्वारा भलीभाँति निरूपित भेद ही स्वीकार हो सके।

त्रिविध भेद

अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों की भाँति सन्देहालंकार के भी साधारण धर्म के त्रिविध निर्देश के आधार पर तीन भेद होते हैं—

किं पंकजं किमु सुधाकरबिम्बमेतत् किं वा मुखं क्लमहरं मदिरेक्षणायाः।
यद् दृश्यते मधुकराभकुरंगकांतिनेत्रद्वयानुकृति कार्ष्ण्यममुष्य मध्ये॥

—वि० पृ० ५४।

इसमें क्लमहर तथा कार्ष्ण्य (कालिमा) पदों द्वारा समानधर्म का अनुगामितया निर्देश हुआ है।

किमिदमसितालिकलितं किं वा मुखं सुनीलकचम्।
इति संशेते लोकस्त्वयि सुतनु सरोऽवतीर्णायाम्॥ —वहीं।

इसमें 'असित' तथा 'सुनील' एक ही अर्थ के वाचक साधारण धर्म हैं। उनमें केवल सम्बन्धिभेद से भिन्नता है, अतः इनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव है। 'अलि' तथा 'कच' वस्तुतः भिन्न हैं पर सादृश्यप्रत्यायन के लिए उनमें एकता है। अलि बिम्ब है और कच प्रतिबिम्ब। अर्वाचीन आलंकारिकों ने भी इन भेदों को माना है। कुछ आलंकारिकों ने जैसेकि शोभाकर[1] तथा जगन्नाथ ने उपमेय तथा उपमान में समानधर्म तथा अनेकधर्म को निमित्त मानकर सन्देहालंकार के दो भेद किए हैं, पर सादृश्यमूलक अलंकारों का इस प्रकार विभाजन उचित नहीं है क्योंकि सादृश्यनिमित्तक होने से साधारणधर्म का उभयविध निर्देश अनेक अलंकारों में सम्भव है पर उन सभी का संग्रह सादृश्यमूलक होने से ही हो जाता है, भिन्न भेद मानने में कोई विशेष चारुता नहीं, जैसेकि विप्रतिपत्ति, उपलब्धि या अव्यवस्था आदि के भिन्नतत्वों के आधार पर सन्देह के भेदों में चारुता नहीं रहती है।

---

१. अ० र० पृ० ४२।

सादृश्यनिमित्तत्वेनैवास्य संग्रहसिद्धेः, विप्रतिपत्त्यादिनिमित्तान्तरवच्चारुत्वाभावात् । —वि० पृ० ५५ तथा अ० र० पृ० ४३ ।

वितर्कालंकार का सन्देह में अन्तर्भाव

भोज[1] तथा शोभाकर[2] ने इसे सन्देह से भिन्न अलंकार माना है । शोभाकर के अनुसार सन्देह में न तो साधक और न बाधक प्रमाण होता है, पर वितर्क में कवि की चित्तवृत्ति में सम्भावना का बाधक प्रमाण भी रहता है । 'मुख है या कमल' की प्रतीति सन्देह की है । 'कमल है पर वह तो सरोवर में रहता है' यह प्रतीति वितर्क की है, क्योंकि 'कमल है' इस सम्भावना-प्रतीति का बाधक प्रमाण 'वह तो सरोवर में रहता है' इस प्रतीति के द्वारा मिल जाता है । मम्मट तथा रुय्यक के 'अयं मार्तण्डः किं' निश्चयगर्भ सन्देह के इस प्रसिद्ध उदाहरण[3] को इसी आधार पर शोभाकर ने वितर्क का उदाहरण माना है । वितर्क की प्रतीति में भी एककोटिक ज्ञान नहीं रहता—**वितर्कस्यैककोटिपक्षपाताभावात्** ।[4] उसमें भी सन्देह की भाँति दोलायमान नानाकोटिक प्रतीति होती है अतः इनमें मौलिक भेद नहीं है । दोनों ही सादृश्य के आधार पर अलंकार माने जाते हैं अतः वितर्क को संदेह से भिन्न बताना उचित नहीं है । काव्यप्रकाश के टीकाकार उद्योतकर ने वितर्क को अलंकार इसलिए नहीं माना है क्योंकि उसमें वर्ण्यविषय में उत्कर्ष का आधान नहीं होता । अलंकार होने के

---

१. सरस्वती० ३।३६ ।

२. अ० र० पृ० ४५ ।

३. सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः,
कृशानुः किं साक्षात् प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुरः,
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः । —अ० स० पृ० ५४ ।

[क्या यह सूर्य है ? वह तो सात घोड़ों पर चलता है । क्या यह अग्नि है ? पर वह दिशाओं में नियतरूप से व्याप्त नहीं है । क्या साक्षात् यमराज है ? पर उसका वाहन तो भैंस है । तुम्हें युद्धस्थल में सामने देखकर शत्रु योद्धागण विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं !]

४. संजी० पृ० ६० ।

लिए यह आवश्यक है कि प्रस्तुतार्थ का उपस्कार हो। पर वस्तुतः वितर्क द्वारा सन्देह की भाँति वर्ण्य-विषय में सौन्दर्य-प्रतीति अवश्य होती है, किन्तु यह प्रतीति सन्देह-प्रतीति से तथा उससे होने वाले चमत्कार से भिन्न नहीं है, अतः वितर्क का अन्तर्भाव सन्देह में करना उचित है। भोज-प्रतिपादित वितर्क के सादृश्यमूलक भेदोपभेदों का अन्तर्भाव भी उपर्युक्त आधार पर सन्देह में सम्भव है। वितर्क या सन्देह के विसादृश्यमूलक भेदों को तो अलंकार ही नहीं माना जाना चाहिए।

उपमामूलक अलंकार : भ्रान्तिमान्

प्राचीन आलंकारिकों में भामह, भट्टि, उद्भट तथा वामन ने इसका उल्लेख नहीं किया है । दण्डी की मोहोपमा[1] में भ्रान्तिमान् अलंकार का अन्तर्भाव विवक्षित है । रुद्रट ने इसका नामतः उल्लेख तथा निरूपण किया है । भोज ने इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है[2] । बाद के प्रायः सभी आलंकारिक इसे मानते हैं । कुछ आलंकारिक जैसेकि भोज, अप्पय्यदीक्षित भ्रान्तिमान् के स्थान पर भ्रान्ति नाम ही अधिक पसन्द करते हैं । रुय्यक ने भ्रान्तिमान् शब्द का निर्वचन देते हुए कहा है कि भ्रान्तिरूप चित्त-धर्म इस अलंकार में रहता है अतःभ्रान्तिमान् कहना उचित होगा । **'भ्रान्तिश्चित्तधर्मः स विद्यते यस्मिन् भणितिप्रकारे स भ्रान्तिमान्'** । यह भ्रान्ति प्रकृत और अप्रकृत वस्तुओं में सादृश्य को देखकर होनी चाहिए । काम, शोक, भय उन्माद आदि से पैदा होने वाली भ्रान्ति को इस अलंकार का बीज नहीं माना जा सकता—**'सादृश्यप्रयुक्ता च भ्रान्तिरस्य विषयः'** । शुक्तिका में रजत की भ्रान्ति भी इन दोनों में विद्यमान समान तत्त्व के आधार पर होती है पर यह भ्रान्ति वस्तु के स्वभाव से जन्य है, स्वारसिक है, कवि-प्रतिभा की सृष्टि नहीं है अतः उसे भी भ्रान्तिमान् अलंकार मानना संगत नहीं है ।

सादृश्येऽपि कविप्रतिभोत्थापितस्यैवालंकारत्वं न पुनः स्वारसिकस्य ।

—वि० पृ० ५३ ।

शोभाकर के अनुसार सादृश्यमूलक तथा सादृश्येतरमूलक दोनों ही प्रकार की भ्रान्ति में प्रतीति एक ही प्रकार की होती है । इनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है ।

सादृश्यहेत्वन्तरयोर्भ्रमेषु न लेशतः क्वापि विशेषबुद्धिः ।

—अ० र० पृ० ५३ ।

अतः केवल निमित्तभेद के आधार पर भिन्न अलंकारों की उद्भावना उचित नहीं है ।

---

१. काव्यादर्श, २।२५-२६ ।

२. सरस्वती० ३।३५-३७ ।

प्रतीतिभेदे ह्यलंकारभेदो युक्तो न निमित्तभेदेऽलंकारानन्त्यप्रसंगात् ।—वहीं । इस आधार पर उन्होंने रुय्यक के भ्रान्तिमान् लक्षण की आलोचना भी की है । इनके अनुसार लक्षण में 'सादृश्याद्' पद का निवेश लक्षण को अव्यापक बनाता है क्योंकि इससे सादृश्येतर निमित्त (जैसेकि शोक, भावावेश आदि) से होने वाली भ्रान्ति को इस अलंकार के अन्तर्गत न रखा जा सकेगा, पर आलंकारिकों के बहुमत के अनुसार, जहाँ कहीं भी सादृश्येतर निमित्त को लेकर भ्रान्ति होती है वहाँ तो वास्तविक भ्रान्ति होगी और यदि कविप्रतिभाकृत चमत्कार हुआ तो कोई दूसरा अलंकार । अमरुक के

प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा,
पर्यंके सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य ।
हंहो चेतःप्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा,
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥

—अमरुशतक (नि० सा०) श्लोक १०२ ।

इस श्लोक में विरही की अपनी घनीभूत प्रेमपीड़ा एक प्रियतमा को अनेकत्र एक साथ देख रही है । इसमें वियोग भ्रान्ति का कारण है। वियोग में विरही त्रिभुवन को स्वभावत: तन्मय समझता है । स्वारसिक प्रतीति तो केवल भ्रान्ति अलंकार नहीं । अतएव जयरथ के अनुसार (वि०पृ० ५६) इसमें केवल भ्रांति है, भ्रान्तिमान् अलंकार नहीं है। और दूसरे, वियोगी प्रासाद आदि में प्रियतमा को देख रहा है, प्रासाद को प्रियतमा नहीं समझता । इसीप्रकार हर्ष-चरित के '**देवमपि हर्षं पितृशोकविह्वलीकृतं श्रियं शाप इति महीं महापातकमिति राज्यं रोग इति भोगान् भुजगा इति निलयं निरय इति**'[1] इस उदाहरण में भी पितृशोक के कारण श्रीहर्ष लक्ष्मी को शाप, धरा को महापातक आदि समझ रहा है । कविनिबद्ध पात्र को यहाँ पर श्री आदि विषय का ज्ञान है । भ्रान्तिमान् वहीं होता है जहाँ विषय का अवगमन न हो, शुक्तिका का ज्ञान रहने पर उसमें रजत की प्रतीति नहीं हो सकती, अत: पूर्वोक्त उदाहरणों में न केवल यही कि सादृश्य निमित्त नहीं है (एक में अनुराग निमित्त है तो दूसरे में शोक) अपितु विषय की स्पष्ट प्रतीति होने के नाते भ्रान्ति भी नहीं है । ऐसे उदाहरणों में जयरथ ने इसीलिए विषमालंकार मानना उचित समझा है क्योंकि इनमें कविनिबद्ध पात्र को विषय की विषयिरूप में सम्भावना या

---

१. अ० र० पृ० ४३ तथा वि० पृ० ५६ पर उद्धृत ।

प्रकृतवस्तु की वस्त्वन्तर या अप्रकृत के रूप में प्रतीति नहीं होती, जबकि भ्रांतिमान् का लक्षण है—

सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिः । —अ० स० पृ० ५६ ।

इस प्रकार भ्रान्तिमान् के लिए आवश्यक है कि विषय की विषयी के रूप में भ्रान्ति हो । रूपक में मुख और चन्द्र का एक साथ ज्ञान कवि तथा सहृदय को रहता है पर भ्रमप्रतीति में विषय की प्रतीति (भ्रान्ति) विषयीरूप में होती है । विषय की विषयता भ्रान्ति से छिप जाती है अतः भ्रान्तिमान् में शोभाकर तथा जयरथ की दृष्टि से आरोप नहीं अध्यवसाय होता है । वस्तु अर्थात् विषय का जब तक वस्तुरूप में ज्ञान रहता है, शुक्तिका को जबतक प्रमाता शुक्तिका समझता है तबतक रजतभ्रम सम्भव ही नहीं है । कामिनी के अधरों को जब तक शुक अधर ही समझेगा तबतक भला उन्हें बिम्ब समझ कर काटने को कैसे लपक सकेगा ? अतः भ्रान्ति में विषय का तिरोधान और विषयी की संवित्ति मानना आवश्यक है । मम्मट के लक्षण **'भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने'** में **अन्यसंवित्** शब्द तथा रुय्यक के लक्षण में **वस्त्वन्तरप्रतीति** शब्द इसी ओर संकेत करते हैं । सन्देह में तो विषय और विषयी दोनों का ही समान रूप से आभास रहता है अतः उसमें आरोप ही मानना पड़ेगा किन्तु भ्रान्तिमान् को अध्यवसायमूलक मानना आवश्यक है ।

अध्यवसायमूल एव भ्रमः, न चारोपगर्भो भ्रमः क्वचिदपि संभवति ।
शुक्तिकादीनां शुक्तिकादिरूपतयावगमे रजताद्यभिमानानुदयात् ।

—अ० र० ५३-५४

सादृश्याश्रित तथा अध्यवसायमूलक भ्रान्तिमान् के रुय्यक-कृत लक्षण का जगन्नाथ ने इस आधार पर खण्डन किया है कि यह लक्षण सन्देह, उत्प्रेक्षा, रूपक तथा अतिशयोक्ति में भी लागू होता है; उनके अनुसार रुय्यक का लक्षण अतिव्याप्त है।[1] जगन्नाथ ने इस लक्षण के खण्डन में केवल पांडित्य का प्रदर्शन किया है । सन्देह में समकोटिक विमर्श होता है, वस्त्वन्तर की प्रतीति नहीं होती, उत्प्रेक्षा में वस्त्वन्तर की सम्भावना होती है, निश्चय नहीं होता और भ्रान्तिमान् विमर्शनी के शब्दों में **'सम्यगभिमानात्मा निश्चय'** है । रूपक में भेदप्रतीतिपुरस्सर अभेदप्रतीति होती है, मुख का कमल या वस्त्वन्तर के रूप में ज्ञान नहीं होता । अतिशयोक्ति में मुख का सर्वथा निगरण हो जाता है पर भ्रांति-

---

[1] देखिये—रसग० पृ० २६९-७० ।

मान् में कविनिबद्ध पात्र को वस्त्वन्तर की प्रतीति अनाहार्य रूप में होती है और कवि को आहार्य रूप में। अतिशयोक्ति में निश्चयज्ञान दोनों को ही आहार्य ही होता है। वस्त्वन्तर की प्रतीति का प्रकरणानुसार यह अर्थ समझने पर जगन्नाथ को रुय्यक का लक्षण अतिव्याप्त नहीं मालूम पड़ना चाहिए।

त्रिविध भेद

साधारण धर्म के निर्देशभेद के अनुसार जयरथ ने भ्रान्तिमान् के भी तीन भेद किए हैं। जगन्नाथ आदि ने इनका अनुसरण किया है। **'नीलोत्पलमिति भ्रान्त्या विकासितविलोचनम्'** (वि०पृ० ५७) में विकास-रूप साधारण धर्म का अनुगामितया,

कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य कान्तया।
चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपोतकैर्वने॥—रसग०पृ० २६७।

में 'युतत्व' और 'मिलितत्व' में वस्तुप्रतिवस्तु-भाव से, और सीता तथा सौदामिनी में विम्बप्रतिबिम्बभाव से साधारणधर्म का निर्देश है।[1]

निश्चयालंकार का भ्रान्तिमान् में अन्तर्भाव

विश्वनाथ ने अप्रकृत का निषेध करके प्रकृत की स्थापना के आधार पर निश्चय नाम का एक भिन्न अलंकार माना है।[2] इसके उदाहरण पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि इसमें भ्रमर को मुख आदि में कमल आदि की प्रतीति ही, भ्रान्ति ही, चमत्कार का कारण है। विश्वनाथ भी इसमें भ्रान्ति मानते हैं। भ्रान्ति यहाँ विवक्षित हो या न हो, सहृदय को नायिका के सौन्दर्य का ज्ञान इसी भ्रान्ति के वर्णन से होता है।

संस्कारालंकार

जयरथ की विमर्शिनी के अनुसार अलंकारभाष्य में संस्कार तथा भ्रान्तिमान् का भेद स्पष्ट रूप से बताया गया है।

अवान्तर एवानयोर्विशेषोऽलंकारभाष्य एवोक्त इति तत एवानुसर्तव्यः
—वि० पृ० ५७।

भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, भोज तथा कुन्तक इन प्राचीन आलंकारिकों तथा

---

१. जयरथ द्वारा उद्धृत उदाहरण देखिए—वि० पृ० ५५-५८।

२. सा० द० पृ० ४३८।

विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ प्रभृति अर्वाचीन आलंकारिकों ने इस अलंकार की कोई चर्चा नहीं की है। शोभाकर ने, जो जयरथ के पूर्ववर्ती तथा रुय्यक से परवर्ती हैं, इस अलंकार को स्वतंत्र अलंकार न मानकर इसका अन्तर्भाव भ्रान्तिमान् अलंकार में किया है। उन्होंने अलंकारभाष्य या उसके लेखक का इस प्रकरण में कोई भी उल्लेख नहीं किया है। विमर्शिनी से इतना तो स्पष्ट है कि अलंकारभाष्य में उसका निरूपण तथा स्वतन्त्र अलंकार सिद्ध करने के लिए भ्रान्तिमान् से भेद का विवेचन किया गया था। चूंकि मम्मट या रुय्यक या उनसे प्राचीन किसी प्रसिद्ध आलंकारिक ने संस्कार अलंकार की चर्चा नहीं की है अतः निषेधात्मक प्रमाण के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि इस अलंकार के उद्भावक अलंकारभाष्यकार हैं। इनका समय रुय्यक के बाद और शोभाकर से पहिले मानना चाहिए। अनुषंगतः यह लिखना अनुचित न होगा कि इस ग्रन्थ की अभीतक कोई पाण्डुलिपि नहीं पाई जा सकी है और न इसके लेखक का नाम ही ज्ञात है।[1] जयरथ ने अलंकारोदाहरण में संस्कारालंकार का लक्षण निम्नलिखित दिया है—

अनुभूतवासनानुवे (? मे) यस्संस्कारः।

—अ० उ० (पाण्डुलिपि, पुटक ६)।

पूर्ववासना जहाँ किसी कार्य का निमित्त बनती है वहाँ संस्कारालंकार होता है। अनुभूत वासना या संस्कार पर आधारित यह अलंकार भ्रान्तिमान् इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि अन्तिम अलंकार सादृश्यमूलक है और संस्कार वासनानुमेय है। इसके अतिरिक्त यदि भ्रान्तिमान् को अभ्युपगमन्याय से वैसादृश्यमूलक या निमित्तान्तरजन्य मान भी लें तब भी संस्कार और भ्रान्तिमान् में एक महत्त्वपूर्ण भेद शेष रहता है। किसी कार्य का अनवरत अभ्यास एक विशेष प्रकार का संस्कार छोड़ देता है। यदि कोई व्यक्ति इस संस्कार के कारण ही किसी कार्य में प्रवृत्त होता है तो इसे भ्रान्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

---

१. विशेष ऐतिहासिक और परिचयात्मक सामग्री के लिए देखिए इसी प्रबन्ध का भूमिका-भाग, तथा डा० द्विवेदी का लेख : Alaṅkārasāra and the Alaṅkārabhāṣya, विश्वेश्वरानन्द इण्डोलोजिकल जर्नल, जिल्द १, खण्ड २, १९६३।

दातुं वाञ्छति दक्षिणेऽपि नयने वामः करः कज्जलं,
मौर्जगं च भुजेऽङ्गदं घटयितुं वामेऽपि वामेतरः ।
इत्थं स्वं स्वमशिक्षितं भगवतोरर्धं वपुः पश्यतोः,
साधारस्मितलाञ्छितं दिशतु वो वक्त्रं मनोवाञ्छितम् ॥

—वि० पृ० ५७ तथा अ० र० पृ० ५३ ।

इस पद्य में अर्धनारीश्वर का वर्णन है । पार्वती का हाथ (वाम कर) दक्षिण नयन (शिव के नेत्र) में भी संस्कारवशात् काजल लगाने चल पड़ता है, और शंकर का हाथ (दक्षिण कर) सर्पवलय को वामभुजा में भी पहिचानने लग जाता है······स्पष्ट है कि ये कार्य (कज्जलदान आदि) संस्कारवशात् होते हैं, भ्रम से नहीं । अतः अलंकारभाष्यकार और इस सम्बन्ध में उनका अनुकरण करने वाले जयरथ के अनुसार भ्रान्तिमान् से भिन्न संस्कार एक स्वतन्त्र अलंकार है। शोभाकर भ्रान्तिमान् को केवल सादृश्यमूलक ही नहीं मानते । उनके अनुसार सादृश्येतर निमित्त से भी भ्रान्तिमान् ही मानना चाहिए क्योंकि प्रतीतिभेद अलंकारभेद का नियामक है । निमित्तभेद से अलंकारों को भिन्न मानना अनुचित है ।

···सादृश्यनिमित्तं विना भावावसायशोकादिनिमित्तभेदेऽपि नालंकारान्तरबुद्धिः कार्या । प्रतीतिभेदे ह्यलंकारभेदो युक्तो न निमित्तभेदेऽलंकारानन्त्यप्रसगांत् । तद्भेदे तु कविप्रतिभोत्थापितविच्छित्तिसद्भावेऽन्तर्भाव एव न्याय्यः ।

—अ० र० पृ० ५३ ।

इसी आधार पर उनके अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में अनवरत अभ्यास से प्ररूढ संस्कार भ्रान्ति का हेतु है अतः इस प्रकार के उदाहरणों में वे भ्रान्तिमान् अलंकार मानना उचित समझते हैं ।[1]

---

[1] देखिए—अ० र० पृ० ५३ ।

उपमामूलक अलंकार : उल्लेख

प्राचीन आलंकारिकों में मम्मट तक हमें उल्लेख का विवेचन नहीं मिलता। इसके उद्भावक का नाम बताना संभव नहीं है। रुय्यक ने इसका विशद तथा स्पष्ट निरूपण किया है। परवर्ती सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है। और प्रायः इसके स्वरूपनिरूपण के सम्बन्ध में रुय्यक का अनुगमन किया है। परवर्ती आलंकारिकों की परिभाषाएँ इसका पर्याप्त प्रमाण हैं—

एकस्यानेधाकल्पनमुल्लेखः। —अ० र० पृ० ५४।

तत्तन्निमित्तभेदादेकमनेकैरनेकधा यत्तु।
उल्लिख्यते स धीरैरुल्लेखः कथ्यतेऽन्वर्थः॥ —एका० पृ० २२६।

अर्थयोगरुचिश्लेषैरुल्लेखनमनेकधा।
ग्रहीतृभेदादेकस्य स उल्लेखः सतां मतः॥—प्रताप०रुद्र०पृ० ३८२।

क्वचिद् भेदाद्ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते॥
—सा० द० पृ० ५३३।

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते। --चन्द्रा० पृ० ४५।

निमित्तभेदादेकस्य वस्तुतो यदनेकधा।
उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते॥ —चित्रमी० पृ० ७७।

एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद् यदनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः। —रसग० पृ० २७०।

इन सभी परिभाषाओं में रुय्यक के लक्षण 'एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः' तथा उसकी वृत्ति[1] के शब्द प्रतिध्वनित देखे जा सकते हैं। एक ही वस्तु का अनेक प्रकार के धर्मों के कारण अनेकधा ग्रहण उल्लेखालंकार है। ग्रहण के स्थान पर परवर्ती आलंकारिकों ने कल्पना तथा उल्लेख (उल्लेखन) का प्रयोग किया है। उल्लेख शब्द अलंकार के नाम के आधार पर आलंकारिक

---

१. यत्रैकं वस्त्वनेकधा गृह्यते स रूपबाहुल्योल्लेखनादुल्लेखः।
—अ० स० पृ० ५९।

रखते आए हैं। वह ग्रहण का ही समानार्थक है। शोभाकर ने अवश्य ग्रहण के स्थान पर कल्पन शब्द का प्रयोग उचित समझा है क्योंकि उनके अनुसार जहाँ प्रतीति स्वारसिक न होकर उत्पादित होगी वहाँ ग्रहण शब्दवाली परिभाषा न लग सकेगी। **'अतएव ग्रहणस्य स्वारसिकत्वादनेकधाग्रहणमिति न सूत्रितम्'** इस आधार पर उन्होंने रुय्यक के लक्षण की आलोचना भी करनी चाही है।[1] वस्तुतः ग्रहण शब्द का प्रयोग ही सार्थक है, कल्पन शब्द का प्रयोग सदोष है। ग्रहण शब्द स्वारसिक तथा उत्पादित दोनों ही प्रकार की प्रतीतियों का वाचक है, कल्पन शब्द से केवल उत्पाद्य या आहार्य प्रतीति का ही अनुसन्धान संभव है। उल्लेखालंकार में जहाँ वस्तु में स्वभावतः विद्यमान अनेक धर्मों के कारण अनेकधा ग्रहण होता है वहाँ प्रतीति स्वारसिक होती है। जहाँ कवि अपनी कल्पना से वस्तु में अनेकविध धर्मों की सृष्टि या कल्पना करता है वहाँ प्रतीति उत्पाद्य या आहार्य होती है। द्वितीय प्रतीति के लिए कल्पन शब्द अवश्य ठीक है पर प्रथम प्रतीति में वह अव्यापक है। परवर्ती आलंकारिकों ने **'ग्रहण'** और **'कल्पन'** के इस झगड़े से बचने के लिए **'उल्लेख'** या **'उल्लेखन'** शब्द का ही प्रयोग किया है।

उल्लेख एक स्वतन्त्र अलंकार

उद्योतकार ने अपनी काव्यप्रकाशटीका में उल्लेख अलंकार का विभिन्न अलंकारों में अन्तर्भाव दिखाया है। संभवत रुय्यक के पूर्ववर्ती आलंकारिक इसे स्वतन्त्र अलंकार मानने में हिचकते थे। उन्हें उल्लेख में रूपक, भ्रान्तिमान्, अतिशयोक्ति तथा श्लेष के ही विभिन्न तत्त्व दृष्टिगोचर होते थे। रूपक में मुख में चन्द्रत्व निसर्गतः नहीं रहता उसका आरोप होता है पर **'यस्तपोवनमिति मुनिभिः कामायतनमिति वेश्याभिः संगीतशालेति लासकैः'** उल्लेख के इस उदाहरण में श्रीकण्ठ जनपद पर तपोवन, कामायतन, तथा संगीत-शाला का आरोप नहीं है क्योंकि विभिन्न प्रभाताओं के रुचिभेद से श्रीकण्ठ में निसर्गतः इन सभी के धर्म विद्यमान हैं, उनका मुख में चन्द्रत्व की भाँति आरोप नहीं है।[2] यह कहना कि श्रीकण्ठ जनपद अवयवी है और तपोवनत्व आदि धर्म अवयव हैं, अवयवावयविभावसंबंध लक्षणामूलक है और रूपक सदा लक्षणा पर

---

१. अ० र० पृ० ५४।

२. जनपदे हि तपोवनत्वादयो धर्मा निसर्गत एव सन्ति इतरथा नोल्लेखः रूपकत्वप्राप्तेः। —संजी० पृ० २६।

आधारित है 'लक्षणापरमार्थं यावता रूपकस्वरूम्' अतः इस उदाहरण में रूपकालंकार है, सर्वथा सदोष कथन है। पहले तो यही नहीं माना जा सकता कि जनपद तथा तपोवन आदि में अवयवावयविभावसंबन्ध है क्योंकि जैसाकि अभी बताया गया है जनपद में तपोवन आदि के गुण होना सहज सम्भव है और फिर यदि अभ्युपगमन्याय से यह सम्बन्ध मान भी लिया जाए तब भी यह नहीं माना जा सकता कि अवयवावयविभावसम्बन्ध पर आधारित प्रत्येक प्रयोग रूपकालंकार हो जाता है, वहाँ लक्षणा मानी जा सकती है रूपक नहीं। रूपक के लिए तो आवश्यक है कि विषयी द्वारा विषय का रूपण हो और उनमें अभेद-प्रतीति हो। दोनों ही इसमें नहीं है अतः यह उदाहरण उल्लेख का है रूपक का नहीं। अस्तु, उल्लेख अलंकार रूपक से भिन्न अलंकार है।[1]

भ्रान्तिमान् में वस्त्वन्तर की प्रतीति होती है। जो अतद्रूप होता है वह तद्रूप प्रतीत होता है—अधर बिम्बफल नहीं पर शुक उसे बिम्बफल समझता है। उल्लेख में भी श्रीकण्ठ जनपद तपोवन नहीं (अतद्रूप) है पर उसमें तपोवन की (तद्रूप) प्रतीति होती है। पर इतने से उल्लेख का भ्रान्तिमान् में अन्तर्भाव संभव नहीं है। भ्रान्तिमान् में विभिन्न प्रमाताओं द्वारा अपनी रुचिभेद से एक वस्तु को अनेकधा नहीं देखा जाता। उसमें तो एक ही प्रमाता को विपर्यय-बुद्धि होती है। उल्लेख में अनेकधाग्रहण एक नवीन तत्त्व है जो भ्रान्तिमान् में नहीं है अतः इसे भ्रान्तिमान् से भिन्न मानना आवश्यक है।

अनेकधाग्रहणाख्यस्यापूर्वस्याभावात्। तद्धेतुकत्वाच्चास्यालंकारस्य।

—अ० स० पृ० ६३।

तथा

न ह्यनेकधाग्रहणरूपं वैचित्र्यं भ्रान्तिमति लक्षणम्, इह तु लक्षणमेव।

—संजी० पृ० ६१।

इस प्रकार भ्रान्तिमान् में यदि अनेकधाग्रहण का तत्त्व नहीं है तो अतिशयोक्ति के द्वितीय भेद (अभेद होने पर भी भेद के वर्णन) में, जहाँ एक ही प्रियाधर के प्रयासचुम्बन, बलात्कारचुम्बन तथा स्वात्मसमर्पित चुम्बन[2] को भिन्न बताया

---

१. देखिए—वि० पृ० ६०।

२. प्रासंगिक प्राकृतश्लोक की संस्कृतछाया इस प्रकार है—

मार्गितलब्धे बलात्कारचुम्बिते आत्मना चोपनीते।
एकस्मिन्नपि प्रियाधरेऽन्येऽन्ये भवन्ति रसभेदाः॥ —अ० स० पृ० ८५।

गया है, भिन्न प्रमाताओं का उपयोग नहीं है जबकि उल्लेख में ग्रहीतृभेद का एक नवीन तत्त्व है। एक ही विष्णु को प्रमदाएँ, युवतियाँ तथा किशोरियाँ भिन्न भिन्न रूप में देखती हैं।[1] इसमें एक ही विष्णु को (अभेद) भिन्न अवश्य बताया गया है पर प्रमाताओं के भेद से इस भेद का उल्लेख अतिशयोक्ति अलंकार से उल्लेखालंकार को भिन्न सिद्ध करता है।

न ह्यतिशयोक्तौ ग्रहीतृभेदोपयोगः, अत्र पुनरुपयोग इति नातिशयोक्ति-मात्रमेतत्।[2] —संजी० पृ० ६३।

समुद्रबन्ध ने (पृ० ४३) उल्लेख तथा अतिशयोक्ति के उदाहरणों के सम्बन्ध में दो और मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि अतिशयोक्ति के उदाहरण (**मार्गितलब्धे बलात्कारचुम्बिते** ....) में अधर-रस के भेद का निर्देश '**तत्तद्रूपोपादान**' द्वारा नहीं हुआ है जब कि उल्लेख के उदाहरणों में श्रीकंठ की जनपद, तपोवन आदि के रूपों में प्रतीति होती है अर्थात् उल्लेख में '**तत्तद्रूपोपादान**' होता है। दूसरे व्याख्याकारों का मत है कि अतिशयोक्ति के उदाहरण में विभिन्न रसवाले चुम्बन प्रिया के अधररस के विशेषण हैं अतः उनसे विषयभेद नहीं माना जा सकता है जब कि उल्लेख में विषयभेद सदा स्पष्ट रहता है। इस तरह इन दो व्याख्याओं के आधार पर अतिशयोक्ति के विपरीत उल्लेख में गृहीतृभेद तो होता ही है साथ ही उसमें विषयभेद स्फुट रहता है जब कि अतिशयोक्ति में गृहीतृभेद का सौन्दर्य तो होता ही नहीं साथ ही विषयभेद भी स्पष्ट नहीं हो पाता।

'**निरवकाशत्वाद् बली श्लेषः सर्वालंकारबाधकः**' इस सिद्धान्त के अनुसार जहाँ कहीं भी श्लेष-कृत चारुत्व होता है वहाँ दूसरे अलंकारों के लिए अवकाश (स्थान) नहीं रहता। '**गुरुर्वचसि पृथुरुरसि अर्जुनो यशसि**' आदि में गुरु, पृथु, अर्जुन आदि शब्दों के नानार्थक होने के नाते श्लेष है पर इस उदाहरण में श्लेष के अतिरिक्त एक ही व्यक्ति का अनेकधा उल्लेख-रूप सौन्दर्य भी[3] है जो श्लेष

---

१. प्रासंगिक श्लोक की संस्कृतच्छाया इस प्रकार है—
नारायण इति परिणतवयोभिः श्रीवल्लभ इति तरुणीभिः।
बालाभिः पुनः कौतूहलेन एवमेव सत्यापितः॥
—अ० स० पृ० ७४।

२. तथा देखिए—अ० स० पृ० ६१ '**गृहीतृभेदाख्येन......निश्चयः**'।

३. **अनेकधात्वनिमित्तं तु विच्छित्त्यन्तरमत्र दृश्यते।** —अ० स० पृ० ६१।

के सौन्दर्य पर आधारित नहीं है। यह अनेकधा उल्लेख भिन्न प्रमाताओं की रुचि आदि पर आधारित नहीं है अपितु एक ही व्यक्ति का विषय (वाणी, वक्षस्थल, कीर्ति) के भेद से भिन्न रूपों में उल्लेख हुआ है। गुरु आदि शब्दों में श्लेष है। श्लेष सर्वालंकारबाधक है अतः यह अवश्य है कि यहाँ उल्लेख की अपेक्षा श्लेष माना जाएगा, श्लेष उल्लेख का बाधक होगा। पर बाधक होना भी यह सिद्ध करता है जिसका बाध हुआ है वह एक भिन्न अलंकार है क्योंकि बाध किसका होगा यदि अलंकार का अपना स्वरूप न हो[1] जो श्लेष से सर्वथा भिन्न हो। अथच श्लेष हटा देने पर भी केवल '**बृहस्पतिर्वचसि**' के नाते अनेकधा उल्लेख सम्भव है।[2] अतः दोनों ही रूपों में उल्लेख को एक भिन्न अलंकार मानना तर्क से प्रमाणित हो जाता है। रूपक, भ्रान्तिमान्, श्लेष तथा अतिशयोक्ति से प्रमातृभेद तथा विषयभेद के आधार पर अनेकधा ग्रहण सर्वथा भिन्न है, यद्यपि अनेक उदाहरणों में उपर्युक्त सभी अलंकारों तथा सन्देह आदि और भी अन्य अलंकारों की विच्छित्ति उल्लेख में हो सकती है।

उल्लेख में जब दूसरे अलंकारों की छाया रहती है तो उसे संकीर्ण अन्यथा शुद्ध कहते हैं। शुद्ध तथा संकीर्ण इन दोनों भेदों के अतिरिक्त जयरथ ने प्रमातृभेद से सन्देह तथा अतिशयोक्ति पर आधारित विषयभेद से रूपक पर आश्रित उल्लेख का सोदाहरण विवेचन किया है। स्वरूप, हेतु तथा फल के उल्लेख के आधार पर भी इस अलंकार के तीन भेद किए जा सकते हैं।[3] जगन्नाथ ने इस सम्बन्ध में जयरथ का अनुगमन किया है।[4]

त्रिविध भेद

उल्लेख में चूँकि नानाधर्म के कारण एक का अनेकधा उल्लेख होता है अतः साधारण धर्म सम्भव नहीं है। अस्तु इसके साधारण धर्म के निर्देश पर आधारित त्रिविध भेदों का आलंकारिकों ने निरूपण नहीं किया है।

---

१. अथापि स्वरूपेणाविद्यमानस्य बाधासम्भवाद् बाध एवोल्लेखसद्भावे लिंगम्। —संजी० पृ० ६१।

२. यदेवंविधे विषये श्लेषाभावेऽपि विच्छित्तिसद्भावः तस्मादेवमादौ उल्लेख एव श्रेयान्। —अ० स० पृ० ६२।

३. देखिए—वि० पृ० ६३।

४. देखिए—रसग० पृ० ६७३।

उपमामूलक अलंकार : अपह्नुति

कला की एक प्रसिद्ध परिभाषा है कि वह अपह्नव में ही अपने को अभिव्यक्त करती है—Art lies in concealing art. लीलारसिक ईश्वर भी जगत्कला की सृष्टि कर अपने को इसी में छुपा लेता है। वेद में एक जगह मन्त्र आया है जिसका अर्थ है कि उसने इस संसार का निर्माण किया और इसमें अनुप्रविष्ट होगया। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शङ्कर का कथन है कि लोक-व्यवहार सत्य और अनृत, ब्रह्म और माया को मिथुनीकृत करके ही चलता है—**सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्तितोऽयं लोकव्यवहारः**। लीलानायक कृष्ण रासक्रीडा के पूर्व अन्तर्हित होते हैं और पुनः अपने को अनन्त रूपों में अभिव्यक्त करतेहैं।[1] इसप्रकार अन्तर्धान, अभिव्यक्ति और **अन्तश्चरण**[2] विश्वनायक की कला-लीला के अंग हैं। कवि भी अपनी कला में सत्य (उपमेय) की अभिव्यक्ति और पुनः उसका निषेध और उपमान के रूप में अभिव्यंजना करता है। छिपाने की यह कला एक विशेष अभिव्यक्ति-प्रणाली में अपह्नुति अलंकार कहलाती है। जिस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से सत्य के अपह्नव में सत्य का अभाव या निषेध नहीं होता अपितु सत्य का नवीन रूप और समर्थता ही दिखाई देती है ठीक उसी प्रकार उपमेय का अपह्नव कर उपमान के रूप में अभिव्यक्ति प्रथम का वास्तविक निषेध नहीं है अपितु उसके अनन्त उपमानों के रूप में प्रकट होने के सामर्थ्य और रूपविच्छत्ति को ही प्रकट करता है। कृष्ण का अनन्त गोपीरूप में आविर्भाव उसका निषेध न होकर क्रीड़ा के माध्यम से उसका साकार होना है। अतः अपह्नव सृष्टिकला का भी रहस्य है और काव्यकला का भी।

भामह ने इस अलंकार का सर्वप्रथम विवेचन किया है।[3] उन्होंने इसे उपमामूलक अलंकार माना है, यह उनके इस कथन से स्पष्ट है कि अपह्नुति में

---

१. **कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।**
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥—श्रीमद्भागवत, १०।३३।२०।

२. **गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।**
योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक॥ —वहीं, १०।३४।३६।

३. **भामहालंकार,** ३।२१।

उपमा किंचित् अन्तर्गत होती है ।[1] परवर्ती आचार्यों में उद्भट, वामन, रुद्रट, मम्मट, रुय्यक, जगन्नाथ आदि सभी आचार्य इस अलंकार का आधार सादृश्य ही मानते हैं । दण्डी अपह्नुति को आवश्यक रूप में सादृश्य पर आधारित नहीं मानते ।[2] भोज ने भी 'औपम्यवती अनौपम्या चेति सा द्विविधोच्यते' कह कर दण्डी का अनुसरण किया है ।[3] शोभाकर, विश्वनाथ तथा अप्पय्यदीक्षित भी सादृश्येतर सम्बन्ध के आधार पर इसे मानते हैं ।

रुय्यक का अपह्नुति-लक्षण है—विषय का अपह्नव (निषेध कर) वस्त्वन्तर (विषयी या अप्रकृत) की प्रतीति या विधान ।

सूत्र— विषयस्यापह्नवेऽपह्नुतिः ।

वृत्ति— वस्त्वन्तरप्रतीतिरित्येव ।

मम्मट का लक्षण 'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः' भी रुय्यक से सर्वथा मिलता है । रुय्यक का सूत्र संक्षिप्त है क्योंकि अलंकार-क्रम का एक निश्चित सिद्धान्त अपनाने से वस्त्वन्तर-प्रतीति शब्द का अध्याहार संभव हो जाता है । रुय्यक-मम्मट के इसी लक्षण को अनेक परवर्ती आलंकारिकों ने माना है । यह अवश्य है कि जगन्नाथ ने इसे नव्यन्याय की भाषा में डुबो दिया है,[4] पर अर्थ वही है । प्रकृत का केवल निषेध करने से ही अपह्नुति नहीं होती, उसके लिए वस्त्वन्तर की प्रतीति या अप्रकृत का विधान आवश्यक है । 'मुखं न भवतीति' इस निषेधमात्र को अपह्नव कहा जा सकता है, अपह्नुति अलंकार नहीं । यही नहीं, जब प्रकृत का निषेध करने के बाद उसी प्रकृत का किसी दूसरे रूप में भी यदि विधान हो अर्थात् मुख्य रूप में किसी वस्तु का निषेध कर उसी वस्तु का पुनः गौणरूप में विधान किया जाए तो भी अपह्नुति अलंकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसे स्थलों में प्रकृत का निषेध तो हो जाता है पर वस्त्वन्तर की प्रतीति नहीं होती । जगन्नाथ के

---

१. भामहालंकार, ३।२१ ।

२. काव्यादर्श २।३०४ ; यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि अपह्नुति का सादृश्येतर आधार पर सुविस्तार मानने वाले दण्डी अपह्नुति को उपमा का भेद मानकर उपमापह्नुति कहते हैं । २।३०९ ।

३. सरस्वती० ४।४१ ।

४. रसग० पृ० २७८ ।

अनुसार इसीलिए 'उपमेयतावच्छेदक' और 'उपमानतावच्छेदक' की सामानाधिकरण्येन प्रतीति नहीं होनी चाहिए। जहाँ यह सामानाधिकरण्य-प्रतीति होगी वहाँ रूपक होगा अपह्नुति नहीं। **नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्**, इस उदाहरण में सुधांशु (विषय) का निषेध तो है पर पुनः उसी विषय का आरोप प्रेयसी के मुख पर कर दिया गया है। इसी प्रकार

> **न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।**
> **विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं तु ससन्ततिम्॥** —अ० र० पृ० ४२।

यहाँ भी विष (विषय) का निषेध है पर वस्त्वन्तरप्रतीति या **'अन्यविधि'** नहीं हैं। मुख्य विष (विषय) का निषेध कर ब्रह्मस्व को विष बताने से विष का गौण विधान मान भी लिया जाए तब भी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वह वस्त्वन्तर की प्रतीति नहीं कराता। उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक की इसमें सामानाधिकरण्येन प्रतीति होती है। ऐसे सभी स्थलों में दृढारोप रूपक मानना चाहिए, अपह्नुति नहीं। इसी आधार पर जयरथ ने शोभाकर के अपह्नुतिलक्षण—**'विषयस्य मुख्यस्य वापह्नवे अन्यविधिरपह्नुतिः'**[1] के **'मुख्यस्य वापह्नवे'** इस अंश तथा इससे सम्बद्ध उपर्युक्त उदाहरण का खण्डन किया है। अप्पय्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा में तो मम्मट-रुय्यक-सम्मत परिभाषा ही दी है किन्तु कुवलयानन्द में उन्होंने शोभाकर का अनुसरण किया है। जगन्नाथ ने रुय्यक तथा जयरथ का पूर्णतः अनुगमन तथा समर्थन किया है। जगन्नाथ ने रुय्यक-जयरथ का पूर्णतः अनुगमन करते हुए उपर्युक्त आधारों पर ही अप्पय्यदीक्षित की आलोचना की है।[2] ऐसे स्थलों में अप्पय्यदीक्षित ने पर्यस्तापह्नुति मानी है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऐसे सभी स्थलों में दृढारोप रूपक मानना चाहिए, अतः यह भेद करना अनुचित है।

अपह्नुति में आरोप अध्यवसायोन्मुख

भ्रान्तिमान् में हमने चर्चा की थी कि जहाँ भी विषय की प्रतीति नहीं रहती, विषयी की प्रतीति प्रबल होती है, विषयी द्वारा विषय की निगीर्यमाणता या निगरण होता है वहाँ अध्यवसाय होता है। आरोप में विषयी विषय को अपने रूप से रंग देता है, उसे निगलता नहीं। अपह्नुति

---

१. अ० र० पृ० ४०।

२. देखिए—रसग० पृ० १८०-१।

में वस्त्वन्तर-प्रतीति होना एक आवश्यक तत्त्व है। विषय का निषेध भी इसमें होता है पर प्रतीति विषय की न होकर विषयी की होती है। अतः इसमें आरोप स्पष्ट न होकर अध्यवसाय माना जा सकता है। किन्तु अपह्नुति में न केवल प्रकृत का उपादान होता है अपितु उसका निषेध भी अप्रकृत का आरोप करने के लिए होता है अतः अपह्नुति में आरोप को अध्यवसाय के समान मानना आवश्यक है। संभवतः इसी आधार पर जयरथ ने अपह्नुति को आरोपगर्भा तथा अध्यवसायगर्भा इन दो रूपों में माना है। ये भेद आरोप तथा अध्यवसाय की भिन्न प्रतीतियों पर आधारित हैं। यदि अपह्नुति में विषय की प्रतीति तिरोहित हो जाती है तो इसे अध्यवसायगर्भ अन्यथा आरोपगर्भ कहेंगे। अपह्नुति के अध्यवसायगर्भित न होने का रुय्यक ने कोई संकेत नहीं किया है। **'आरोपप्रस्तावाद् अपह्नवपूर्वक आरोपः'** तथा **'आरोपपूर्वकोऽपह्नवः'** इन वाक्यों से यही संभावना की जा सकती है कि रुय्यक को अपह्नुति में अध्यवसाय अभीष्ट नहीं है। श्रीविद्याचक्रवर्ती तथा समुद्रबंध भी इसी से सहमत हैं। पर मेरी दृष्टि में अपह्नुति में आरोप मानने पर भी इसे अध्यवसाय के समान मानकर रुय्यक-जयरथ की मान्यताओं का समन्वय संभव है; और यह उचित भी है। कुन्तक ने अपह्नुति अलंकार को उत्प्रेक्षामूलक बताकर इसमें अध्यवसाय या संभावना के अंश का ही निर्देश किया है।

निम्नलिखित उदाहरण में अपह्नुति आरोपमूलक न होकर अध्यवसाय-मूलक ही है—

> **कलाभिस्तृप्त्यर्थं सुरपितृनृणां पञ्चदशभिः,**
> **सुधासूतिर्देवः प्रतिदिनमुदेतीत्यसदिदम्।**
> **परिभ्रामत्येष प्रतिफलनमासाद्य भवती-**
> **कपोलान्तर्युक्त्या त्वदधरसुधासंग्रहपरः॥** —वि० पृ० ६७-६८।

अपह्नुति की सादृश्यमूलकता

आरोप या अध्यवसाय दो वस्तुओं में कवि को दिखाई पड़नेवाले अतिसाम्य को लेकर होता है। इसलिए साधर्म्य या सादृश्य पर आधारित अपह्नुति को ही इस अंलकार का बीज मानना चाहिए, सम्बन्धान्तर पर आधारित अपह्नव में अपह्नुति मानना उचित नहीं। पर जो आचार्य आरोप को लक्षणारूप मानते हैं, उन्हें न केवल सादृश्य अपितु सम्बन्धान्तर के आधार पर भी अपह्नुति अंलकार मानना पड़ता है, क्योंकि लक्षणा सादृश्य तथा कार्य-कारणभाव आदि अन्य अनेक सम्बन्धों से भी होती है। इसी आधार पर

शोभाकर तथा जयरथ ने सम्बन्धान्तर से होने वाली अपह्नुति का निरूपण किया है ।[1]

जयरथ ने इस सम्बन्ध में रुय्यक का अनुसरण न कर अंलकारभाष्य तथा अंलकाररत्नाकर की परम्परा का अनुसरण किया है। दण्डी तथा भोज[2] ने सादृश्येतर सम्बन्ध के आधार पर भी इसके भेद माने थे, इसकी चर्चा हम प्रारम्भ में कर चुके हैं। परवर्ती कुछ आलंकारिकों ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया है ।[3]

भेदोपभेद

अपह्नुति के लक्षण में दो तत्त्व हैं (क) निषेध या अपह्नव, (ख) अन्य की विधि या आरोप । कहीं निषेध पहिले और आरोप बाद में तथा कहीं आरोप पहिले और निषेध बाद में, इस प्रकार अपह्नुति के दो भेद होंगे। यह परम्परा दण्डी तथा भोज से चली आ रही थी । जहाँ कहीं भी निषेध और आरोप होगा वहाँ दो वाक्य होना स्वाभाविक है, एक वाक्य के द्वारा निषेध होगा और दूसरे के द्वारा आरोप। पर जहाँ अपह्नव का तत्त्व छल, वपु, व्याज, नञ् आदि के प्रयोग के द्वारा बताया जाता है वहाँ भिन्न वाक्यों की आवश्यकता नहीं होती है। ऐसी स्थिति में केवल आरोप का ही विधान होता है। यही इसका तीसरा भेद है। इस तीसरे भेद में भी आरोपपूर्वक अपह्नव या अपह्नवपूर्वक आरोप, ये दो भेद और किए जा सकते हैं, पर इन दो भेदों का सौन्दर्य वहीं हो सकता है जहाँ दो भिन्न भिन्न वाक्य हों। एक वाक्य होने पर इन दोनों भेदों में अनुभूति की नवीनता नहीं आती अतः अपह्नुति के इस

१. देखिए—अ० र० पृ० ४२ तथा वि० पृ० ६७ ।

२. भोज ने अपह्नुति को औपम्यवती तथा अनौपम्यवती के रूप में विभाजित किया है। प्रथम के वाच्य तथा प्रतीयमान सादृश्य के आधार पर, दूसरे के पूर्व और अपूर्व के नाम से उन्होंने उपभेद भी बताए हैं ।

—सरस्वती० पृ० ४४५-४६ ।

३. सा च सादृश्यवती सादृश्यरहिता चेति द्विविधा । × × × सादृश्यरहितापि द्विविधा वाच्यापह्नोतव्या, प्रतीयमानापह्नोतव्या च ।

—अंलकारमहोदधि, पृ० २५७ ।

तीसरे भेद में उन दो उपभेदों का मानना उचित नहीं है।[1] रुय्यक की इस मान्यता से अप्पय्यदीक्षित, जगन्नाथ, तथा अन्य आलंकारिक सहमत हैं।[2]

शोभाकर के अनुसार जहाँ नञ् आदि के द्वारा साक्षात् निषेध होता है, वहाँ शाब्द अपह्नव तथा जहाँ छल, व्याज आदि शब्दों का प्रयोग हो वहाँ आर्थ अपह्नव होता है क्योंकि इनके द्वारा निषेध का साक्षात् निर्देश नहीं होता, उसकी प्रतीति होती है और इसके लिए प्रकरण आदि का ज्ञान भी अपेक्षित रहता है।[3] अपह्नुति के इस प्रकार शाब्द तथा आर्थ भेद करना उचित ही है। जगन्नाथ भी शोभाकर की इस मान्यता से सहमत हैं।[4] रुय्यक तथा उनके टीकाकार इस भेद से सहमत नहीं प्रतीत होते। छल, छद्म, मिष, कपट, व्याज आदि की भाँति, वपु शब्द के प्रयोग से शोभाकर अपह्नुति अलंकार नहीं मानते। उनके अनुसार वपु शब्द का प्रयोग मयट् प्रत्यय के अर्थ में होता है। मयट् के प्रयोग में रुय्यक ने परिणाम अलंकार माना है जैसेकि **'तस्मै सौमित्रमैत्री-मयमुपहृतवानातरं नाविकाय'** इस उदाहरण में मयट् और वपु समानार्थ हैं। यदि वपु शब्द के प्रयोग में अपह्नुति मान ली जाती है तो परिणाम के उपर्युक्त उदाहरण को अपह्नुति का मानना पड़ेगा अतः शोभाकर के अनुसार वपु शब्द का प्रयोग जहाँ हो वहाँ या तो रूपक होगा या निदर्शना पर अपह्नुति अलंकार नहीं हो सकता। उनका यह मत सदोष है। रूपक में आरोपविषय का अपह्नव नहीं होता। यह कहना कि दो भिन्न वस्तुओं का सामानाधिकरण्य होने के नाते ('मुखं चन्द्रः' में मुख और चन्द्र का एक विभक्ति में निर्देश है) एक का निषेध मानना पड़ेगा, और चूंकि आरोप्यमाण का निषेध संगत नहीं हो सकता

---

१. एतस्मिन्नपि भेदेऽपह्नवारोपयोः पौर्वापर्यविपर्यये भेदद्वयं सदपि न पूर्ववच्चित्रतावहमिति न भेदत्वेन गणितम्। —अ० स० पृ० ६५-६।
यद्यप्यपह्नवारोपपौर्वापर्यविपर्यये भेदद्वयं भवत्येव नतु चमत्कारः कश्चित्, नतु भेदसम्भवोऽलंकारप्रयनहेतुः अपितु सचमत्कारभेदसम्भवः। सचमत्कारता च सति वाक्यभेदे (स्यात्) एकवाक्यतायान्तु छलादिशब्दस्य पौर्वापर्यपर्याय-प्रयोगेऽपि न प्रतीतिभेदः कश्चित्। क्रियाविशेषणत्वेन क्रियापेक्षया प्रतीतौ प्राथम्यनियमात्। अतः छलादिप्रयोगे द्विधा न गणितम्। —संजी० पृ० ६८।

२. हि० कुवलयानन्द—पृ० २८-३१, रसग० पृ० ३६७।

३. अ० र० पृ० ४०।

४. देखिए—रसग० पृ० २७८-९।

इसलिए आरोपविषय का निषेध पर्यवसान में होगा ही, यह कथन सर्वथा तर्कहीन है क्योंकि आरोप में जब दो वस्तुओं का समानाधिकरण से निर्देश होता है वहाँ आरोप्यमाण विषयी अपने गुणों का बोध लक्षणा द्वारा कराता है और उन्हीं का अन्वय आरोप-विषय के साथ होता है। विषय का निषेध आरोप में कदापि नहीं होता। इसीलिए '**मुखं चन्द्रः**' में चन्द्रगुणविशिष्ट मुख की प्रतीति होती है, मुख का बाध प्रतीत नहीं होता। बाध तो केवल चन्द्र का होता है जो लक्षणा द्वारा अपने में रहने वाले गुणों को लक्षित करता है, और फिर रूपक में '**न मुखम्**' यह प्रतीति भी नहीं होती। अतः वपु शब्द के प्रयोग करने पर रूपक मानना शोभाकर का युक्तिहीन प्रलाप है। इसके अतिरिक्त वपु शब्द के प्रयोग से निदर्शना भी नहीं मानी जा सकती। निदर्शना के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु का वस्त्वन्तर से सम्बन्ध का असम्भव होना बताया जाए तथा उनमें परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो। वपु शब्द से दोनों ही नहीं हो पाता। शोभाकर ने अपह्नुति अलंकार के उदाहरण[1]—

अमुष्मिंल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः,
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः।
यदंगांगाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे,
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः॥

[मृगनयनी के सौन्दर्यसुधा-सरोवर मांसल जघनभाग में शंकर द्वारा जलाया गया मदन ही, सचमुच, आ पड़ा है क्योंकि उसके अंगरूपी अंगारों के बुझने से उठने वाली यह धूमशिखा नाभिकुहर में रोमावली के रूप में परिणत हो गई है।]

में परिणामालंकार माना है, जो सर्वथा अनुचित है। यह रोमावली नहीं है अपितु धूमशिखा है, यह प्रतीति अपह्नुति की है, परिणामालंकार की नहीं। उसकी प्रतीति के लिए तो रोमावली की प्रधानता अपेक्षित है पर यहाँ तो धूमशिखा की प्रधानतया प्रतीति होती है, उसी से भस्मीभूत काम का अनुमान संभव है। रोमावली का निषेध मानना आवश्यक है अतः रोमावलीरूप विषय का अपह्नव तथा धूमशिखारूप विषयी का विधान होने के नाते यहाँ अपह्नुति है, परिणाम या रूपक नहीं। रुय्यक का तथा उनके टीकाकारों का यही मत है।[2]

१. अ० र० पृ० ४०, अ० स० पृ० ६६।
२. देखिए—वि० पृ० ६६-६७, तथा समुद्र० पृ० ४८।

अत्र हि धूमशिखा रोमावलीवपुः परिणमतीत्युक्तौ न रोमावलिः अपितु धूमशिखेति प्रतीयते। —संजी० पृ० ६९।

मम्मट भी यही मानते थे—

अत्र रोमावलिः धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः। —का० प्र०।

परवर्ती आलंकारिकों ने, जैसेकि पण्डितराज जगन्नाथ ने, उपमा तथा रूपक के समान अपह्नुति के निरवयवा, सावयवा आदि[1] भेद भी किए हैं पर सर्वस्व में उनका संकेत या विवेचन नहीं है।

सादृश्यमूलक इस अलंकार में अन्य अलंकारों की भाँति समानधर्म का तीन प्रकार से निर्देश संभव है—अनुगामितया, वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से। इन तीनों का सोदाहरण विवेचन जयरथ ने किया है।[2]

---

१. जैसेकि विश्वनाथ ने श्लेषमूलक तथा अश्लेषमूलक भेदों की, जयदेव तथा अप्पय्यदीक्षित ने हेत्वपह्नुति (युक्तिपूर्वक अपह्नव) की चर्चा की है।

२. देखिए—वि० पृ० ६७।

उपमामूलक अलंकार : उत्प्रेक्षा

उपमा तथा रूपक की भाँति उत्प्रेक्षा भी प्राचीन अलंकार है। भरत को छोड़कर प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी आलंकारिकों ने इसे माना है। इस अलंकार को **'उपमया सह'** कहकर भामह ने उपमा के साथ इसके सम्बन्ध का पर्याप्त संकेत दिया है।[1] कुन्तक का कहना है कि अगर एक से अधिक अलंकार किसी उदाहरण में हों और यदि उनमें उत्प्रेक्षा भी एक है तो वह अपने सौन्दर्य से दूसरे अलंकारों को फीका बना देती है।[2] केशवमिश्र ने उत्प्रेक्षा को सभी अलंकारों का सर्वस्व, कवि की कीर्ति को बढ़ाने वाली तथा नवोढा की भाँति हृदयहारिणी बताया है—

> **सर्वालंकारसर्वस्वं कविकीर्तिविवर्धिनी।**
> **उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोढा स्मितादिव ॥**—अलंकारशेखर, पृ० ३६।

उत्प्रेक्षालंकार के महत्व का यह उचित संस्तव है। दण्डी के **'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि......'** उदाहरण ने अनेकों की बुद्धि का लेपन किया है।[3] उद्भट ने **'सम्भावनेयमुत्प्रेक्षा'** कहकर उत्प्रेक्षा का बीज सम्भावना में माना था।[4] आरोप, अपह्नव, सन्देह आदि अलंकारशास्त्र की समृद्ध शब्दावली को अलंकार-निर्वचन के लिए एक नवीन शब्द मिला। वामन ने उत्प्रेक्षा का लक्षण करते हुए कहा कि अतद्रूप का अन्यथा अध्यवसान, जो अतिशय या भ्रान्तिज्ञान की निवृत्ति के लिए होता है, उत्प्रेक्षा है। उद्भट ने उत्प्रेक्षा का लक्षण करते हुए संभावना शब्द दिया था तो वामन ने उसके लिए अध्यवसान। आगे चलकर रुय्यक ने उद्भट

---

१. भामहालंकार, २।९१।

२. अपहृत्यान्यालंकारलावण्यातिशयश्रियः।
उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते ॥—व०जी० (अन्तरश्लोक) १०१।

३. दण्डी के अनुसार चेतन अथवा अचेतन की अन्यथा स्थित वृत्ति को अन्यथा उत्प्रेक्षित करना उत्प्रेक्षालंकार है।—काव्यादर्श, २। २२१।

४. लोकातिक्रान्तविषयां भावाभावाभिमानतः संभावनेयम्।
—का० अ० स० ३।४५।
उद्भट ने उत्प्रेक्षा को 'अतिशयान्विता' कहा है, जिसका अर्थ तिलक ने 'उत्कर्षपर्यवसायिनी' दिया है।

की **सम्भावना** और वामन के **अध्यवसान** को साध्य अध्यवसाय बताकर एक तो अतिशयोक्ति से इसके विषय-विभाग की स्पष्ट दिशा निर्धारित की और दूसरी ओर पारिभाषिक रूप में उपयुक्त नवीन शब्द का प्रयोग किया। तबसे आजतक के आलंकारिक **संभावना** और **साध्याध्यवसाय** इन दो शब्दों का सहारा लेकर उत्प्रेक्षा का स्वरूपोन्मेष करते आ रहे हैं। वामन ने '**सादृश्यादियमुत्प्रेक्षा**' कहकर इसे स्पष्ट शब्दों में सादृश्यमूलक घोषित किया है तथा जो आलंकारिक इसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति में करना चाहते थे उन्हें अपने सूत्रों[1] द्वारा दोनों अलंकारों का भेद बताकर अन्तर्भाव-कथा को वामन ने सदा के लिए मौन कर दिया।

अध्यवसाय की साध्यावस्था

ऊपर उपमा आदि अलंकारों के विवेचन में हमने देखा है कि इन सभी में मुख तथा चन्द्र की प्रथमतः भिन्नत्वेन प्रतीति होती है पुनः यह प्रतीति या तो भेदाभेद की समानता में परिणत होती है अथवा अभेद में। अपह्नुति में भी विषय का उपादान होने से उसके निषेध या अपह्नव के माध्यम से वस्त्वन्तर की प्रतीति होने पर भी प्रथम वस्तु, उदाहरण के लिए मुख, की प्रतीति संलग्न रहती है। इस अलंकार के संदर्भ में हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि वस्त्वन्तर की प्रतीति की प्रक्रिया आरोप से प्रारम्भ होकर अध्यवसान में उन्मुख हो जाती है इस प्रकार प्रतीति-विश्लेषण की दृष्टि से अपह्नुति की स्थिति रूपक के आरोप और उत्प्रेक्षा के अध्यवसाय की मध्यवर्तिनी है। उपमा शब्द जिससे उपमा दी जाती है उसका, रूपक शब्द जिस पर रूपण होता है उसका, सन्देह या भ्रान्तिमान् शब्द जिसके सम्बन्ध में सन्देह या भ्रान्ति होती है उसका, और इसीप्रकार अपह्नुति शब्द जिसका अपह्नव होता है उसका बोध पृथग् अधिकरण के रूप में बनाए रखते हैं। अलंकारों के ये चरितार्थ नाम पर्यवसित अनुभूति में उपमेय या विषय की अनुसक्त प्रतीति के समर्थ बोधक हैं। उत्प्रेक्षा शब्द इसके विपरीत कल्पना या सम्भावना के अंश पर बल देता है। विषय के स्थान पर विषयी के सम्बन्ध में कवि के प्रोद्भासमान आकर्षण को व्यक्त करता है। यहाँ से उसके कवित्व का प्रधान बिन्दु कमल की सम्भावना का होता है। सम्भावना अथवा मुख को कमल के रूप में उत्प्रेक्षित करने की यह मानसी वृत्ति साध्य अध्यवसाय है। रुय्यक ने उत्प्रेक्षा का लक्षण देते हुए विषय की इसी निगीर्यमाणता को साध्य अध्यवसाय या अध्यवसाय में व्यापार (क्रियांश)

---

१. का० अ० सू० ४।३।९ ; ४।३।१० ।

की प्रधानता कहा है। उनका उत्प्रेक्षा-लक्षण है—

अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा। —अ० स० पृ० ६६।

अध्यवसाय का अर्थ है विषय का निगरण, इसी के द्वारा सहृदय को दो वस्तुओं में अभेद-प्रतीति होती है—

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः। —वहीं।

जब विषय का निगरण सर्वथा नहीं होता वह निगरण की प्रक्रिया या निगीर्यमाणता में रहता है तो उसे साध्य अध्यवसाय कहते हैं और जब निगरण सर्वथा पूर्ण हो जाता है तो उसे सिद्ध अध्यवसाय। पहले को उत्प्रेक्षा तथा दूसरे को अतिशयोक्ति कहते हैं—

अध्यवसायसाध्यत्वप्रतीतावियमिष्यते।
तत्सिद्धताप्रतीतौ तु भवेदतिशयोक्तिधीः॥ —वि० पृ० ८३।

अध्यवसाय का साधारण लोकप्रचलित अर्थ है निश्चयज्ञान। ज्ञान या तो सम्यग् होता है या मिथ्या। रजत को रजत ही पहिचानना सम्यग् ज्ञान है और उसे सीपी समझना मिथ्या ज्ञान है। साहित्यशास्त्री का 'अध्यवसाय' न तो मिथ्या ज्ञान है और न सम्यग् ज्ञान है। मिथ्या ज्ञान तो इसलिए नहीं है क्योंकि सहृदय काव्यानुभूति के क्षण में अपनी प्रेयसी के मुख को चन्द्र सचमुच समझता है और सम्यग् ज्ञान इसलिए नहीं है क्योंकि जीवन की कटुता के अनेक क्षण मुख को वही मुख समझने के लिए बाध्य करते हैं जिसके लिए रोटी का सवाल है। इसके अतिरिक्त प्रमाता शुक्तिका को शुक्तिका समझकर उसे रजत समझने का भ्रम नहीं कर सकता पर सहृदय मुख को मुखरूप में समझकर भी इसे चन्द्र समझता है। इस प्रकार कवि का 'अध्यवसाय' लोक-विलक्षण है; वह प्रतीति-पुरस्सर अध्यास है। सन्देहालंकार की स्थिति में कवि कोसन्देह था कि मुख मुख है या चन्द्र। अब वह मुख के चन्द्र होने की सम्भावना करता है। सन्देह में दोनों ही अनुभूतियाँ समानरूप से क्या हैं के चक्कर में पड़ीं रहतीं हैं। विषय और विषयी दोनों ही अंशों से कविविमर्श किंस्वित् का प्रश्न पूँछता है, किन्तु सम्भावना में एक पक्ष (विषय) शिथिल हो जाता है और दूसरा पक्ष (विषयी) दृढ़ हो जाता है। बालबोधिनी के शब्दों में उपमेय की अपेक्षा उपमान की प्रतीति में उत्कटता आ जाती हैं।[1] यह स्थिति सम्भावना की है। इसके आगे चलकर कवि उपमेय की प्रतीति नहीं करता। विषय की

---

१. का० प्र० (झलकीकर), पृ० ४८४।

शिथिलता का प्रश्न ही नहीं रहता, केवल विषय का ही ज्ञान रहता है। इसमें कवि की चित्तवृत्ति में निश्चय रहता है। सम्भावना इसी सन्देह और निश्चय की अन्तर्वर्तिनी प्रतीति है। इसी सम्भावना-प्रत्यय को रुय्यक ने साध्य अध्यवसाय कहा है। यद्यपि साधारणतया इन दोनों में कोई भेद नहीं है,[1] पर लोक तथा शास्त्र की सम्भावना तथा साहित्यिक साध्य अध्यवसाय में कुछ भेद होना स्वाभाविक है। लोक में जब हम **'पुरुषेणानेन भवितव्यम्'** के रूप में पुरुष की सम्भावना करते हैं तो वास्तविक पुरुष हो भी सकता है अर्थात् पुरुष की वस्तु-सम्भवता है किन्तु कवि जब मुख में चन्द्र की सम्भावना करता है तो क्या वहाँ वास्तविक चन्द्र सम्भव है? नहीं। विषयी की प्रतीति साध्याध्यवसाय में वस्तुदृष्टि से असत्य है। चन्द्र का मुख के रूप में होना सदा असम्भव है, वस्तुदृष्टि से असत् है। इसीलिए रुय्यक का कथन है कि साध्य अध्यवसाय में विषयी की प्रतीति असत्यतया होती है—

साध्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीतिः। —अ० स० पृ० ७१।

इस असत्यप्रतीति का कारण यह है कि कवि मुख को मुख जानने के बाद उसमें चन्द्र की सम्भावना प्रयोजनविशेष को लेकर करता है जबकि प्रमाता स्थाणु में पुरुष की सम्भावना प्रतीतिपुरस्सर या प्रयोजनविशेष को लेकर नहीं करता। कवि मुख में चन्द्र की सम्भावना किस उद्देश्य को लेकर करता है? निश्चय ही चन्द्र की मधुरिम शीतलता आदि मुख में बताने के लिए। पर ये सारे धर्म चन्द्र के हैं, वस्तुतः वह इनका आश्रय है, मुख नहीं अर्थात् अप्रकृत तो उन सारे गुणों का आश्रय है और प्रकृत उनका आश्रय नहीं है। पहला सम्भवाश्रय है और दूसरा असम्भवाश्रय। प्रेयसी के मुख में कवि को चन्द्र की मधुरिमा के दर्शन होते हैं। वह चन्द्र के सभी गुणों को मुख में बताने के लिए प्रवृत्त हो जाता है, भले ही मुख चन्द्र ही है यह निश्चय-प्रतीति न करा सके। यह प्रयास, व्यापार या मुख में चन्द्र की सम्भावना साध्य अध्यवसाय है।[3]

---

१. यदेव चाध्यवसायस्य साध्यत्वं तदेव संभावनात्मकत्वम्। संभावना हि ह्येकतरपक्षशिथिलीकारेण पक्षान्तरदार्ढ्येन च प्रादुर्भवतीत्यस्याः साध्याध्यवसायतुल्यकक्ष्यत्वम्। —वि० पृ० ७०।

२. देखिए—वि० पृ० ७१। तथा—
मुखं मुखत्वेन जानन्नेव यदा चन्द्र इति सम्भावयति तदा विषयी चन्द्रो मुखत्वेनासत्यः प्रतिभाति। —संजी० पृ० ७१।

३. देखिए—अ० स०, वि० पृ० ७१; समुद्र० पृ० ४९-५१।

शोभाकर के अनुसार प्रत्यय या ज्ञान दो प्रकार का है—सन्देह तथा निश्चय। अन्तिम के दो भेद हैं सम्यग् तथा असम्यग्। सम्यग् प्रत्यय का अर्थ से व्यभिचार नहीं होता और असम्यग् का व्यभिचार होता है। इसी को न्याय दर्शन में क्रमश: प्रवृत्तिसंवाद तथा प्रवृत्ति-विसंवाद कहा जाता है। उत्प्रेक्षा को न तो सम्यग् ज्ञान माना जा सकता है और न असम्यग्। दोनों ही निश्चय-ज्ञान के भेद हैं। उत्प्रेक्षा में निश्चय-ज्ञान नहीं होता अतः जो ज्ञान अनिश्चयरूप है वह सन्देह प्रत्यय के अन्तर्गत मानना पड़ेगा अत: उत्प्रेक्षा सम्भावना है और सम्भावना सन्देहमूलक है। वह अनिश्चय-ज्ञान है। इसमें अध्यवसाय तो माना ही नहीं जा सकता क्योंकि इसके लिए आवश्यक है विषय का निगरण और विषयी का निश्चय। पर उत्प्रेक्षा में दोनों ही नहीं है।[1] अत: शोभाकर के अनुसार उत्प्रेक्षा को अध्यवसायगर्भ नहीं माना जा सकता। इस आधार पर रुय्यक-लक्षण—'**अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा**'—की उन्होंने आलोचना की है।

शोभाकर की भाँति जगन्नाथ का भी कहना है कि उत्प्रेक्षा में विषय जागरूक (वे 'उपादान' शब्द का प्रयोग नहीं करते) रहता है और अध्यवसाय के लिए आवश्यक है विषय का निगरण।[2] विषयनिगरण न होने पर भी यदि अध्यवसान माना जा सकता है तो रूपक को भी अध्यवसायगर्भ मानना पड़ेगा। अध्यवसाय लक्षणा का एक भेद है। पर उत्प्रेक्षा के विधेयांश में लक्षणा नहीं होती अत: इस अलंकार में साध्य अध्यवसाय मानना उचित नहीं है। यह है जगन्नाथ का मत।

हम बता चुके हैं कि सन्देह और निश्चय के अतिरिक्त सम्भावना को इनसे भिन्न तीसरा प्रत्यय मानना आवश्यक है। सम्भावना न तो निश्चय-ज्ञान है और न अनिश्चय-ज्ञान। वह इन दोनों की अन्तर्वर्तिनी स्थिति है। इसकी दशा त्रिशंकु की है जो न धरा पर है न स्वर्ग में। अत: प्रत्यय तीन प्रकार का है, दो तरह का नहीं। आरोप तथा अध्यवसाय का भेद स्पष्ट करते हुए यह भी बताया जा चुका है कि विषय का उपादान उत्प्रेक्षा में आवश्यक नहीं है। आरोप में विषय की विषयितया प्रतीति होती है। अध्यवसाय में विषयी की ही प्रतीति होती है। इस भेद के आधार पर रूपक

---

१. अ० र० पृ० ४७।

२. रसग० पृ० ३०२।

को अध्यवसायगर्भ मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः शोभाकर तथा जगन्नाथ का निम्नलिखित कथन सदोष है—

अत एव नाध्यवसायमूलत्वमस्याः। तस्य विषयनिगरणं विषयिनिश्चयश्च स्वरूपम्। न चात्रैकमपि संभवति विषयोपादानात्, निश्चयाभावाच्च।

—अ० र० पृ० ४७।

तथा—

किञ्च नूनं मुखं चन्द्र इत्यादौ कुत्राध्यवसायः विषयस्य जागरूकत्वात्। × × साध्याध्यवसाने मानाभावात्, अन्यथा रूपकादेरप्यध्यवसायगर्भत्वापत्तेः।

—रसग० पृ० ३०२।

उत्प्रेक्षा में जहाँ विषय का निर्देश भी होता है वहाँ भी अध्यवसाय की प्रक्रिया सम्भव है, हाँ यह अवश्य है कि इस प्रक्रिया में विषयी द्वारा विषय का अधःकरण आवश्यक है। विश्वनाथ ने यही मत व्यक्त किया है, जो उचित भी है—

विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते॥—सा० द० पृ० ५४८।

इस प्रकार अध्यवसाय-प्रक्रिया का आवश्यक तत्त्व विषयी को उभाड़कर प्रस्तुत करने का है, विषय का उपादान होता है या नहीं यह अवान्तर प्रश्न है। रूपक की आरोप-प्रक्रिया में मुख तथा कमल का, आरोपविषय तथा आरोप्यमाण विषयी का पृथग्-पृथग् उपादान आवश्यक है। उपादान के विना रूपण की प्रक्रिया सम्भव नहीं है। इसमें प्रतीति भी मुख तथा कमल दोनों की होती है पर उत्प्रेक्षा में भले ही विषय का उपादान हो पर प्रतीति विषयी की ही प्रधान रूप में होती है।

अध्यवसाय की लक्षणामूलकता

आरोप की भाँति अध्यवसाय लक्षणागर्भित है। लक्षणा के दो भेद हैं—सारोपा तथा साध्यवसाना। सारोपा में विषयी तथा विषय दोनों का उपादान होता है।[1] साध्यवसाना में विषयी विषय का अन्तःनिगरण करता है।[2] लक्षणा

---

१. सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।—का०प्र० १४वीं कारिका।

२. विषयन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।

—का० प्र० १५वीं कारिका।

के ये ही दो भेद आरोपगर्भ तथा अध्यवसायगर्भ अलंकारों के मूल में हैं। आरोप होने पर रूपक आदि और अध्यवसाय होने पर (भ्रान्तिमान्) उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति अलंकार होते हैं। आरोप में विषयी और विषय का उपादान होने पर विषय की प्रतीति विषयी के रूप में होती है। यदि ऐसा न हो तो सहृदय को चमत्कार ही न मिले। केवल लक्षणा होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि विषय की विषयितया प्रतीति हो। अलंकारवाद की दृष्टि से **'गौर्वाहीकः'** में लक्षणा मानी जा सकती है, रूपक नहीं। **'मुखं चन्द्रः'** में रूपकालंकार है क्योंकि सहृदय मुख की चन्द्र के रूप में प्रतीति करना चाहता है, उसी में चमत्कार है। मुख और चन्द्र का केवल समानाधिकरण से अलंकार मान लेना सारोपा लक्षणा को ही रूपक मानना होगा। यहाँ पर यह लिखना आवश्यक है कि अलंकार शब्दशक्तियों के विभिन्न भेद नहीं हैं अतः सारोपा लक्षणा के प्रत्येक प्रयोग को रूपक अलंकार नहीं माना जा सकता। यद्यपि यह अवश्य है कि वह शब्दव्यापार रूपक के मूल है। इस प्रकार रूपकगत आरोप में विषय की विषयी के रूप में अनुभूति होती है पर उपादान दोनों का होता है। अध्यवसाय के दोनों रूपों—साध्य तथा सिद्ध—में विषय का उपादान अपरिहार्य नहीं है, यद्यपि पहले में वह उचित है। जहाँ तक सिद्ध अध्यवसायरूप अतिशयोक्ति का सम्बन्ध है, सभी आलंकारिक उसमें विषय का उपादान नहीं चाहते। साध्य अध्यवसायरूप उत्प्रेक्षा में भी विषय का उपादान यदि न भी हो तब भी उत्प्रेक्षा हो सकती है। रुय्यक के विवेचन से तो यही मालूम पड़ता है कि वे उत्प्रेक्षा में विषयोपादान आवश्यक समझते हैं किन्तु उत्प्रेक्षा का स्वरूप यदि निगरणप्रक्रिया या अध्यवसाय-क्रिया में है तो मेरे विचार में विषय का उपादान अपरिहार्य नहीं है। जयरथ का भी यही विचार है—

अतएव चात्र क्वचिद् विषयानुपादानम्। —वि० पृ० ७०।

और इस सम्बन्ध में उन्होंने मम्मट का अनुसरण किया है। परवर्ती आलंकारिकों में विश्वनाथ तथा जगन्नाथ भी विषयानुपादान की अवस्था में उत्प्रेक्षा मानते हैं। यह ठीक भी है क्योंकि उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय होता है, सम्भावना उसका स्वरूप है, निगीर्यमाणता की प्रतीति होना उसका लक्षण है; और यह सब विषय के उपादान न होने पर भी सम्भव है। अध्यवसाय इसके विपरीत न होकर अनुकूल ही होगा। वस्तुतः विषय के उपादान और अनुपादान को लेकर हम उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति का भेद करना उचित नहीं समझते। जहाँ 'इव' का प्रयोग हो और निगीर्यमाणता हो वहाँ उत्प्रेक्षा होगी, विषय का

अनुपादान होने से वहाँ अतिशयोक्ति तो नहीं होगी क्योंकि उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति का वास्तविक भेद अध्यवसाय की साध्यावस्था तथा सिद्धावस्था में है। अस्तु, आरोप में विषय तथा विषयी का उपादान सभी स्थितियों में आवश्यक है। अध्यवसाय में इन दोनों का उपादान आवश्यक नहीं है। पहले में यदि विषय की विषयितया प्रतीति होती है तो अध्यवसाय में विषयी की ही प्रतीति होती है।

तत्र विषयस्य विषयितया प्रतीतिः, इह पुनर्विषयस्य निगीर्यमाणत्वेन विषयिण एव प्रतीतिः। —वहीं।

उत्प्रेक्षा के भेद

रुय्यक ने उत्प्रेक्षा के निम्नलिखित आधारों पर भेदोपभेद किए हैं। उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द[1] का प्रयोग अथवा अप्रयोग, उत्प्रेक्ष्य वस्तु के जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य रूप चार भेद; उसका भावरूप अथवा अभाव रूप होना; उत्प्रेक्षानिमित्त का गुण अथवा क्रियारूप में होना; उसकी उक्ति अथवा अनुक्ति; उत्प्रेक्ष्य वस्तु का स्वरूप, हेतु, फल में से किसी एक रूप का होना तथा प्रस्तुत की उक्ति अथवा अनुक्ति। वाच्योत्प्रेक्षा (जिसमें इवादि का उपादान होता है) तथा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा (जिसमें इवादि का उपादान नहीं होता) में से प्रत्येक के इन आधारों पर ९६ भेद होते हैं।[2] रुय्यक के अनुसार द्रव्य का

---

१. उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनम् और इव आदि हैं—

मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥

रुय्यक के अनुसार इवादि की भाँति, मन्ये शब्द उत्प्रेक्षा के अन्य हेतुओं के न रहने पर केवल वितर्क का वाचक है, सम्भावना का नहीं।

—अ० स० पृ० ८२।

इव शब्द उपमावाचक भी है और सम्भावनावाचक भी। संजीविनी के अनुसार जब उपमान लोकसिद्ध होता है तो इव शब्द साधर्म्य का सूचक होता है तथा इस स्थिति में उपमा अलंकार होता है। जब उपमानांश लोकसिद्ध न होकर कविकल्पित होता है तो इव शब्द सम्भावना व्यक्त करता है तथा उत्प्रेक्षा का वाचक बन जाता है।

२. देखिए—अ० स० पृ० ७२-७३ तथा नि० का० ३८-४३।

स्वरूपोत्प्रेक्षण ही होता हैं अतः वे हेतु तथा फलमूलक भेद वाच्योत्प्रेक्षा के नहीं मानते हैं। इस प्रकार स्थूल दृष्टि से लगभग अस्सी भेद वाच्योत्प्रेक्षा के रुय्यक को अभिमत हैं। प्रतीयमाना में उत्प्रेक्षानिमित्त के अनुपादानमूलक भेदों को नहीं माना जा सकता क्योंकि इव आदि का उपादान भी न हो (जो कि प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में स्वाभाविक है) और निमित्त की भी चर्चा न हो तो भला उत्प्रेक्षा कैसे होगी ? इसके अतिरिक्त प्रतीयमाना में स्वरूप का उत्प्रेक्षण भी सम्भव नहीं है अतएव जयरथ के अनुसार रुय्यक को प्रतीयमाना के केवल अड़तालीस भेद मानना अभीष्ट है।[1] रुय्यक ने अलंकारानुसारिणी में यह स्पष्टतः निर्देश भी किया था, यह हमें जयरथ के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है—

प्रतीयमानोत्प्रेक्षाभेदा अष्टचत्वारिंशत्।

---

१. चित्रमीमांसा के अनुसार वाच्या के ५५ और प्रतीयमाना के ४० भेद रुय्यक को अभिमत हैं। अप्पय्यदीक्षित के अनुसार रुय्यक की भेदोपभेदव्यवस्था के लिए देखिए—चित्रमी० पृ० ६८-६६।

संजीविनी के अनुसार रुय्यक को वाच्योत्प्रेक्षा के ६६ और द्रव्योत्प्रेक्षा के हेतु, फलमूलक १६ भेदों को छोड़ दें तो अस्सी तथा प्रतीयमाना के बत्तीस भेद मानना अभीष्ट हैं। इसके अनुसार रुय्यक-सम्मत उत्प्रेक्षा के भेदों का वर्गीकरण निम्नलिखित है—

वाच्योत्प्रेक्षा तु षण्णवति (?) सोद्दिष्टा। यथा जातिगुणक्रियाद्रव्याणामुत्प्रेक्ष्यत्वेन चतस्र उत्प्रेक्षाजातयः प्रतिस्वं चतुर्विंशतिधा प्रथन्ते। यथा जात्युत्प्रेक्षा तावद् भावाभावाभिमानरूपतया द्विधा। द्विविधापि गुणनिमित्तका क्रियानिमित्तका च, इत्थं चतुर्धा। सा चोपात्तनिमित्ता, अनुपात्तनिमित्ता चेत्यष्टधा। अष्टविधापि हेतुस्वरूपफलोत्प्रेक्षारूपतया त्रिविधेति चतुर्विंशतिप्रकारा। अनेनैव नयेनान्यदप्युत्प्रेक्षात्रयं प्रत्येकं चतुर्विंशतिधा मन्तव्यम्। तथा च प्रत्येकं त्रिस्कन्धिका एताः हेतुस्वरूपफलोत्प्रेक्षणरूपतया स्कन्धत्रयमपि प्रतिस्वमष्टविधम्। तथाहि—उपात्तगुणनिमित्ता भावाभिमानरूपिणी हेतुजात्युत्प्रेक्षा, सैवानुपात्तगुणनिमित्ता। तथोपात्तक्रियानिमित्ता सैवानुपात्तक्रियानिमित्ता चेति भावाभिमानरूपतया चतुर्धा। एवमभावाभिमानरूपतयापि चतुर्धा इति हेतूत्प्रेक्षास्कन्धोऽष्टविधः। अनयैव नीत्या फलोत्प्रेक्षास्कधः स्वरूपोत्प्रेक्षास्कन्धश्च प्रतिस्वमष्टविध इति जात्युत्प्रेक्षा त्रिस्कन्धतया चतुर्विंशतिधा। एवं गुणक्रियाद्रव्योत्प्रेक्षा अपि प्रत्येकं चतुर्विंशतिधा ज्ञेयाः।

द्विविध उत्प्रेक्षा के इन भेदोपभेदों के अतिरिक्त कभी उसके धर्म (गुण अथवा क्रिया) के श्लिष्टशब्दनिमित्तक होने, कभी पदार्थ के उपमालंकार और वाक्यार्थ के उत्प्रेक्षा का वाचक होने (उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा), कभी छल आदि शब्दों के प्रयोग करने से (सापह्नवा उत्प्रेक्षा) अनेक और उपभेदों की कल्पना की जा सकती है। आचार्य जयरथ ने, भामह तथा उद्भट के 'उत्प्रेक्षातिशयान्विता' वचन के आधार पर उत्प्रेक्षा के अतिशयोक्तिमूलक भेद गिनाकर (देखिए-वि० पृ० ८२) इसकी भेदसंख्या और भी बढ़ा दी है। उत्प्रेक्षा के इन विशेष भेदों के अतिरक्त साधारण धर्म के त्रिविध निर्देश के आधार पर भी इसके भेद किए जा सकते हैं।[1] उत्प्रेक्षा सादृश्यमूलक है अतः अनुमान, सादृश्य और उभय कुन्तक-सम्मत इन[2] भेदाधारों में से 'सम्भावना' केवल द्वितीय में मुझे मान्य है। उत्प्रेक्षा का सर्वाधिक विस्तार तथा वर्गीकरण रुय्यक ने ही किया है। इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने उत्प्रेक्षा-भेद के कुछ आधार अवश्य प्रस्तुत कर दिए थे। उदाहरण के लिए इवादि के प्रयोग करने पर वाच्या तथा प्रयोग न करने पर प्रतीयमाना तथा भावरूप एवं अभावरूप सम्भावन की चर्चा उद्भट ने ही कर दी थी। किन्तु समग्र आधारों पर उत्प्रेक्षा का आतान-प्रतान तथा उसका वर्गीकरण रुय्यक की ही कृति है। उनके टीकाकार जयरथ ने संकेतित भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करने के साथ स्वयं भी अनेक भेद बताए हैं। उत्प्रेक्षा सादृश्य-मूलक अलंकार है, यही रुय्यक को भी मान्य है। अतः जिन भेदों का उत्प्रेक्ष्य सादृश्य से कोई सम्बन्ध है उन्हें ही भेद के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। अतः द्रव्यादि, भावादि तथा स्वरूप के आधार पर जो भेद किए जाते हैं उनमें सादृश्य या औपम्यमूलकता नहीं है तो उन्हें उत्प्रेक्षा का भेद नहीं मानना चाहिए।

जयरथ ने अतिशयोक्तिगर्भित उत्प्रेक्षा का जो विभाजन किया है वह भी उत्प्रेक्षा के अध्यवसायमूलक होने के नाते उचित है। यद्यपि उत्प्रेक्षा के

तत्र द्रव्योत्प्रेक्षायां हेतुफलोत्प्रेक्षापाते षोडशकहानिः अतः, स्थूलदृशा तावद-शीतिविधा वाच्या। प्रतीयमानायान्तु अनुपात्तनिमित्ताया अशेषं पातेऽष्ट-चत्वारिंशद्धानिः। उपात्तनिमित्तायां च स्वरूपोत्प्रेक्षणपाते षोडशकहानिः अतो द्वात्रिंशद्भेदा प्रतीयमाना मन्तव्या। —संजी० ७३-७४।

१. देखिए—चित्रमी० पृ० ६५-६६।

२. सम्भावनानुमानेन सादृश्येनोभयेन वा...। —हि० व० जी० पृ० ४२२।

अनेक भेदोपभेदों का संकेत प्राचीन आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) ने किया था किन्तु मम्मट तक हमें इनका वर्गीकरण निश्चित आधारों पर नहीं मिलता है। रुय्यक ने इसका कक्ष्याविभाग उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर किया है, साथ ही उन्होंने अनेक सम्भव भेदोपभेदों के सम्बन्ध में अपनी अभिमति भी व्यक्त की है। इस भेदोपभेदव्यवस्था का परवर्ती आलंकारिकों में अनेक आचार्य जैसेकि जयरथ,[1] विद्याधर, विद्यानाथ,[2] विश्वनाथ,[3] अप्पय्यदीक्षित तथा जगन्नाथ पर प्रभाव पड़ा पर साथ ही इन सभी भेदोपभेदों का कभी किसी अलंकारग्रन्थ में प्रदर्शन सम्भव नहीं हो सकता, यह रुय्यक ने स्वयं स्वीकार किया है—

तदसावुत्प्रेक्षाया कक्ष्याविभागः प्रचुरतया स्थितोऽपि लक्ष्ये दुरवधारत्वादिह न प्रपञ्चितः। —अ० स० पृ० ८२।

---

१. जयरथ ने रुय्यक के भेदों का सोदाहरण विवेचन किया है जो सम्भवतः रुय्यक की अलंकारानुसारिणी पर आधारित है।

२. विद्यानाथ ने वाच्या तथा प्रतीयमाना के १६-१६ भेद माने हैं। जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य चारों के भावाभावरूप से आठ और गुणनिमित्त तथा क्रियानिमित के आधार पर १६ भेद बनते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने १०४ भेदों की चर्चा भी की है। देखिए—प्रतापरुद्र० पृ० २७८।

३. उत्प्रेक्षा के भेदोपभेद का आख्यान करने वाली साहित्यदर्पण, दशम परिच्छेद, की कारिकाएं निम्नलिखित हैं जिन पर सर्वस्व की भेदव्यवस्था का प्रभाव सुतरां स्पष्ट है—

वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता।
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः।
जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥४१॥

तदष्टधापि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः।
गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः ॥४२॥

द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति तत्र वाच्याभिदाः पुनः।
विना द्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः ॥४३॥

उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः।
प्रतीयमानाभेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ॥४४॥

रुय्यक के बाद ही शोभाकर ने कुछ भेदों को गिनाकर **'सम्भविनोऽप्यन्यभेदा वैचित्र्यविशेषाभावान्नेह गणिताः'** (अ० र० पृ० ४७) की परम्परा चला दी जिसका फल यह हुआ कि अप्पय्यदीक्षित ने उत्प्रेक्षा को केवल ६ भेदों तक सीमित कर दिया।[1]

अलंकारशास्त्रियों ने अपने विभिन्न सिद्धान्तों तथा मान्यताओं के आधार पर विभिन्न अलंकारों के उदाहरणों पर जितना सूक्ष्म तथा मार्मिक विवेचन किया है, किसी भी भाषा के साहित्य में उतना विशद, सूक्ष्म तथा मार्मिक विवेचन नहीं मिलता। हम केवल यहाँ उत्प्रेक्षा के दो उदाहरणों पर विचार करेंगे। पहला काव्यादर्श का यह प्रसिद्ध श्लोक है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥—काव्यादर्श, २।२२६।

[अन्धेरा अंगों को पोत-सा रहा है, आकाश काजल-सा बरसा रहा है। दुष्ट व्यक्ति की सेवा की भाँति आँख बेकार हो गई है]

रुय्यक के अनुसार श्लोक के पूर्वांश में क्रिया की उत्प्रेक्षा है पर द्वितीयार्ध में उपमा है, उत्प्रेक्षा नहीं। अनेक आलंकारिकों ने इसका प्रतिवाद करते हुए इस पूरे पद्य को उत्प्रेक्षा का ही उदाहरण माना है। उत्प्रेक्षा के उदाहरणभाग के सम्बन्ध में रुय्यक का मत मम्मट आदि आचार्यों से भिन्न है। रुय्यक के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है अन्धकार, 'लेपनक्रियाकर्तृत्व' धर्म है, अन्धकार का प्रसार आदि प्रतीयमान निमित्त है, इस प्रकार तम धर्मी में लेपनक्रियाकर्तृत्व धर्म की उत्प्रेक्षा है। यदि इस उदाहरण में तम के प्रसार (व्यापन) को विषय माना जाता है और लेपन की सम्भावना या उत्प्रेक्षा की जाती है, जैसाकि मम्मट ने किया है, तो उत्प्रेक्षा का निमित्त कोई दूसरा ही खोजना होगा। पुनश्च तम का प्रसार, जिसे मम्मट यहाँ विषय मानते हैं, शब्दतः उपात्त नहीं है और विषय का प्रतीयमान होना उत्प्रेक्षा में अभीष्ट नहीं है। विषय का उपादान सर्वथा आवश्यक है अतएव प्रकृत उदाहरण में अन्धकार के प्रसार को विषय नहीं माना जा सकता है। अन्धकार का ही प्रसार लेपन की उत्प्रेक्षा का आधार है अतः उसका उपादान ही आवश्यक था। अतएव इस

उक्त्यनुक्त्योः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा।
अलंकारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत्॥४५॥

1. हि० कुवलयानन्द, पृ० ३५-३६।

उदाहरण में यही मानना उचित है कि अन्धकार धर्मी में 'लेपनक्रियाकर्तृत्व' धर्म की उत्प्रेक्षा है जिसका निमित्त अन्धकार का प्रसार है जो शब्दतः अभिहित न होने के कारण प्रतीयमान है।

दूसरा उदाहरण गुणोत्प्रेक्षा का है—

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥

—रघुवंश, १३।२३।

इस उदाहरण में रुय्यक के अनुसार मौन नूपुर में दुःख (गुण) की सम्भावना की गई है। इस उदाहरण में सम्भावना अभेद-संसर्ग के द्वारा है या अन्य किसी सम्बन्ध से, इसको लेकर प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों में उग्र मतभेद रहा है।[1] प्राचीन आचार्य सम्भावना (विषय में विषयी की उत्प्रेक्षा) केवल अभेद-संसर्ग द्वारा मानते हैं और नव्यों के अनुसार धर्म और धर्मी में समवाय सम्बन्ध होता है अतः धर्म की धर्मी में सम्भावना उचित नहीं है।

इस उदाहरण में मौन की हेतुता को लेकर नूपुर में विश्लेष-दुख की उत्प्रेक्षा की गई है। इस दुःख की उत्प्रेक्षा में नूपुर की निश्चलता के निमित्त से निःशब्दता का मौन में अध्यवसाय है।[2] अप्पय्यदीक्षित का भी यही मत है।[3] रुय्यक के अनुसार नूपुर के मौन होने का हेतु दुःख है और उसकी उत्प्रेक्षा करने का निमित्त भी मौन होना है। जयरथ के शब्दों में नूपुर की निश्चलता आदि से तथा दुःख से उत्पादित मौन में यहाँ अभेद-संसर्ग है।

अतश्च निश्चलत्वादिजनितस्य दुःखजनितस्य च मौनित्वस्याभेदेनाश्रयणम्। —वि० पृ० ७६।

रुय्यक ने उत्प्रेक्षा का उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि से विषयविभाग करते हुए '**अपर इव पाकशासनः**' उदाहरण का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार यदि यहाँ 'अपर' शब्द का प्रयोग न हो तो इसे उपमा का उदाहरण मानना होगा। अपर शब्द के प्रयोग से प्रकृत राजा में इन्द्र होने की प्रतीति होती है जिसे अध्यवसाय का अंश कहा जा सकता है। यह अध्यवसाय इव शब्द के प्रयोग से साध्य बन जाता है अतः इस उदाहरण में उत्प्रेक्षा होगी। इव शब्द

---

१. देखिए—रसग० का उत्प्रेक्षा-प्रकरण।
२. वहीं, पृ० ३९८।
३. देखिए—चित्रमी० पृ० ९३।

अध्यवसाय को साध्य बनाता है अतः यदि उसका प्रयोग न होगा तो अध्यवसाय सिद्ध होकर अतिशयोक्ति की प्रतीति को जन्म देगा। और इसी उदाहरण में यदि अपर और इव दोनों शब्दों का प्रयोग न करें तो राजा का इन्द्र के साथ अभेदज्ञान होगा अतः रूपक अलंकार होगा। इस प्रकार अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप विभिन्न प्रतीति के उत्पादक होने से भिन्न भिन्न अलंकार बन जाते हैं।

उत्प्रेक्षावयव का अन्तर्भाव

भामह तथा भट्टि ने उत्प्रेक्षावयव के नाम से, जिसमें श्लिष्टार्थ तथा रूपकार्थ उत्प्रेक्षा के साथ संमिश्र रहते हैं, एक पृथक् अलंकार माना है। इसका लक्षण है—

> श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किंचिदुत्प्रेक्षयान्वितः।
> रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा॥
>
> —भामहालंकार, ३।२७।

वामन ने भी इसका निरूपण किया है (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।३।३३) किन्तु उन्होंने इसे उपमा, रूपक की भाँति, संसृष्टि का ही भेद माना है। इस अलंकार के भामहोक्त[1] अथवा वामनोक्त[2] उदाहरणों में सम्भावना या साध्य अध्यवसाय का ही स्वरूप है। अतः उत्प्रेक्षावयव का अन्तर्भाव उत्प्रेक्षा में ही करना उचित है। भोज ने उत्प्रेक्षावयव के उत्प्रेक्षा में अन्तर्भाव का स्पष्ट निर्देश किया है।[3] भोज की इस मान्यता का उनसे परवर्ती आलंकारिक रुय्यक आदि ने अनुसरण किया है।

---

१. तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रतिभास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगृहम्॥ —भामहालंकार, ३।४८।

२. अंगुलीभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥
—का० अ० सू० वृ० ४।३।३३।

३. भोज के अनुसार, प्राचीन आलंकारिकों को अभिमत उत्प्रेक्षावयव, उत्प्रेक्षोपमा तथा 'मत' अलंकार उत्प्रेक्षा के स्वरूप से भिन्न नहीं हैं—
उत्प्रेक्षावयवो यश्च या चोत्प्रेक्षोपमा मता।
मतं चेति न भिद्यन्ते तान्युत्प्रेक्षास्वरूपतः॥
—सरस्वती० ४। ५१।
तथा देखिए इस श्लोक पर जगद्धर की टीका पृ० ४६८-४७०।

उपमामूलक अलंकार : अतिशयोक्ति

भामह के समय से इसे स्वतन्त्र अलंकार माना गया है।[1] उन्होंने तो इसका स्तवन किया ही था, दण्डी भी इसे दूसरे अलंकारों का एकमात्र आश्रय मानते हैं—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥ —२।२२०।

उद्भट तक अतिशयोक्ति की परिभाषा इसके यौगिक अर्थ तक सीमित रही। उद्भट ने इसके चार भेदों का सर्वप्रथम निरूपण किया है।[2] वामन और रुद्रट इनके सम्बन्ध में मौन हैं। कुन्तक ने भी अतिशयोक्ति अलंकार का निरूपण किया है। उन्होंने इसके पाँच उदाहरण दिए हैं पर इनमें से केवल तीन पद्य पढ़ने में आए हैं, अतः निश्चितरूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि कुन्तक को उद्भट-सम्मत अतिशयोक्ति के भेद अभीष्ट हैं या नहीं। उन्होंने स्वयं भेदों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संकेत नहीं किया है। मम्मट ने अतिशयोक्ति की स्वतंत्र परिभाषा न देकर केवल भेदों का उपसंख्यान किया है। मम्मट तक सभी आलंकारिकों के अतिशयोक्ति-लक्षणों में उसे लोकातिक्रान्तगोचर, लोक-सीमातिवर्तिनी (भामहादि) या अतिलोक (रुद्रट) उक्ति बताया गया है। इन सभी आचार्यों ने अतिशय (कुन्तक, रुद्रट) या उपर्युक्त शब्दों के आधार पर अतिशयोक्ति की परिभाषा की है। इन आधारों पर अतिशयोक्ति का अलंकार-

---

१. भामह के अनुसार निमित्तपूर्वक लोकातिक्रान्त वचन अतिशयोक्ति है जो गुणातिशय के योग से होती है।

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा॥ —२।८१।
इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्॥ —२।८४।

उद्भट ने भामह के अतिशयोक्ति-लक्षण (२।८१)को यथावत् स्वीकार कर लिया है।

२. का० अ० सं० २।२४-२५।

रूप में लक्षण करना सदोष है। अतिशय या लोकातिक्रान्तगोचरता एक व्यापक काव्यतत्त्व है, उसका समावेश तो अनेक अलंकारों में पाया जाता है, वह सभी के नहीं तो अनेक अलंकारों के मूल में है। अतः औपम्य आदि की भाँति केवल अतिशय का होना अतिशयोक्ति-अलंकार का विशेष लक्षण नहीं माना जा सकता। इसी दृष्टि से पूवाचार्यों की परिभाषाएँ सदोष हैं। रुय्यक की परिभाषा वैज्ञानिक है। उन्होंने अध्यवसाय के आधार पर इसका लक्षण किया है। साध्य अध्यवसाय यदि उत्प्रेक्षा है तो सिद्ध अध्यवसाय अतिशयोक्ति। अध्यवसान में अध्यवसाय-रूप क्रिया (स्वरूप), विषय तथा विषयी तीन होते हैं। अध्यवसान उस क्रिया को कहते हैं, जिसमें विषयी द्वारा विषय का अन्तः-निगरण होता है। अध्यवसान में विषय की निगीर्यमाणता या निगरण रहने के नाते, उसकी प्रधानता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रधानता या तो क्रिया (अध्यवसाय के स्वरूप) की हो सकती है या विषय की। प्रथम स्थिति में उत्प्रेक्षा तथा द्वितीय में अतिशयोक्ति होती है। उत्प्रेक्षा में यदि अध्यवसाय प्रधान रहता है तो अतिशयोक्ति में अध्यवसित (विषयी) की प्रधानता रहती है। इसी विवेचन[1] के आधार पर रुय्यक की अतिशयोक्ति-परिभाषा है—

अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः। —अ० स० पृ० ८३।

सर्वस्व की इसी परिभाषा को शब्दशः साहित्यदर्पण तथा भावतः एकावली, प्रतापरुद्रयशोभूषण, रसगंगाधर आदि में अपनाया गया है। जगन्नाथ ने अतिशय को अध्यवसाय का समानार्थक मानकर (विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः—रसग० पृ० ३०७), यौगिकार्थ पर आधारित पूर्वाचार्यों के लक्षण तथा अध्यवसाय के आधार पर लक्षित रुय्यक आदि की अतिशयोक्ति-परिभाषाओं में समन्वय कर दिया है। रुय्यक ने उक्ति को लोकातिक्रान्तगोचर बताकर तथा अतिशय को इस अलंकार का फल तथा निमित्त मानकर अध्यवसाय को अतिशय का समानार्थक मानना उचित न समझा। वस्तुतः अतिशय को काव्यपरम्परा के आधार पर व्यापक काव्यतत्त्व ही मानना चाहिए, अध्यवसाय

---

१. अध्यवसाने त्रयं सम्भवति—स्वरूपं, विषयो विषयी च। विषयस्य हि विषयिणाऽन्तर्निगीर्णत्वे अध्यवसायस्य स्वरूपोत्थानम्। तत्र साध्यत्वे स्वरूपोत्थानम् सिद्धत्वे त्वध्यवसितप्राधान्यम्। विषयप्राधान्यमध्यवसाये नैव सम्भवति। अध्यवसितप्राधान्ये चातिशयोक्तिः।

—अ० स० पृ० ८३।

का समानार्थक नहीं। इस दृष्टि से जगन्नाथ की समन्वयवाली परिभाषा भी सदोष है।

ध्वन्यालोककार ने सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति-गर्भ माना है। उनका कहना है कि महाकवियों द्वारा अतिशयोक्ति का प्रयोग अपूर्व काव्य-सौन्दर्य का पोषण करता है। अतिशय का योग यदि विषय के औचित्य को दृष्टि में रखकर किया ज़ाता है तो वह काव्य में उत्कर्ष का आधान करता है। भामह की **'सैषा सर्वैव'** उक्ति का उद्धरण देते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जहाँ किसी अलंकार में अतिशय का योग हो जाता है तो कविप्रतिभा का संस्पर्श पाकर काव्य का सौन्दर्य अतिशयित हो जाता है। इसके अभाव में अलंकार अलंकारमात्र बन कर ही रह जाता है। उनके अनुसार सभी अलंकारों के स्वरूप में समाविष्ट हो सकने के कारण अतिशयोक्ति को अभेदोपचार से सर्वालंकाररूप कहा जा सकता है।

प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् ? भामहेनाप्यतिशयलक्षणे यदुक्तं—'सैषा सर्वैव ...'। तत्रातिशयोक्तिर्यमालंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात् तस्य चारुत्वातिशययोगः, अन्यस्यालंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः।

—ध्वन्या० (चौखम्बा), पृ० ४६५-६८।

आनन्द की ही भाँति कतिपय आचार्य सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति का ही भेद मानने की भूल करते आये हैं। उन्होंने भामह की **'कोऽलंकारोऽनया विना'** पंक्ति का अर्थ यही समझा कि अतिशयोक्तिरूप अलंकार—एक विशेष अलंकार ही—सब अलंकारों के मूल में है। अतिशयोक्ति का प्रयोग दो रूपों में किया जा सकता है, एक तो लोकातिक्रान्तगोचर उक्ति तथा दूसरे एक अलंकार-विशेष के रूप में। जहाँतक प्रथम का सम्बन्ध है उसे सभी अलंकारों के मूल में मानना उचित है। कोई भी आलंकारिक यह नहीं कहता कि **'गौरिव गवयः'** या **'गौर्वाहीकः'** या **'गौरयम्'** जैसी उक्तियों को, जिनमें कविप्रतिभाकृत विच्छित्ति नहीं है, अलंकार मान लिया जाए। पर इसी आधार पर सभी अलंकारों को यदि अतिशयोक्ति का भेद मानने को कोई कहे तो विशेषोक्ति तथा उल्लेख का सामान्य तत्त्व प्रायः सभी अलंकारों में रहने के नाते इन *अलंकारों को भी मूल अलंकार क्यों न माना जाए, यह प्रश्न सहज ही उठता है।*

अतः स्पष्ट है कि अपने प्रथम अर्थ में, जिसके अनुसार अतिशयोक्ति एक सामान्य काव्यतत्त्व है, शेष अलंकारों को उसका भेद नहीं माना जा सकता । अतिशयोक्ति का दूसरा प्रयोग एक विशेष अलंकार के रूप में होता है, जिसका लक्षण है—सिद्ध अध्यवसाय या अध्यवसित (विषयी) की प्रधानता । यह लक्षण अतिशयोक्ति के अभी बताए जाने वाले पाँच भेदों के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता अतः सभी अलंकारों को अध्यवसायमूलक नहीं मान सकते और न अतिशयोक्ति के पाँच भेदों से अधिक भेद ही सम्भव हैं ।

भेद

अतिशयोक्ति अलंकार के भेदों का विवेचन सर्वप्रथम उद्‌भट ने इस प्रकार किया है—

भेदेनान्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते ।
तथा सम्भाव्यमानार्थनिबन्धेऽतिशयोक्तिधीः ॥
कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययात् ।
आशुभावं समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत् ॥

—का० अ० स० २।२४-२५ ।

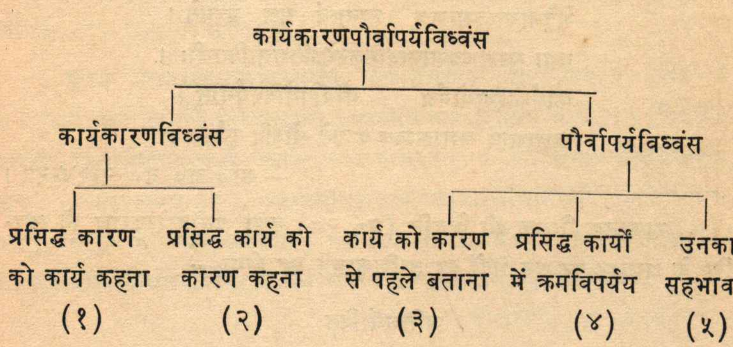
राजानक तिलक की विवृति (पृ० २८) तथा प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति के आधार पर इन भेदों का तालिकारूप यह होगा—

अतिशयोक्ति

भेदे अभेदः	अभेदे भेदः	बहिरसतः संभावनायां निबन्धः	कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययः

उद्‌भट के प्रथम दो भेदों को रुय्यक और उनके अनुयायी आचार्य विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने उसी रूप में स्वीकार कर लिया । इन भेदों के ये नाम रखने का श्रेय तिलक को प्राप्त है (देखिए—विवृति, पृ० २८) । मम्मट ने उन्हीं को क्रमशः **'उपमानेन उपमेयस्य निगरणम्'** तथा **'प्रस्तुतस्य अन्यत्वम्'** कहा है । अप्पय्यदीक्षित इन्हें रूपकातिशयोक्ति तथा भेदकातिशयोक्ति कहते हैं । रुय्यक ने **'अन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते'** के आधार पर **'सम्बन्धेऽसंबन्धः'** इस एक और भेद की उद्‌भावना की है जिसे अप्पय्यदीक्षित **सम्बन्धातिशयोक्ति** कहते हैं । उद्‌भट का तीसरा भेद रुय्यक आदि का

'असम्बन्धे सम्बधः' वाला चतुर्थ भेद है जिसे अप्पय्यदीक्षित असम्बन्धातिशयोक्ति न कहकर सम्बन्धातिशयोक्ति ही कहते हैं। उद्भट के चतुर्थ भेद को रुय्यक कार्यकारणपौवापर्यविध्वंस कहते हैं। कारण के बाद कार्य का होना स्वाभाविक क्रम है—यदि कार्य पहले और कारण बाद में हो तो पूर्वापरक्रम नष्ट हो जाता है, साथ ही कार्य और कारण का एक काल में होना भी (सहभाव) पूर्वापरभाव का विध्वंस ही है।[1] अतः रुय्यक के अनुसार अन्तिम को दो भेदों में बांटा जा सकता है। जयरथ ने इस अन्तिम भेद को पाँच उपभेदों में बाँटा है।[2] रुय्यक के कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंस को उन्होंने पहिले तो दो रूपों में विभाजित किया है (क) कार्यकारणविध्वंस तथा (ख) पौर्वापर्यविध्वंस। प्रथम को उन्होंने दो तथा दूसरे को तीन उपभेदों में इस प्रकार बांटा है—



इन भेदों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि भेद होने पर भी अभेद की विवक्षा ही अतिशयोक्ति का मौलिक तथा प्रमुख भेद है। अतिशयोक्ति का लक्षण है सिद्ध अध्यवसाय या विषयनिगरण तथा विषयी की प्रधानता। मुख को

---

१. कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसः पौर्वापर्यविपर्ययाद् तुल्यकालत्वाद् वा।
—अ० स० पृ० ८७।

२. अत्र च कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंस इत्यनेन प्रसिद्धयोः कार्यकारणयोर्विध्वंसो विपर्ययस्तथा पौर्वापर्यस्यादिपश्चात्कालभावित्वेन प्रसिद्धस्य क्रमस्य विध्वंसो व्यत्ययः सहभावो वेत्यपि भेदत्रयं तन्त्रेणोक्तम्। एवं च कार्यकारणविध्वंसस्यापि पंच प्रकाराः। —वि० पृ० ८७।

केवल 'चन्द्रोऽयम्' कहना ही अध्यवसाय है। रूपक के मूल में यदि गौणी सारोपा लक्षणा रहती है तो अतिशयोक्ति में गौणी साध्यवसाना। किसी सुन्दरी को 'सौन्दर्यमिदम्' कहना अतिशयोक्ति है। उसके मूल में शुद्धा साध्यवसाना है। शुद्धा तथा गौणी साध्यवसाना पर आधृत समस्त प्रयोग अतिशयोक्ति नहीं बन सकते इसलिए रुय्यक ने अतिशयोक्ति के भेदों में वास्तव सौन्दर्य का कविसमर्पित सौन्दर्य के साथ सम्बन्ध माना है। जब कोई मुख को कमल कहता है तो वह इन दोनों धर्मियों को एक नहीं बताना चाहता, वह तो मुख (धर्मी) तथा कमलगत सौन्दर्य (धर्म) में अभेद-सम्बन्ध बताना चाहता है। पर क्या इससे यह मानना चाहिए कि अतिशयोक्ति के दो धर्मियों में अभेदाध्यवसाय नहीं होता ? हाँ, रुय्यक का यही मत है —

एषु पंचसु भेदेषु भेदे अभेदादिवचनं लोकातिक्रान्तगोचरम्। अत्र चातिशयाख्यं यत्फलं प्रयोजकत्वान्निमित्तं तत्राभेदाध्यवसायः। तथा हि कमलमनम्भसि इत्यादौ वदनादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽपि वास्तवं सौंदर्यं कविसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदेनाध्यवसितम् भेदे अभेदवचनस्य निमितं। तत्र च सिद्धोऽध्यवसाय इत्यध्यवसितप्राधान्यम्। नतु वदनादीनां कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीयः, अभेदे भेद इत्यादिषु प्रकारेष्वव्याप्तेः। —अ० स० पृ० ८५।

अतिशयोक्ति का लक्षण सिद्ध अध्यवसाय की प्रधानता है। यह अध्यवसाय धर्म तथा धर्म, धर्म-धर्मी और धर्मी-धर्मी, इन तीनों ही रूपों में हो सकता है अतः रुय्यक का यह कथन कि अतिशयोक्ति में केवल धर्मी का धर्म के साथ अभेदाध्यवसाय होता है, समीचीन नहीं है।[1]

अतिशयोक्ति का दूसरा भेद है अभेद होने पर भी भेद का वर्णन —'**अभेदे भेदः**'। हर सुन्दरी का सौन्दर्य एक है। हर कामिनी विधाता की कृति है पर किसी सुन्दरी के लिए यह कहना कि यह तो नवीन ही सौन्दर्य है (**अन्यत् सौन्दर्यम्**) या यह कहना कि भला वह विधाता इसे कैसे बना सकता है, अभेद में भेद का वर्णन है। इस भेद को दण्डी की अद्भुतोपमा में तथा रुद्रट की उत्पाद्योपमा में पाया जा सकता है। दीक्षित (कुवलया०) इसे भेदकातिशयोक्ति कहते हैं। वामन ने इसी भेद को लक्ष्य में रखकर इसका लक्षण निम्नलिखित किया है—

सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनातिशयोक्तिः।

---

१. देखिए—वि० पृ० ८८-८६।

सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध का वर्णन **'सम्बधेऽसम्बन्धः'** या सम्बन्ध न रहने पर सम्बन्ध का वर्णन, **'असम्बन्धे सम्बन्धः'** इन भेदों में पूर्वोक्त दो भेदों की छाया है। इनका अन्तर केवल संभावना के निबन्धन में है। प्रथम दो भेदों में सम्भावना द्वारा अभेद या भेद का वर्णन नहीं रहता। मुख को कमल कह दिया जाता है। मुख को कमल तभी कहा जा सकता है जब कि कमल रात दिन खिला रहे, इस सम्भावना का उपयोग नहीं होता। यही उनके अवान्तर-भेद होने का हेतु है। मम्मट ने इसीलिए **'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्'** के रूप में इनकी व्याख्या की है।

कार्यकारण के पूर्वापरभाव का विपर्यय अतिशयोक्ति का भेद माना जाए या नहीं, यह विवाद का विषय है। प्रत्येक पदार्थ का सम्बन्ध काल तथा देश से होता है। कार्यकारणभाव भी उनमें से एक है। रुय्यक का कार्यकारण-पौर्वापर्यविध्वंस, काल पर आधारित भेद है। इसी प्रकार कार्य और कारण की देशगत भिन्नता के आधार पर एक और नवीन भेद भी क्यों न माना जाए ? यदि देशगत भिन्नता अतिशयोक्ति के अन्तर्गत आ जाती है तो उसका असंगति से अन्तर क्या है ? कार्यकारण के कालिक विपर्यय का वर्णन विरोध-तत्त्व को गर्भित किए है या अध्यवसाय को ? इन समस्याओं का उचित उत्तर न पाने वाले आचार्य (शोभाकर आदि) इस अन्तिम भेद को अनायत्या चतुर्थ भेद **'असम्बन्धे सम्बन्धः'** में अन्तर्भूत करते हैं। रुय्यक ने कार्य-कारण की देश-गत भिन्नता को अतिशयोक्ति का प्रभेद न मानकर उसे एक स्वतन्त्र अलंकार (असंगति) माना है—

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे त्वसंगतिः। —अ० स० पृ० १६३।

देशतत्त्व पर आधारित कार्यकरण के विपर्यय को स्वतन्त्र अलंकार मानकर भी रुय्यक ने कालतत्त्व पर आधृत भेद को अतिशयोक्ति का ही अंग माना है। दो समान तत्त्वों का आधार लेकर एक को तो स्वतन्त्र अलंकार मानना और दूसरे को एक भिन्न अलंकार-प्रभेद मानना आपाततः असंगत मालूम पड़ता है। विज्ञान और दर्शन की दृष्टि से देशकाल भिन्न भी नहीं हैं। पर रुय्यक ने यह व्यवस्था प्रयोजन तथा लौकिक प्रतीति की भिन्नता को लेकर की है। अतिशयोक्ति-प्रभेद का प्रयोजन सदा अतिशय रहेगा पर असंगति का प्रयोजन विरोध की प्रतीति कराना है। प्रथम में अतिशय की प्रतीति अध्यवसाय द्वारा की जाती है पर दूसरे में अध्यवसाय नहीं होता। उसमें विरोध का तत्त्व रहता है, जिसे आलंकारिक विरोधाभास कहेंगे। जहाँ कहीं विरोधाभास होगा वहाँ

प्रतीति में निश्चय नहीं हो सकता। विरोध या उसके आभास में प्रतीति के पग लड़खड़ा जाते हैं, वह स्खलद्गति बन जाती है। वह अनुपपन्न भले ही न हो किन्तु अनुपपद्यमान तो अवश्य हो जाती है। आकाश में आँख के दोष से दो चन्द्र देखने वाले व्यक्ति को ज्ञान रहता है कि चन्द्र एक ही होता है, दो नहीं, पर उसकी तात्कालिक अनुभूति उसे बरबस दो चन्द्र मानने को बाध्य करती है। उसका निश्चय-ज्ञान (चन्द्र एक ही है) स्थिर नहीं रह पाता। वह उपपन्न होने पर भी अनुपपन्न सा लगने लगता है। इस प्रकार विरोधाभास की प्रतीति में (जो असंगति अलंकार में पाई जाती है) स्खलद्गतित्व तथा अनुपपद्यमानता का तत्त्व रहता है। अध्यवसायप्रतीति सदा निश्चयात्मिका होती है। विषय के निगरण द्वारा विषयी की प्रधानता का इसमें वर्णन होता है। इन दो भिन्न प्रतीतियों पर आधृत असंगति और अतिशयोक्ति-भेद को भिन्न मानना आवश्यक है। एक प्रश्न और है। क्यों न इस अन्तिम भेद को **'असम्बन्धे सम्बन्धः'** में अन्तर्भूत कर लिया जाए। जहाँ सम्बन्ध नहीं हो सकता है वहाँ भी सम्बन्ध की कल्पना इस भेद का स्वरूप है। **'भेदे अभेदः'** में मुख और कमल भिन्न हैं। उनमें वस्तुदृशा कोई सम्बन्ध नहीं पर सम्बन्ध की कल्पना की गई है। **'अभेदे भेदः'** में श्यामा का यद्यपि किसी नवीन वेधा से सृजनसम्बन्ध नहीं किन्तु उसमें नवीन सौन्दर्य का वर्णन कर उसे सामान्य प्रजापति से भिन्न किसी दूसरे स्रष्टा की कृति होने का सम्बन्ध सूचित है। **'सम्बन्धे असम्बन्धः'** इस तीसरे भेद में भी मनोहर सौन्दर्य का प्रजापति चन्द्र, मदन या वसन्त को बताकर—जिनका सृजन से कोई सम्बन्ध नहीं, सौन्दर्य की मनोहरता को बताने के लिए उनका सृजनकार्य से भी सम्बन्ध कर दिया गया है।[1] इसी प्रकार कार्यकारण के पौर्वापर्यविध्वंस में कारण से पूर्व या इसके साथ कार्य का सम्बन्ध बताकर **'असम्बन्धे सम्बन्धः'** का ही निबन्धन होता है। इस प्रकार अच्छा हो यदि केवल एक इसी भेद को माना जाए और शेष सभी को छोड़ दिया जाए। अथवा किसी कारण से इन्हें चार पृथक् भेद माना जाता है तो अन्तिम को भी पाँचवां भेद मानना न्यायप्राप्त है। जहाँ तक कार्यकारण की देशगत भिन्नता को लेकर अतिशयोक्ति का एक और भेद मानने का प्रश्न है, इसके उत्तर में

---

१. अतिशयोक्ति के इन सभी उदाहरणों के लिए देखिए—

—अ० स० पृ० ८४-८८।

बताया जा चुका है कि प्रतीतिभेद के कारण हम उसे एक भिन्न अलंकार मानने को बाध्य हैं । पूर्वाचार्यों में दण्डी ने कार्यकारण के पूर्वापरभाव के व्यतिक्रम को अतिशयोक्ति न मानकर पूर्वालंकार के रूप में एक भिन्न अलंकार माना था । रुय्यक के बाद से (शोभाकर जैसे आलंकारिक को छोड़कर, सभी ने इस प्रभेद को माना है, भले ही दूसरे नाम से, जैसेकि अप्पय्यदीक्षित इसे अत्यन्तातिशयोक्ति कहते हैं ।

उपमामूलक अलंकार : तुल्ययोगिता-दीपक

भामह के अनुसार न्यून अर्थात् उपमेय की विशिष्ट किंवा उपमान के साथ गुणसाम्य की विवक्षा से तुल्ययोगिता होती है जिसमें कार्य तथा क्रिया का समान योग रहता है।[1] दण्डी के अनुसार भी तुल्ययोगिता का यही स्वरूप है। उनके अनुसार उत्कृष्ट[2] गुणों के साथ यह समीकरण स्तुति या निन्दा के लिए प्रयुक्त होता है। इसप्रकार भामह-दण्डी द्वारा निरूपित तुल्ययोगिता अपने अर्वाचीन स्वरूप से भिन्न है। वस्तुतः इनकी तुल्ययोगिता दीपक अलंकार से भिन्न नहीं है। उद्भट ने ही इस अलंकार का वह अर्वाचीन स्वरूप निर्धारित किया था जो परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों को स्वीकार हुआ। उद्भट के अनुसार उपमान और उपमेय की उक्ति से शून्य अप्रस्तुतों अथवा प्रस्तुतों का साम्याभिधायि वचन तुल्ययोगिता है।[3]

उद्भट के इस लक्षण का स्पष्ट प्रभाव रुय्यक के निम्नलिखित लक्षण पर है—

औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसंबन्धे तुल्ययोगिता। अ० स० पृ० ८९।

इनमें प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में बहुवचन का प्रयोग अवश्य है पर दो प्रस्तुत तथा दो अप्रस्तुतों में भी तुल्ययोगिता हो सकती है। उद्भट के लक्षण से रुय्यक के लक्षण में तीन विशेष तत्त्व हैं। एक तो औपम्य का गम्य होना (जब कि उद्भट ने तुल्ययोगिता में साम्य का अभिधान माना था), दूसरा उसका पदार्थगत होना, तथा तीसरा समान धर्म—गुण अथवा क्रिया—से अभिसम्बन्ध। मम्मट के लक्षण में 'सकृद्धर्मः' से यही तीसरा तत्त्व अभिप्रेत है किन्तु उन्होंने

---

१. **न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता॥** —भामहालंकार, ३।२७।

२. **विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता॥** —काव्यादर्श, २।३३।

३. **उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता॥**—का० अ० सं० ५।११।

प्रथम तथा द्वितीय तत्त्व के सम्बन्ध में कारिका या वृत्ति में पृथक् से संकेत नहीं दिया है। उद्भट के बाद वामन ने भामह का तथा भोज ने दण्डी का अंशतः अनुसरण किया था। कुन्तक तो उपमेयोपमा की भाँति तुल्ययोगिता को भी उपमा की अस्फुटता ही समझते हैं। शेष परवर्ती आलंकारिकों ने रुय्यक का ही प्रायेण अनुसरण किया है। जयरथ[1] तथा पण्डितराज जगन्नाथ[2] ने तुल्ययोगिता और दीपक को पृथक् अलंकार मानना उचित नहीं समझा है। रुद्रट का भी कदाचित् यही मत था अतः उन्होंने तुल्ययोगिता का विवेचन ही नहीं किया है।

प्रकृत का गुण अथवा क्रिया और इसी प्रकार अप्रकृत का गुण अथवा क्रिया से समान सम्बन्ध के आधार पर रुय्यक ने तुल्ययोगिता के चार भेद प्रस्तुत किए हैं। इनमें दो भेदों के उदाहरण उन्होंने उद्भट से ही लिए हैं, दोनों ही उदाहरण क्रमशः प्रस्तुतों तथा अप्रस्तुतों के गुण से समान सम्बन्ध के हैं। प्रस्तुतों का समानगुण से सम्बन्ध का उदाहरण है—

योगपट्टो जटाजालं तारवी त्वङ् मृगाजिनम्।
उचितानि तवाङ्गेषु यद्यमूनि तदुच्यताम्॥

—का० अ० सं० ५।१३ तथा अ० स० पृ० ६०।

[योगपट्ट, जटाजाल, पेड़ों की छाल, कृष्ण मृगचर्म यदि तुम्हारे शरीर में उचित हो तो बताओ]

इस उदाहरण में योगपट्ट, जटाजाल आदि प्रस्तुतों का औचित्य (या राजानक तिलक के शब्दों में शरीर-स्पर्श का अनौचित्य—शरीरस्पर्शनौचित्यम्) एक साधारण धर्म है जिससे सभी सम्बद्ध हैं।

अप्रस्तुतों के कठोरतारूप समान धर्म से सम्बन्ध का उदाहरण है—

त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता॥

—का० अ० सं० ५।१२ तथा अ० स० पृ० ६०।

---

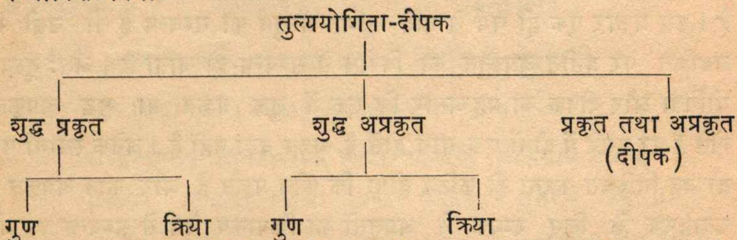
१. न चैतावताऽनयोः पृथग्लक्षणं युक्तम्। औपम्यगर्भत्वाख्यस्य सामान्यस्य द्वयोरप्यनुगमात्। एवं च समुच्चितोपमादेरपि पृथग्लक्षणं स्यात्।

—वि० पृ० ६१।

२. तुल्ययोगिता दीपकं न पृथग्भावमर्हति। धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात्। —रसग० पृ० ३२६-२७।

जयरथ के अनुसार इन दोनों ही उदाहरणों में (जो उद्भट से लिए गए हैं) औपम्य का अभाव है जबकि ग्रन्थकार औपम्य की गम्य सत्ता में ही इस अलंकार को मानता है। जयरथ का यह कथन दूसरे उदाहरण के सम्बन्ध में ठीक नहीं हैं क्योंकि उसमें अंगों का मालती आदि के साथ औपम्य प्रतीत हो जाता है।

परवर्ती नरसिंह कवि ने कदाचित् रुय्यक से ही प्रेरणा लेकर द्रव्यतद्भाव, गुणतद्भाव तथा क्रिया-तद्भाव के प्रकृत तथा अप्रकृत में स्थिति के आधार पर बारह भेद बना दिए। अप्पय्यदीक्षित ने शत्रु-मित्र के साथ समान व्यवहार (**हिताहिते वृत्तितौल्यम्**) तथा गुणोत्कृष्ट के साथ समीकरण (**गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचः**) के आधार पर दो नए भेद बढ़ाए हैं। इनमें से प्रथम भेद (जिसका आधार सरस्वतीकण्ठाभरण था) तुल्ययोगिता के स्वरूप में अन्तर्निहित है और दूसरा भेद (जिसे उन्होंने दण्डी से लिया है) वस्तुतः दीपक में ही अन्तर्हित होगा। पण्डितराज जगन्नाथ जैसे जो आचार्य दीपक और तुल्ययोगिता को भिन्न अलंकार नहीं मानते हैं वे तुल्ययोगिता के तीन आधारभूत भेद मान लेंगे; उनके अनुसार तुल्ययोगिता-दीपक की भेदतालिका निम्नांकित बनेगी—



इन भेदों के अतिरिक्त विम्बप्रतिबिम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव के भेद से भी दीपक तथा तुल्ययोगिता के भेद जयरथ को स्वीकार हैं।[1] दण्डी[2], भोज[3] तथा दीक्षित[4] ने आवृत्ति-दीपक नाम से दीपक का एक और भेद माना है जिसके शब्दावृत्ति, अर्थावृत्ति और उभयावृत्ति के रूप में तीन भेद भी दीक्षित ने किए हैं।

१. वि० पृ० ६१, ६३-४।
२. काव्यादर्श, २।१६।
३. सरस्वती० ४।७८।
४. हि० कुवलयानन्द, पृ० ५३।

तुल्ययोगिता तथा दीपक

जैसा कि प्रारम्भ में बताया गया था अनेक आचार्य, जिसमें जयरथ तथा जगन्नाथ प्रमुख हैं, दीपक को पृथक् अलंकार नहीं मानते हैं। वस्तुतः इन दोनों में से किसी एक को ही अलंकार मानना उचित है क्योंकि समान धर्म से सम्बन्ध, दोनों में ही एक तत्त्व है। दोनों ही अलंकारों से एक ही प्रकार की अनुभूति होती है; जो कुछ थोड़ा भेद है उसे हम एक ही अलंकार के उपभेद के रूप में भी मान सकते हैं। यदि हम तुल्ययोगिता के किसी भी उदाहरण पर विचार करें तो प्रतीत होगा जहाँ कहीं शुद्ध अप्रकृत का वर्णन है वहाँ प्रकृत भी भासित हो जाता है। 'त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः' के उदाहरण में मालती चन्द्रकला आदि अप्रस्तुतों का वर्णन है पर साथ ही इनकी कठोरता से प्रस्तुत अङ्गों की सुकुमारता भी भासित हो जाती है अर्थात् प्रस्तुत का अप्रस्तुतों के धर्म से समान सम्बन्ध अवश्य नहीं हो पाता है पर विरोध-सम्बन्ध हो जाता है। मालती की कठोरता अङ्गों की मृदुता को प्रतीति में स्थिर कर देती है। अतएव हम कह सकते हैं कि तुल्ययोगिता में प्रस्तुत या अप्रस्तुत प्रतीत हो जाता है और उसका अप्रस्तुत या प्रस्तुत के धर्म के साथ वैधर्म्य भी प्रतिभासित हो जाता है। इस प्रकार एक ही धर्म से यदि वर्णित प्रस्तुत का सम्बन्ध है तो उसी से अवर्णित पर प्रतीत अप्रस्तुत का विरोध से सम्बन्ध हो जाता है। अतः तुल्ययोगिता और दीपक का यह अन्तर कि एक में शुद्ध प्रकृत या शुद्ध अप्रकृत होते हैं पर दूसरे में दोनों एक साथ होते हैं, बहुत बड़ा नहीं है। अनेक स्थानों पर तो यह निश्चित करना ही कठिन होगा कि कौन प्रकृत है और कौन अप्रकृत। उदाहरण के लिए रुय्यक ने अप्रतुतों का क्रियारूप धर्म से सम्बन्ध का जो उदाहरण (पृ० ६०) प्रस्तुत किया है उसमें तन्वी तथा असिलता द्वारा यश पोंछने का वर्णन है। इसमें तन्वी नायिका तथा असिलता दोनों ही प्राकरणिक लगते हैं। पुनश्च औपम्यगर्भता तुल्ययोगिता तथा दीपक दोनों ही में होती है अतः इन्हें भिन्न मानना उचित नहीं है। रुय्यक के अनुसार तुल्ययोगिता में उपमानोपमेयभाव प्रतीयमान और वैवक्षिक होता है क्योंकि उसमें या तो केवल प्रकृत होते हैं या केवल अप्रकृत किन्तु दीपक में यह उपमानोपमेयभाव वास्तविक होता है। पर जैसा कि अभी हमने कहा है वस्तुतः तुल्ययोगिता में भी एक वर्णन से दूसरे का प्रतिभास हो जाता है, साथ ही जब दोनों ही स्थानों पर इवादि का प्रयोग नहीं होता है तथापि उपमानोपमेयभाव की प्रतीति होती है तो क्यों न इस आधार पर हम इन अलंकारों को एक ही अलंकार का भेद

मान लें। वैवक्षिक और वास्तव औपम्य का भेद दीपक तथा तुल्ययोगिता को एक ही अलंकार के उपभेद बनाकर भी स्थिर रखा जा सकता है।

दीपक-भेद

दीपकालंकार के चार भेदों के उदाहरण रुय्यक ने दिए हैं। धर्म के आदि, मध्य या अन्त में रहने से दीपक के आदि-दीपक, मध्यदीपक तथा अन्त-दीपक भेद होते हैं। इनमें क्रिया एक ही होती है जिसका एकाधिक कारक से सम्बन्ध होता है। अतः इन तीन भेदों को एक क्रिया वाले दीपक के भेद कहा जा सकता है। चौथा भेद वह है जिसमें कारक एक हो और क्रियाएं अनेक हों। इन भेदों की तालिका यह होगी —

- दीपक
  - एक-क्रिया-दीपक
    - आदिदीपक
    - मध्यदीपक
    - अन्तदीपक
  - अनेक-कारण-दीपक

(धर्म की वाक्य के आदि मध्य या अन्त में स्थिति के अनुसार)

एक क्रियावाले (मध्य-) दीपक का उदाहरण है—

संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥

—अ० स० पृ० ९२।

[पत्ते के रंग-जैसी ताम्र सूर्य की प्रभा और वसिष्ठ ऋषि की गौ नन्दिनी दिशाओं को अपने संचरण से पवित्र कर दिवस के अवसान में घर की ओर चल पड़े।]

इस उदाहरण में एक ही क्रिया 'चल पड़े'—**प्रचक्रमे**—से सूर्यप्रभा तथा नन्दिनी सम्बद्ध हैं। यह क्रिया दीपक की भाँति, दोनों का दीपन या प्रकाशन करती है। रुय्यक के अनुसार यह उदाहरण दीपक का है क्योंकि इसमें धेनु प्रकृत है और सूर्य की प्रभा अप्रकृत। पर यदि हम कवि की विवक्षा पर विचार करें तो प्रतीत होगा कि गोधूलि और गौ दोनों ही प्रकृत हैं, दोनों का ही वर्णन कवि को अभीष्ट है, अतः दीपक के इस उदाहरण को तुल्ययोगिता का माना जा

सकता है । और जैसाकि हम अभी तुल्ययोगिता के उदाहरण में बता चुके हैं उसमें प्रकृत का प्रतिभास भी होता है और एक ही धर्म से वैधर्म्यमूलक सम्बन्ध भी है । जिस प्रकार एक क्रिया के साथ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध के आधार पर एक-क्रिय-दीपक होता है उसी प्रकार एक गुण से सम्बन्ध होने पर एक-गुण-दीपक भी संभव है । उदाहरण के लिए निम्नाङ्कित श्लोक लीजिए—

फलणासहस्रभृदधो दिवि नेत्रसहस्रभृत् ।
अद्वितीयः पृथिव्यां च भवान्नामसहस्रभृत् ॥ —वि० पृ० ६२ ।

यहाँ अद्वितीयत्व गुण एक है जिससे प्रस्तुत आप और अप्रस्तुत शेष तथा इन्द्र सम्बद्ध है ।

एक-कारक दीपक का उदाहरण है—

साधूनामुपकर्तुं लक्ष्मीं धर्तुं विहायसा गन्तुम् ।
न कुतूहलि कस्य मनश्चरितं च महात्मनां श्रोतुम् ॥—वहीं, पृ० ६३ ।

[साधुओं का उपकार करने, लक्ष्मी को अपनी बनाने, आकाश में उड़ने और महात्माओं का चरित सुनने को किसका मन उत्कण्ठित नहीं होता है ।]

जिस प्रकार 'संचारपूतानि' आदि उदाहरण में कविविवक्षा की दृष्टि से धेनु और सन्ध्या दोनों के प्रकृत होने से तुल्ययोगिता है उसी प्रकार इस द्वितीय उदाहरण (साधूनामुपकर्तुं···) में वस्तुतः साधुओं का उपकार करना आदि प्रस्तुत है, जो सामान्य है । इन सभी का एक कारक मन('कस्य मनः') से अभिसम्बन्ध है इस प्रकार इस उदाहरण को भी, रुय्यक के अनुसार, कारक-दीपक का न मानकर कारक-तुल्ययोगिता का माना जा सकता है ।

मम्मट ने एककारक दीपक का (अर्थात् जहाँ क्रियाएं अनेक हैं किन्तु कारक एक ही है) का उदाहरण निम्नलिखित दिया है—

स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥

इसमें वधू एक कारक है जिसका अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध अवश्य है पर जब दीपक प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के एक साथ रहने पर होता है और स्वेदन आदि सारी क्रियाएँ केवल प्रस्तुत हैं, अप्रस्तुत नहीं तो यहाँ दीपक कैसे माना जा सकता है ? काव्यप्रकाश के इस उदाहरण को भी वस्तुतः कारक-तुल्ययोगिता में रखा जा सकता था, साथ ही दीपक तथा तुल्ययोगिता में औपम्य आवश्यक है और इस उदाहरण में औपम्य नहीं है अतः इसमें कारक-दीपक या

कारक-तुल्ययोगिता न मानकर[1] समुच्चयालंकार मानना चाहिए। समुच्चयालंकार में गुण और क्रिया का एक आधार में युगपत् अवस्थान होता है। यहाँ वधू आधार है जिसमें विभिन्न क्रियाओं का अवस्थान है। समुच्चय और तुल्ययोगिता का वस्तुतः भेद भी यही हैं कि प्रथम में औपम्य नहीं होता है केवल विभिन्न धर्म—गुण एवं क्रिया—एकत्र अवस्थित होते हैं जब कि तुल्ययोगिता में औपम्य आवश्यक है।

तुल्ययोगिता तथा दीपक के दो-दो उदाहरणों के विश्लेषण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि एक तो इन दोनों में मौलिक अन्तर नहीं है और दूसरे अनेक उदाहरणों में प्रकृत या अप्रकृत का नियत कर पाना कठिन है। इस स्थिति में इन दोनों को पृथग् अलंकार न मानकर एक ही अलंकार के भेद मान सकते हैं जिसका नाम तुल्ययोगिता-दीपक अथवा तुल्ययोग-दीपक रखा जा सकता है।

---

१. उद्भट के अनुसार (देखिए—का० अ० सं० १।१४) भी तुल्ययोगिता में औपम्य आवश्यक है। पण्डितराज जगन्नाथ (रसग० पृ० ४३१) ने इसी कारण मम्मट की आलोचना की है जो वस्तुतः जयरथ का ही अनुसरण है।

उपमामूलक अलंकार : प्रतिवस्तूपमा

तुल्ययोगिता और दीपक पदार्थगत अलंकार हैं । इनमें सादृश्य पदार्थ में सन्निहित होता है किन्तु प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और प्रतीति की दृष्टि से निदर्शना में एक से अधिक वाक्यों में सादृश्य सन्निहित रहता है । अतः यदि प्रथम दो अलंकार पदार्थगत हैं तो अन्तिम तीन वाक्यार्थगत । इन सभी में एक बात समान है और वह यह कि इवादि का प्रयोग न होने से औपम्य गम्य रहता है । औपम्य के गम्य होने की अनुवृत्ति तुल्ययोगिता अलंकार के सूत्र से है । स्वभावतः रुय्यक ने ही सर्वप्रथम औपम्य-गम्यता की बात स्पष्टतः[1] इन अलंकारों के सम्बन्ध में कही है ।

प्रतिवस्तूपमा अलंकार का निरूपण भामह से उपमा-भेद के रूप में प्रारम्भ हुआ था । भामह और दण्डी दोनों ने प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त को भिन्न अलंकार नहीं माना है साथ ही इसे उपमा का ही एक भेद स्वीकार किया है । उद्भट ही सर्वप्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने प्रतिवस्तूपमा को न केवल पृथक् अलंकार के रूप में प्रतिपादित किया अपितु दृष्टान्त (जिसे उन्होंने काव्य-दृष्टान्त की संज्ञा दी है) से इसका पार्थक्य भी सुनिश्चित कर दिया । बाद में चलकर वामन ने पुनः भामह-दण्डी की भाँति इसे उपमा का ही भेद माना है । रुद्रट ने प्रतिवस्तूपमा के स्थान पर उभयन्यास अलंकार का प्रतिपादन किया है । किन्तु मम्मट और रुय्यक दोनों ही इसे स्वतन्त्र और दृष्टान्त से अमिश्र अलंकार मानते हैं । इन्हीं दोनों आचार्यों का अनुसरण परवर्ती आलंकारिक विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, जगन्नाथ तथा दीक्षित ने (कुवलयानन्द में) किया है । परवर्ती आचार्यों के लक्षण में औपम्य की गम्यता का निर्देश निश्चित ही रुय्यक के प्रभाव का परिचायक है ।

रुय्यक का प्रतिवस्तूपमा-लक्षण निम्नलिखित है—

वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ् निर्देशे प्रतिवस्तूपमा ।

—अ० स० पृ० ९४ ।

---

1. भामह ने 'यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः' में 'अनभिधान' और 'प्रतीति' का प्रयोग कर इसी का संकेत किया था ।

वाक्यार्थगत के रूप में साधारण धर्म का दो वाक्यों में पृथङ् निर्देश रहने पर प्रतिवस्तूपमा होती है। वस्तु शब्द वाक्यार्थ का वाचक है। प्रत्येक वाक्यार्थ या प्रतिवस्तु में उपमा या साधर्म्य प्रतिवस्तूपमा का यौगिक अर्थ है।[1]

उपमादि से भेद

उपमालंकार में प्रायः एक वाक्य होता है और जहाँ (वाक्यार्थोपमा में) दो वाक्य होते भी हैं वे अन्योन्याश्रित होने के कारण एक वाक्यार्थ में पर्यवसित हो जाते हैं पर प्रतिवस्तूपमा में, जैसाकि रुय्यक ने स्पष्टतः लिखा है, सदा दो वाक्य होते हैं। पुनश्च उपमा में साधारण धर्म इव, यथा, तुल्य आदि शब्दों से ही बताया जाता है, वहाँ इवादि का उपादान होता है किन्तु प्रतिवस्तूपमा में इनका उपादान नहीं होता है। उपमा में साधारण धर्म का प्रायेण एक बार (सकृत्) उपादान होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में असकृत् निर्देश होता है। और अन्ततः उपमा का औपम्य पदार्थविश्रान्त होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में साम्य सदा वाक्यार्थ में होता है।

दीपक और तुल्ययोगिता में भी साधारण धर्म का एक बार ही निर्देश होता है,[2] जबकि प्रतिवस्तूपमा में उसका असकृत् निर्देश आवश्यक है। उपमा

---

१. वस्तुशब्दस्य वाक्यार्थवाचित्वे प्रतिवाक्यार्थमुपमा साम्यमित्यन्वर्थाश्रयणात्। —अ० स० पृ० ९४-९५।

रुय्यक द्वारा दी गई इसी व्युत्पत्ति को कुवलयानन्दकार ने अपनाया है—

प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोऽस्यामिति व्युत्पत्तेः।

—हि० कुवलया० पृ० ५२।

२. जयरथ का कथन है कि दीपक और तुल्ययोगिता में सामान्य धर्म का असकृत् निर्देश भी संभव है तथापि सकृत् निर्देश के बिना इन दोनों अलंकारों का उत्थान ही नहीं हो सकता अतः सकृत् निर्देश ही इन अलंकारों का प्रधान तत्त्व है जबकि प्रतिवस्तूपमा में असकृत् निर्देश ही आवश्यक है, सकृत् निर्देश में उसका स्वरूप सम्भव नहीं है। यद्यपि दीपकतुल्ययोगितयोः सामान्यस्यासकृन्निर्देशोऽपि संभवति तथापि सकृन्निर्देशं विना तयोरनुत्थानात्तदेवेह प्राधान्येनोक्तम्। —वि० पृ० ९४।

की ही भाँति दीपक और तुल्ययोगिता में भी साम्य (जो प्रतिवस्तूपमा की भाँति इवादि का उपादान न होने से प्रतीयमान रहता है) पदार्थ-गत होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में साधर्म्य की प्रतीति दो वाक्यार्थों से उत्पन्न होती है। निदर्शना दो वाक्यों में हो सकती है पर प्रायः उसमें एक वाक्य होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्य आवश्यक हैं।

सूत्र के विश्लेषण तथा अन्य कतिपय अलंकारों से भेद के आधार पर प्रतिवस्तूपमा का जो स्वरूप है उसका आकलन कर लेना उचित होगा। प्रथमतः प्रतिवस्तूपमा में परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य होते हैं। प्रत्येक वाक्य में साधारण धर्म का उपादान होता है। ये साधारण धर्म अर्थदृष्टया अनेक होने पर भी वस्तु-दृष्टया एक होते हैं, केवल काव्य की मर्यादा किंवा पुनरुक्ति से बचने के लिए साधारण धर्म के लिए विभिन्न पर्यायों का प्रयोग होता है। दूसरे शब्दों में प्रतिवस्तूपमा के साधारण धर्मों में वस्तु-प्रतिवस्तु का सम्बन्ध होता है, इसे ही वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहते हैं। इसका विवेचन हम साधारण धर्म का विश्लेषण करते हुए इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं अतः इन्हें यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं है। सुविधा के लिए हम एक प्रसिद्ध लक्षण को पुनः उद्धृत कर दे रहे हैं।

एकस्यैव धर्मस्य सम्बन्धिभेदेन द्विरुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः।

एक ही धर्म का सम्बन्धी के भेद से दो बार (शब्दान्तर से) प्रयोग वस्तुप्रति-वस्तुभाव है। प्रतिवस्तूपमा में इवादि का प्रयोग न होने से दो वाक्यों के अर्थ का औपम्य सदा गम्य होता है। यह औपम्य साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों ही विधाओं से अभिव्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए—

चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि।
आवन्त्य एव निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि॥—अ० स० पृ० ९५।

[चाँदनी का पान करने में चकोरियाँ ही चतुर होती है, अवन्ती देश की सुन्दरियां ही प्रणय-परिहास में निपुण होती हैं]

यहाँ परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य हैं—एक उपमेय-स्थानीय और दूसरा उपमान-स्थानीय। प्रथम वाक्य से अर्थतः उपमान और उपमेय प्रतीत हो जाता है। चकोरी चतुर है और अवन्ति-देश की स्त्री निपुण। चतुरता और निपुणता वस्तुतः एक ही साधारण धर्म है जो उपमानवाक्य में एक शब्द से और उपमेय-वाक्य में दूसरे शब्द से आया है। साधारण धर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभाव को

झटिति समझने के लिए सीधा सा तरीका यह है कि जिन शब्दों का कोषार्थ एक ही हो उनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव होता है। उपर्युक्त उदाहरण साधर्म्य या भावात्मक विधा से वस्तुप्रतिवस्तुभाव के उपादान का था। इसे ही थोड़ा बदल कर **'विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि'**—अवन्ति-देश की सुन्दरियों को छोड़कर प्रणय-परिहास में कोई निपुण नहीं होता है—यदि यह कहें तो यही वैधर्म्य का उदाहरण होगा।

उपमामूलक अलंकार : दृष्टान्त

प्रतिवस्तूपमा के प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि दृष्टान्त अलंकार का प्रारम्भ उद्भट से होता हैं। उन्होंने इसे काव्यदृष्टान्त संभवतः इसलिए कहा था ताकि न्याय की अनुमान-प्रक्रिया में समाविष्ट दृष्टान्त से भेद स्पष्ट रहे। वामन को छोड़कर परवर्ती सभी आलंकारिकों ने, 'काव्य' शब्द का पुछल्ला हटाकर, इस अलंकार को स्वीकार किया है।

रुय्यक के अनुसार धर्मी (प्रकृत तथा अप्रकृत किंवा उपमान एवं उपमेय) के अतिरिक्त धर्म का भी जहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है उसे दृष्टान्त अलंकार कहते हैं।

सूत्र : तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः।

वृत्ति : तस्यापीति न केवलमुपमानोपमेययोः। तच्छब्देन सामान्यधर्मः प्रत्यवमृष्टः।

इस प्रकार रुय्यक के अनुसार धर्मी तथा धर्म दोनों को ही लेकर दृष्टान्त अलंकार हो सकता है।[1] धर्मी के अभिप्राय से बिम्बप्रतिबिम्बभाव[2] होने

---

१. जयरथ ने भी ग्रन्थकार के इसी मत को स्वीकार किया है कि धर्म तथा धर्मी दोनों में ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव दृष्टान्त अलंकार में होता है, उन्होंने अपने समर्थन में मम्मट के दृष्टान्त-लक्षण को उद्धृत भी किया है। काव्यप्रकाश के एक टीकाकार का कथन है कि प्रतिवस्तूपमा में तो साधारण धर्म का ही दो बार प्रयोग होता है किन्तु दृष्टान्त में उपमेय आदि का भी दो बार उपादान होता है। जगन्नाथ ने भी इसी मत को साग्रह माना है। और मुझे तो रुय्यक का भी यही मत प्रतीत होता है जैसाकि हम अभी सूत्र-वृत्ति का उद्धरण देकर स्पष्ट कर चुके हैं।

२. जो धर्म (या धर्मी) वस्तुतः भिन्न हों पर अत्यन्त सादृश्य के कारण जिनमें अभिन्नता दिखाई दे उन धर्मों का असकृत् उपादान बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। वस्तुतः भिन्नयोर्धर्मयोः परस्परसादृश्यादभिन्नतयाऽध्यवसितयोर्द्विरुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः।

का उल्लेख रुय्यक ने उपमा-प्रकरण में भी किया था। मम्मट का लक्षण— **दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बतनम्**—भी यही सूचित करता है कि जहाँ दो धर्मियों या धर्म में बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। इस प्रतिबिम्बन की अभिव्यक्ति साधर्म्य से भी हो सकती है और वैधर्म्य से भी।

बिम्बप्रतिबिम्बभाव की प्रक्रिया में दो भिन्न धर्म या धर्मियों में सादृश्य के कारण अभिन्नता का जो बोध होता है उसी को ध्यान में रखकर मम्मट ने दृष्टान्त की व्युत्पत्ति '**दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र**' दी है। मम्मट तथा रुय्यक द्वारा दृष्टान्त का विवेचन एकरूप है। इसी का परवर्ती आचार्यों ने प्रायः अनुकरण किया है।

प्रतिवस्तूपमा आदि से भेद

प्रतिवस्तूपमा में धर्मों में वस्तुप्रतिवस्तुभाव होता है अर्थात् धर्म वस्तुतः एक होते हैं केवल उनका शब्दान्तर से उपादान होता है। दृष्टान्त में इसके विपरीत **धर्मों में ही नहीं अपितु धर्मियों में** भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है अर्थात् वस्तुतः दो बिम्बों में भेद होता है केवल सादृश्य के कारण अभिन्नता का अनुभव (अन्त या निश्चय) होता है। प्रतिवस्तूपमा में कवि की दृष्टि दो धर्मियों के साधारण धर्म के वस्तुतः एक होने की ओर केंद्रित होती है। **चकोर्य एव चतुराः** प्रतिवस्तूपमा के इस उदाहरण में कवि की दृष्टि चकोरी की **चतुरता** और सुन्दरी की **निपुणता** बताने में है, चकोरी और सुन्दरी के उपमानोपमेयभाव बताने में नहीं है। पर दृष्टान्त में धर्म और धर्मी का पूरा वर्णन बिम्ब बनकर उभड़ता है जिसकी वस्तुदशा भिन्न प्रतिबिम्ब से एकता का बोध कवि कराना चाहता है और इस प्रकार धर्मी तथा धर्म दोनों का ही बिम्बप्रतिबिम्बभाव इसे अभीष्ट रह सकता है। यह अवश्य है कि कहीं कवि धर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव पर बल देगा और कहीं धर्मियों के। किन्तु दोनों ही प्रकरण के अनुसार प्रतिबिम्बन की विधा में आ सकते हैं पर प्रतिवस्तूपमा में तो धर्म का एकत्व-प्रत्यायन कराने के साथ ही कवि की विवक्षा समाप्त हो जाती है अतः चमत्कार भी धर्मों के वस्तुप्रतिवस्तुभाव तक ही सीमित रहता है। दृष्टान्त का साधर्म्यमूलक एक उदाहरण देकर यह बात समझी जा सकती है।

त्वमेव कीर्तिमान् राजन् विधुरेव हि कान्तिमान्।

यहाँ 'त्वं' और 'चन्द्र' अर्थात् दो धर्मियों की भिन्नता होने पर भी

अभिन्नता का प्रत्यायन (बिम्बप्रतिबिम्बभाव) उतना ही कवि को अभीष्ट है जितना कि कीर्तिमत्ता और कान्तिमत्ता इन दो धर्मों की परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बता का ।

रुय्यक ने प्रतिवस्तूपमा के प्रकरण में कहा है कि यह औपम्य के आश्रय से ही होती है—

तदेवमौपम्याश्रयेणैव प्रतिवस्तूपमा ।

इस पर टीका करते हुए जयरथ का कथन है कि प्रतिवस्तूपमा में प्रकृतार्थ का सादृश्य बताने के लिए अप्रकृत अर्थान्तर का उपादान होता है परिणामतः प्रकृत और अप्रकृत में उपमानोभेयभाव हो जाता है अतः प्रतिवस्तूपमा औपम्य पर आश्रित है । इसके विपरीत दृष्टान्त अलंकार में अप्रकृत का उपादान प्रकृत अर्थ की स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए होता है ताकि यह बताया जा सके कि जो प्रकृत में वर्णित है उसके समान दूसरा भी वृत्तान्त प्राप्त होता है । इस प्रकार, जयरथ के अनुसार, प्रतिवस्तूपमा में कवि का लक्ष्य उपमानोपमेयभाव है तो दृष्टान्त में प्रतिपत्ता की प्रतीति को विशद या एक अर्थ को अर्थान्तर से स्पष्ट करना । जयरथ के इस विश्लेषण को स्वीकार भी करलें तो उनसे यह पूँछा जा सकता है कि प्रकृत की स्पष्टता के उद्देश्य से ही सही अथवा प्रतिपत्ता को विशद ज्ञान होने की दृष्टि से ही सही जब अर्थान्तर का उपादान होगा तो यदि वह अप्रकृत प्रकृत के समान है तो उपमानोपमेयभाव या औपम्य की अनुभूति में किस प्रकार बाधक होगा ? कक्षा में जब कभी कोई अध्यापक समान उदाहरण (analogy) द्वारा किसी वस्तु को समझाता है तो अनेकधा उपमानोपमेय की अनुभूति छात्र स्वयं कर लेता हैं, भलेही उपमानोपमेयभाव बताना उस समय अध्यापक का उद्देश्य न हो । दृष्टान्त में भी औपम्य गम्य ही होता है, यह रुय्यक ने स्वयं कहा ही है । अतएव प्रतिवस्तूपमा और दृष्टांन्त को आर्थ औपम्य पर आश्रित मानकर, इन दोनों का भेद वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव के आधार पर ही करना उचित है । कुछ आचार्य दृष्टान्त में प्रकृत और अप्रकृत में समर्थ्य-समर्थकभाव होता है इस आधार पर इसका प्रतिवस्तूपमा से भेद करते हैं । उनका यह मत अनुचित है । दृष्टान्त में प्रकृत और अप्रकृत सरूप और विशेष होते हैं, असदृश और सामान्यरूप नहीं । दो सरूपविशेषों में समर्थ्य-समर्थकभाव नहीं होता है । पुनश्च दृष्टान्त में यदि समर्थ्य-समर्थकभाव मान लिया जाता है तो इसका अर्थान्तरन्यास से क्या भेद होगा क्योंकि उसमें भी एक वाक्य समर्थक और दूसरा समर्थ्य रहता है ।

उपमामूलक अलंकार : निदर्शना

दो वस्तुओं का एकत्र सम्बन्ध—जो अन्वय की बाधा न रहने से सम्भव और अन्वय की बाधा होने पर असम्भव कहलाता है—बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव की प्रतीति कराता है तो निदर्शना होती है। दो वस्तुओं का एकत्र अवस्थान उन दोनों में किसी प्रकार के सम्बन्ध को स्वभावतः बताता है। यदि यह सम्बन्ध कारण और कार्य जैसा है तो निदर्शना अलंकार नहीं होगा क्योंकि कार्यकारणभूत दो वस्तुओं से बिम्बप्रतिबिम्ब की प्रतीति नहीं होगी। निदर्शना उपमामूलक अलंकार है अतः जहाँ दो वस्तुओं में, जो दो पदों या (व्याकरण की दृष्टि से) एक वाक्य में वर्णित हैं, सादृश्य का अनुभव होगा वहीं निदर्शना अलंकार होगा। रुय्यक के निदर्शना-लक्षण[1] का यही अभिप्राय है। उनका लक्षण उद्भट से स्पष्टतः प्रभावित है।[2] रुय्यक ने उपमानोपमेयत्व के स्थान पर 'प्रतिबिम्बकरण' शब्द का प्रयोग किया है जो अधिक उपयुक्त है।

भामह ने निदर्शना का जो लक्षण दिया है वह परवर्ती लक्षणों से भिन्न है। इनके अनुसार जहाँ क्रिया के द्वारा ही यथा, इव, वति के प्रयोग के विना विशिष्ट अर्थ का उपदर्शन होता है वहाँ निदर्शना होती है। भामह ने इसका जो उदाहरण दिया है[3] उसे राजानक तिलक ने सम्भवद्वस्तुसम्बन्धा के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है और वह रुय्यक आदि परवर्ती आचार्यों के उदाहरणों से मिलता-जुलता भी है पर 'क्रिया के द्वारा विशिष्ट अर्थ के उपदर्शन' तक इस अलंकार का स्वरूप आगे चलकर सीमित नहीं रहा। दण्डी की निदर्शना का स्वरूप भामह से ही नहीं अपितु परवर्ती आचार्यों से भी भिन्न है। उनके

---

१. सम्भवताऽसम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना। —अ० स० पृ० ६७।

२. अभवन्वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना॥—का० अ० सं० ५।१८।

३. अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्॥
—भामहालंकार, ३।३४; विवृति, पृ० ४५।

अनुसार किसी अन्य कार्य में प्रवृत्त होने पर उसके अनुरूप अच्छे या बुरे फल का निदर्शन 'निदर्शन' अलंकार का स्वरूप है।[1] वामन ने अवश्य भामह का अनुगमन करते हुए कहा—

क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम्। —का० अ० सू० ४।३।० ।

शुद्ध क्रिया के द्वारा विशिष्ट अर्थ के उपदर्शन के स्थान पर सम्बन्ध (अन्वय) का ख्यापन वामन के लक्षण की विशेषता है। यह सम्बन्ध-स्थापन जो अन्ततः औपम्य में पर्यवसित होता है निदर्शना का आवश्यक तत्त्व है। वामन ने सम्बन्ध-स्थापन की बात तो कही थी पर उन्होंने औपम्य की प्रतीयमानता का सूत्रण अपने लक्षण में नहीं किया था और न भामह की ही भाँति असम्भवद्वस्तु-सम्बन्धा को निदर्शना में सम्मिलित किया था। भामह और वामन के विपरीत, शोभाकर सम्बन्ध के असम्भव होने पर ही आर्थ औपम्य की स्थिति में निदर्शना मानते हैं। इस प्रकार वे रुय्यक-सम्मत सम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना को स्वीकार नहीं करते हैं। रुय्यक ने दोनों प्रकार की निदर्शना और वह भी औपम्य के ही आधार पर स्वीकार की है। निदर्शना का यही स्वरूप विश्वनाथ, दीक्षित, जगन्नाथ आदि को मान्य है। रुय्यक के अनुसार जहाँ वस्तुसम्बन्ध सम्भव होता है वहाँ सम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना होती है। जैसे कि—

चूडामणिपदे धत्ते यो देवं रविमागतम्।
सतां कार्यातिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः॥

[गृहस्थों को यह जताते हुए कि सज्जनों का अतिथि-सत्कार करना चाहिए, उदयाचल अभ्यागत सूर्यदेव को अपनी मौलिमणि पर धारण करता है]

यहाँ पदार्थों का सम्बन्ध बाधित नहीं है अतः दो वस्तुओं का सम्बन्ध सम्भव है जो अन्ततः बिम्बप्रतिबिम्बभाव में पर्यवसित होता है, भामहादि इसे सदसद् के उपदेश की प्रक्रिया कहेंगे।

इस उदाहरण में 'मेरी भाँति गृहस्थों को अतिथि सत्कार करना चाहिए' यह बोध होता है। यह बोध स्मृतिरूप नहीं है क्योंकि गृहस्थी पुरुषों को सूर्य के दर्शन से अतिथि की स्मृति नहीं हो रही है। पुनश्च इसमें पर्वत पर बोधन-क्रिया के कर्ता होने का संभावन भी नहीं है अतः न तो इस उदाहरण में स्मरणालंकार है और न प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। स्मरण तो वहीं होता है जहाँ

---

१. अर्थान्तरप्रयुक्तेन किंचित् तत्सदृशं फलम्।
सदसद्वा निदर्श्येत् यदि तत्स्यान्निदर्शनम्॥ —काव्यादर्श, २।३४८।

सदृश के दर्शन से दूसरी सदृश वस्तु का स्मरण हो किन्तु यहाँ सूर्य के दर्शन से अतिथि का स्मरण नहीं हो रहा है। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में संभावन, अभिमान या उत्प्रेक्षण का अंश आवश्यक है किन्तु यहाँ पर्वत में उस बोधन की संभावना नहीं की गई है। इस उदाहरण को विशेषालंकार का भी नहीं मान सकते क्योंकि इसमें हमें यह प्रतीति नहीं होती कि सूर्य का अवगम होने से असम्भाव्य आतिथ्य का अवगम हुआ है। इस प्रकार निदर्शना इन सभी अलंकारों से भिन्न है।

निदर्शना जब पदार्थ किंवा एक वाक्य में होती है तो उसे पदार्थवृत्ति निदर्शना या परवर्ती आलंकारिकों के शब्दों में एक-वाक्यगत निदर्शना और जब वह वाक्यार्थवृत्ति होती है तो उसे अनेक-वाक्यगा कहते हैं। मालारूप और शृंखलारूप से भी इसके भेद होते हैं।[1] साधारण धर्म की अनुगामिता, वस्तु-प्रतिवस्तुभाव तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश के आधार पर भी इसके त्रिविध भेद हैं।[2] असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना में दो वस्तुओं का सम्बन्ध भावरूप से भी असंभव हो सकता है और निषेध सामर्थ्य से आक्षिप्त प्राप्ति की सम्बन्धानुपपत्ति से भी। प्राचीन आचार्य उपमेय में उपमानवृत्त को असम्भव मानकर असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा की व्याख्या करते थे किन्तु रुय्यक के अनुसार वस्तुतः उपमेय-वृत्त की उपमान-वृत्त में असम्भव स्थिति को लेकर भी असम्भव-द्वस्तुसम्बन्धा की व्याख्या की जा सकती है—

इयं चोपमेय उपमानवृत्तस्यासम्भवात्प्रतिपादिता पूर्वैः। वस्तुतस्तूपमेय-वृत्तस्योपमानेऽसम्भवादपि भवति। उभयत्रापि सन्बन्धविघटनस्य विद्यमानत्वात्।

—अ० स० पृ० १००।

वियोगे गौडनारीणां यो गण्डतलपाण्डिमा।
अलक्ष्यत स खर्जूरीमञ्जरीगर्भरेणुष॥—वहीं।

[गौड देश की स्त्रियों के कपोलतलों पर वियोग में जो पीलापन था वह खर्जूरी लता के पराग में दिखाई देता था]

यहाँ कपोलतल का वर्णन प्रकृत है। उसका पीलापन खजूर के पराग (उपमान-वृत्त) में सम्भव नहीं है। उपमानवृत्त का उपमेय-वृत्त में यह असम्भव वस्तुसम्बन्ध दोनों के औपम्य में पर्यवसित होता है अतः यहाँ असम्भवद्वस्तु-सम्बन्धा निदर्शना है।

---

१. देखिए अ० स० पृ० १००।
२, देखिए—वि० पृ० १०१।

अन्य अलंकारों से भेद

निदर्शना की स्मृति, उत्प्रेक्षा तथा विशेष अलंकारों से भेद की चर्चा **'चूडामणि पदं धत्ते....'** आदि उदाहरण के विश्लेषण में की जा चुकी है। यहाँ हम इस अलंकार के दृष्टान्त, वाक्यार्थरूपक (जगन्नाथ), तथा अर्थान्तरन्यास से भेद की चर्चा करेंगे। असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा वाक्यार्थ निदर्शना का एक उदाहरण है—

त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डरीकरणं विधोः॥—अ० स० पृ० ६८।

[तुम्हारे चरण के नखरत्नों को यह जो महावर लगाना है वह चन्द्रमा को चन्दन से धवल बनाना है]

नखरत्न का अलक्तकमार्जन और चन्द्रमा का पाण्डरीकरण दो भिन्न वस्तुएँ हैं जिनमें सम्बन्ध सम्भव नहीं है पर उनमें बिम्बप्रतिबिम्ब का विधान होने से इसमें असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना है। चूंकि यह प्रतिबिम्बभाव वाक्यार्थ से आता है अतः यहाँ वाक्यार्थ-निदर्शना है। अलक्तकमार्जन का (प्रातीतिक दृष्टि से एक) वाक्य और चन्द्रमा का पाण्डरीकरण का वाक्य यहाँ परस्पर निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हैं। दृष्टान्त में दो वाक्य परस्पर निरपेक्ष होते हैं। निदर्शना में तो यह प्रतीति होती है कि जो अलक्तकमार्जन है वही पाण्डरीकरण है और इस प्रकार कह सकते हैं कि एक वाक्यार्थ पर दूसरे वाक्यार्थ का समान विभक्ति के द्वारा अध्यारोप होता है। इस अध्यारोप का आधार दो वस्तुओं में सम्बन्ध का अभाव है जो अन्ततः सादृश्य की अनुभूति में परिणत होता है। रुय्यक के अनुसार दो निरपेक्ष वाक्यार्थ में बिम्बप्रतिबिम्बभाव दृष्टान्त है। पर जहाँ प्रकृत वाक्यार्थ पर दूसरे वाक्यार्थ का समानाधिकरण से आरोप होता है वहाँ सम्बन्ध की अनुपपत्ति पर आधारित निदर्शना ही मानना उचित है।[1] विश्वनाथ ने इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा है।[2] उनके अनुसार निदर्शना में बिम्बप्रतिबिम्ब का आक्षेप किए विना वाक्यार्थ का

---

१. अ० स० पृ० ६६।

२. इह (निदर्शनायां) बिम्बप्रतिबिम्बाक्षेपं विना वाक्यार्थापर्यवसानम्। दृष्टान्ते तु पर्यवसितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्यात् बिम्बप्रतिबिम्बतानिदर्शनम्।
—सा० द० (नि० स०), पृ० ५५८।

पर्यवसान ही नहीं हो सकता किन्तु दृष्टान्त में पर्यवसित वाक्यार्थ अपने सामर्थ्य से बिम्बप्रतिबिम्बभाव का प्रत्यायन कराता है। दृष्टान्त में वाक्यों के परस्पर निरपेक्ष और निदर्शना में सापेक्ष होने की जो बात रुय्यक ने कही थी उसी का समुचित व्याख्यान विश्वनाथ ने किया है।

शोभाकर ने रुय्यक के इस विवेचन पर यह प्रश्न उठाया है कि यदि निदर्शना में प्रकृत वाक्यार्थ पर दूसरे वाक्यार्थ का समानाधिकरण से निर्देश होता है तो क्यों न ऐसे उदाहरण में वाक्यार्थ-रूपक माना जाए? यदि अलक्तकमार्जन पर पाण्डुरीकरण का यहाँ आरोप है और उसी की प्रतीति होती है तो वाक्यार्थ-रूपक मानने में क्या आपत्ति है? यदि ऐसा नहीं करते तो '**मुखं चन्द्रः**' को भी निदर्शना का उदाहरण मानना होगा क्योंकि इसमें भी मुख और चन्द्र में सम्बन्ध का अभाव है और इस प्रकार रूपक की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।[1] शोभाकर का अंशतः अनुसरण करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने भी उपर्युक्त उदाहरण '**त्वत्पादनखरत्नानां**' में वाक्यार्थरूपक सिद्ध करने का प्रयास किया है और उन्होंने इस उदाहरण में निदर्शना मानने के लिए श्लोक का निम्नलिखित रूप स्वीकार किया है—

त्वत्पादनखरत्नानि यो रंजयति यावकैः।
इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डरीकुरुते हि सः॥ —रसग० पृ० ३४४।

पण्डितराज के अनुसार रूपक में आरोप होता है और निदर्शना में आर्थ अभेद जो आरोप तथा अध्यवसान दोनों से भिन्न हैं।[2] वस्तुतः '**त्वत्पादनखरत्नानां....**' में निदर्शना मानना ही उचित है। शोभाकर का यह मत कि निदर्शना असम्भवद्-वस्तुसम्बन्ध-निबन्धना नहीं होती है, क्योंकि उसका वाक्यार्थरूपक से भेद सिद्ध न हो सकेगा या पण्डितराज द्वारा इसमें वाक्यार्थरूपक बताना (रसग० पृ० ३४३), उचित नहीं है। रूपक वहीं होता है जहाँ लोकप्रसिद्ध उपमान और उपमेय में अभेद का वर्णन हो। रूपक में अभेद-प्रतीति का आधार सादृश्यमूलक लक्षणा होती है किन्तु निदर्शना में प्रतीयमान अभेद की अनुपपत्ति से ही अभेद का प्रत्यायन होता है। निदर्शना का जीवित अनुपपत्ति-जन्य अभेद में है किन्तु रूपक

---

१. देखिए—अ० र० पृ० २१।

२. **एवं चारोपाध्यवसानमार्गबहिर्भूत आर्थ एवाभेदो निदर्शनाजीवितम्।**
—रसग० पृ० ३४४।

का लाक्षणिक अभेद में ।[1]

असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा वाक्यार्थनिदर्शना का एक और प्रसिद्ध उदाहरण है जिसमें शकुन्तला के शरीर की रूप-सम्पत्ति को देखकर दुष्यन्त कहता है—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥

—शाकुन्तल, १।१७, अ० स० पृ० ६६ ।

[यदि आश्रम में रहने वाले व्यक्ति का ऐसा रूप है जो रनिवासों में भी दुर्लभ है तो वन की लताओं ने उद्यान की लताओं को सचमुच अपने गुणों से मात दे दी है ।]

इस उदाहरण में प्रकृत वाक्यार्थ, आश्रमवासी के रूप का शुद्धान्तदुर्लभ होना तथा अप्रकृत वाक्यार्थ, वनलताओं द्वारा अभिभव, असम्बद्ध हैं किन्तु इनके एक साथ रहने से हम इन दोनो में सादृश्य मान लेते हैं—वन्यसौन्दर्य द्वारा नागर सौन्दर्य को मात देना उसी प्रकार है जैसे वनलता द्वारा उद्यानलता को मात देना ।[2] शोभाकर ने उपर्युक्त उदाहरण में प्रतिवस्तूपमा मानी है । दो वाक्यों में साधारण धर्म का असकृत् निर्देश प्रतिवस्तूपमा का स्वरूप है । यही स्वरूप शोभाकर को भी मान्य है ।[3] इस उदाहरण का विवेचन करते हुए उनका कहना है कि अन्तःपुर और उद्यान में रूप (वपु) और लता की दुर्लभता समान धर्म है जो पहले वाक्य में दुर्लभ शब्द द्वारा और दूसरे वाक्य में दूरीकृताः—मात दे दी—के रूप में एक ही धर्म दो वाक्यों में पृथग् उपात्त है । वस्तुतः उपर्युक्त उदाहरण में प्रतिवस्तूपमा मानना शोभाकर की बहुत बड़ी भूल है । प्रतिवस्तूपमा वहीं होती है जहाँ दो वाक्यार्थ परस्पर निरपेक्ष हों और साधारण धर्म का वस्तु-प्रतिवस्तुभाव हो । इस उदाहरण में न तो दो वाक्यार्थ परस्पर सापेक्ष हैं और न साधारण धर्म में वस्तु-प्रतिवस्तुभाव ही है । और इसमें अर्थापत्ति अलंकार मानना, जैसा कि शोभाकर ने किया है,[4] और भी अनुचित है क्योंकि

१- इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य—उद्योत, पृ० ४७ ।

२. शाकुन्तल में इसी प्रकार का एक और सुन्दर उदाहरण है—
इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥

३. अ० र० पृ० १७-१८ ।

४. देखिए—अ० र० पृ० १३९-४० ।

शुद्धान्त दुर्लभ के वर्णन के साथ अर्थान्तर (वनलताओं द्वारा उद्यानलताओं को मात करना) अर्थात् नहीं आ जाता है। अर्थापत्ति में सादृश्य भी नहीं होता है जबकि औपम्य की प्रतीयमानता निदर्शना में आवश्यक तत्त्व है। कुछ लोग इस उदाहरण में दृष्टान्त अलंकार भी मानना चाहते हैं किन्तु जैसा कि रुय्यक ने स्वयं कहा है सम्बन्ध की अनुपपत्ति से होने वाली निदर्शना, जहाँ प्रकृत वाक्यार्थान्तर का समानाधिकरण से आरोप होता है, और दृष्टान्त में महान् अन्तर है।

उपमामूलक अलंकार : व्यतिरेक

भामह और दण्डी के समय से व्यतिरेक अलंकार का प्रतिपादन होता चला आ रहा है। भेदाभेदतुल्य अलंकारों में उपमेय तथा उपमान दोनों की ही समानता बताने में कवि की दृष्टि रहती है। अप्रकृष्ट-गुण उपमेय को उत्कृष्ट-गुण उपमान के समान बताने में उसका अभिप्राय उपमेय का उत्कर्ष-प्रतिपादन ही होता है। किन्तु इस प्रथम सोपान में उपमेय केवल उपमान के समान ही होता है, उससे अभिन्न या अधिक नहीं। अभेदप्रधान अलंकारों में कवि उपमेय को उपमान बताकर अभेद के द्वारा उपमेय और उपमान को समान ही नहीं अपितु एक बता देता है। यह उपमेय के उत्कर्ष-प्रतिपादन की दूसरी श्रेणी है।

व्यतिरेक में कवि उपमेय का उत्कर्ष बताना चाहता है। इसके लिए वह या तो इन दोनों में विद्यमान सादृश्य का निषेध करता है या उपमेय को उत्कृष्ट बताकर आक्षेप द्वारा उपमान का अपकर्ष सूचित करता है या कभी उपमान का अपकर्ष बताकर आक्षेप द्वारा उपमेय का उत्कर्ष बताता है। इन तीनों रूपों द्वारा[1] उत्कर्ष-अपकर्ष का विधान उपमेय और उपमान में भेद की प्रतीति को प्रधान बनाता है।[2] यह भेद-प्रधानता अन्ततः इन दोनों में विद्यमान सादृश्य को द्योतित करने के लिए ही होती है। **'निष्कलंकं मुखं न चन्द्रवद्'** में चन्द्र और मुख के निष्कलंकत्व को लेकर भेद-प्रतीति तो होती है पर साथ ही, हृद्यत्व या उत्कण्ठाजनकत्व आदि अन्य अनेक गुणों के आधार पर इन दोनों में औपम्य भी गम्य रहता है। इन दोनों में अगर कहीं सादृश्य न हो तो किन्हीं विशेष गुणों के आधार पर उन्हें भिन्न बताने का भी प्रश्न न उठे।[3] अतः व्यतिरेक गम्यमान औपम्य पर आश्रित भेदप्रधान अलंकार है। दण्डी ने अपनी

---

१. रसग० पृ० ३५१।

२. व्यतिरेके उत्कर्षापकर्षप्रतीतेर्भेदप्राधान्यं स्फुटम्। —समुद्र० पृ० ७८।

३. यद्गुणपुरस्कारेण यस्य यत् सादृश्यनिषेध उत्कर्षपर्यवसायी तस्य तद्गुणपुरस्कारेण तत्सादृश्यस्याप्रतिष्ठानेऽपि गुणान्तरेण सादृश्यप्रत्ययस्य दुर्वारत्वात्। —रसग० पृ० ३५०।

परिभाषा[1] में इसके इस स्वरूप का पर्याप्त संकेत कर दिया था। उदाहरण में तो उन्होंने उपमेय और उपमान का सादृश्य बताने के बाद उपमेय के आधिक्य का वर्णन किया है।

धैर्यलावण्यगाम्भीर्यप्रमुखैस्त्वमुदन्वतः ।
गुणैस्तुल्योऽसि भेदस्तु वपुषैवेदृशेन ते ॥—काव्यादर्श, २।१८१ ।

इस उदाहरण से इतना तो स्पष्ट है कि भामह की भाँति दण्डी भी उपमेय के आधिक्य या उत्कर्ष के वर्णन को ही व्यतिरेक मानते हैं, यद्यपि उनकी परिभाषा का सामान्य अर्थ यही है कि उपमेय तथा उपमान के भेद का कथन दोनों में से किसी के उत्कर्ष द्वारा हो सकता है। भोज की परिभाषा भी (सरस्वती० ३।३२) उपमेयोत्कर्ष तथा उपमानोत्कर्ष दोनों में ही समान रूप से लागू होती है।[2] पर उनका भी उदाहरण[3] उपमेय का आधिक्य-वर्णन करता है।

उद्भट की परिभाषा में भी उपमेय के ही आधिक्य या उत्कर्ष का निबन्धन नहीं है। उनकी परिभाषा[4] का 'विशेषापादन' शब्द भी इस दृष्टि से अस्पष्ट है कि व्यतिरेक उपमान के आधिक्य-वर्णन में होगा या नहीं। हाँ, उपमान और उपमेय दोनों के लिए ही 'विशेषापादन'[4] या 'उत्कर्षवर्णन' शब्द इस बात की ओर संकेत करते हैं कि संभवतः उद्भट को उपमेयोत्कर्ष के अतिरिक्त उपमानोत्कर्ष के वर्णन में भी व्यतिरेक अभीष्ट है। पर इस बात का स्पष्ट निर्देश न रहने के नाते इनके टीकाकार तिलक उपमेयोत्कर्ष और उपमानापकर्ष में ही व्यतिरेक मानते हैं।[5] उद्भट के दूसरे टीकाकार इन्दुराज उपमेय तथा उपमान दोनों के ही उत्कर्ष-वर्णन में व्यतिरेक संभव समझते हैं।[6]

---

१. शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः ।
यत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥ —काव्यादर्श, २।१८० ।

२. परिभाषा की प्रथम पंक्ति को भोज ने व्यतिरेक-लक्षण में अक्षरशः अपना लिया है।

३. सरस्वती० ३।९० ।

४. विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययोः।—का० अ० सं० २।१२।

५. स च उपमेयोत्कर्षोपमाननिकर्षरूपव्यतिरेक ....। —विवृति, पृ० २५।

६. तत्र ह्यु पमानादुपमेयस्योपमेयादुपमानस्य वा केनचिद् विशेषणातिरेक आधिक्यं ख्याप्यते तस्माद् व्यतिरेकः। —लघुवृत्ति, पृ० ३५।

इस प्रकार उद्भट तक किसी भी आचार्य ने स्वयं इस बात का स्पष्ट निर्देश या प्रतिषेध नहीं किया है कि उपमान के आधिक्यवर्णन में व्यतिरेक मानना चाहिए या नहीं । वामन ने सर्वप्रथम अपनी परिभाषा[1] में इस बात को स्पष्ट कर दिया कि वे केवल उपमेयाधिक्य में ही व्यतिरेक मानते हैं । इनके बाद रुद्रट ने व्यतिरेक को दोनों ही तरह (उपमेयाधिक्य तथा उपमानाधिक्य) से माना है ।

यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने ।—काव्यालंकार, ७।८६ ।

यह उपमेयाधिक्यरूप व्यतिरेक का लक्षण है । **'यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये'**[2] उपमानाधिक्यरूप व्यतिरेक का लक्षण है । परवर्ती आलंकारिकों में मम्मट, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने वामन का अनुसरण किया । और रुय्यक ने रुद्रट (और संभवतः उद्भट) का । उनकी व्यतिरेकपरिभाषा में इसीलिए उपमेयाधिक्य तथा उपमानाधिक्य दोनों का ही सूत्रण है—

उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।—अ० स० पृ० १०१ ।

रुय्यक की इस मान्यता का जयरथ ने प्रबल समर्थन किया है । पर इनके दूसरे टीकाकार श्रीविद्याचक्रवर्ती तथा समुद्रबन्ध इसी साहस के साथ रुय्यक का समर्थन न कर सके । श्रीविद्याचक्रवर्ती सर्वस्व की टीका में तो चुप रहे किन्तु उन्होंने काव्यप्रकाश की टीका में मम्मट के मत का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि उन्हें उपमानाधिक्य में व्यतिरेक अभीष्ट नहीं है ।

उपमानस्याधिक्यमिति रुचकेनोक्तमयुक्तम् । —अ० स० पृ० ३१७ ।

समुद्रबन्ध ने **'विपर्ययग्रहणं न कर्तव्यमित्यन्ये'** कहकर अपने को तटस्थ अवश्य रखा पर वामन-मम्मट-सम्मत मान्यता का सादर उल्लेख अवश्य कर दिया है । रुय्यक का अनुसरण साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द तथा प्रतापरुद्रयशोभूषण के लेखकों ने किया है । एकावलीकार इस सम्बन्ध में मम्मट के ही अनुयायी हैं, रुय्यक के नहीं । मल्लिनाथ ने अपनी तरल टीका में तथा उनके पुत्र कुमारस्वामी ने रत्नापण टीका में अलंकारसर्वस्व के मत का खण्डन कर मम्मट के

---

१. **उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः** । —का० अ० सू० ४।३।२२ ।
वृत्ति—**उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यद् अर्थादुपमानात् स व्यतिरेकः** ।

२. **काव्यालंकार, ७।८९** ।

व्यतिरेक-लक्षण को ही उचित ठहराया है। वे सभी आचार्य जो उपमानाधिक्य में व्यतिरेक नहीं मानते उनका खण्डन प्रमुखरूप से इस मान्यता पर आधारित है कि उपमेय सदा निकृष्ट गुण वाला होता है और उपमान सदा उत्कृष्ट गुण वाला। अतः उपमान का आधिक्य तो स्वभावसिद्ध है उसके वर्णन में कोई नवीनता या विच्छित्ति नहीं। शोभाकर का यही कथन है—

उपमानस्यान्यस्मादाधिक्यं हि स्वभावतः सिद्धम्।
तत्त्वे तेन न युक्तो व्यतिरेकश्चारुताविरहात्॥

—अ० र० पृ० २६।

अनेक आचार्यों ने उपमानाधिक्य को अलंकार मानने का खण्डन इसके प्राचीन उदाहरणों में उपमेयाधिक्य का प्रतिपादन करते हुए किया है। रुद्रट का उपमानाधिक्य का उदाहरण है—

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु।

—काव्यालंकार, ७।९०।

यहाँ यौवन उपमेय है और शशी उपमान है। दोनों का समानधर्म है अस्थिरता। चन्द्र की अस्थिरता तो जाकर भी लौट आती है पर अस्थिर यौवन एक बार गया तो फिर लौटकर नहीं आता। दूसरे शब्दों में चन्द्र का गुण इतना नश्वर नहीं जितना यौवन का। इस दृष्टि से चन्द्र या उपमान अधिक गुणवान् है और यौवन या उपमेय अपकृष्ट है। उपमान में गुण का आधिक्य है और उपमेय में अपकर्ष। क्षीण दोनों होते हैं पर एक में तो वृद्धि का गुण है जो दूसरे में नहीं है।

अत्र शश्युपमानं क्षीणोऽपि वृद्धिगुणयुक्तो निर्दिष्टः यौवनन्तूपमेयं क्षयदोषयुक्तम्।

—नमिसाधु की टीका, पृ० ९४।

रुय्यक का भी यही मन्तव्य है—

चन्द्रापेक्षया च यौवनस्य न्यूनगुणत्वम्। शशिवैलक्षण्येन तस्यापुनरागमनात्।

—अ० स० पृ० १०२।

उपर्युक्त श्लोक के प्रकरण पर यदि हम विचार करें तो यह प्रतीत होगा कि सखी यौवन को अस्थिर बताकर प्रियसंगम का उपदेश देना चाहती है। यदि यौवन अस्थिर न हो तो मान करना भी ठीक है पर चन्द्र की भाँति वह जाकर लौटता नहीं उसमें चन्द्र की अपेक्षा अधिक अस्थिरता है। यही उसकी

कमी या न्यूनगुणत्व है। मम्मट, जगन्नाथ आदि के अनुसार इस प्रकरण का दूसरा ही अर्थ है। उनके अनुसार यौवन की अस्थिरता अच्छी है क्योंकि इसी लिए तो प्रियतम के प्रति अविरत अनुराग रखना आवश्यक है। अस्थिरता भले ही लोक में अनुपादेय होती है किन्तु प्रियसंगम के लिए रुझाव की दृष्टि से वह अच्छी है। इस प्रकार यौवन की अस्थिरता उपमेय की न्यूनगुणता नहीं अपितु आधिक्य है। इन दोनों विरोधी मतों का प्रयोजन एक है क्योंकि 'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी' का प्रतिपाद्य प्रियानुराग ही है। जो आचार्य इसमें उपमेय की न्यूनगुणता के आधार पर प्रकृत प्रयोजन की सिद्धि मानते हैं वे भी उपमान (चन्द्र) से यौवन को हीन बताना नहीं चाहते। अलंकारयोजना में कवि की दृष्टि प्रकृत या उपमेय को ऊपर उठाने में रहती है। उपमेय का उत्कर्ष उसका सदा साध्य रहता है। उपमेय को उपमान से अधिक गुणवाला मानना तो उसका एक सीधा ढंग है ही पर उपमान को किसी दृष्टि से अधिक गुण-वाला बताकर भी कवि उपमेय में विच्छित्ति का आधान कर लेता है, यही उसकी विशेषता है। ऐसे स्थलों में उपमान का आधिक्य वाच्य रहता है और उपमेय का आधिक्य आक्षेपलभ्य। कवि का प्रतिपाद्य सदा उपमेय का उत्कर्ष रहता है पर उसका शिल्पविधान अवश्य विलक्षण रहता है। यह विलक्षणता उपमेय को न्यूनगुण बताकर भी उसे वस्तुतः उपमान से बढ़कर बताने से कम सुन्दर नहीं। इसी दृष्टि से आचार्यों के विरोधी मतों का समन्वय करना चाहिए। केवल इस आधार पर रुय्यक-जयरथ की मान्यता का खण्डन करना कि उपमेय की न्यूनगुणता तो वास्तविक है (शोभाकर, जगन्नाथ) या ऐसे उदाहरण नहीं पाए जा सकते जिनमें उपमानाधिक्य प्रतिपादित हो (मल्लिनाथ)[२] कवि के लोकोत्तर शिल्पविधान को नियंत्रित करना है। सही बात तो यह है कि उपमेय को उपमान के समान या अधिक बताकर जिस प्रकार वाच्यार्थ का उपस्कार सम्भव है उसी प्रकार उपमेय की न्यूनगुणता की चर्चा कर उसकी उत्कृष्टता की प्रतीति कराने में भी है। तभी तो व्यतिरेक को गम्यमान औपम्य पर आश्रित कहना अधिक उपयुक्त है।

व्यतिरेक-लक्षण

रुय्यक ने उपमेय का आधिक्य तथा न्यूनगुणत्व दोनों का समावेश

---

१. देखिए—का० प्र० (झलकीकर), पृ० ६४५; रसग० पृ० ३५३।

२. न चान्यदस्योदाहरणं युज्यते दृश्यते वा। —तरल, पृ० २४६।

करने के लिए व्यतिरेक का लक्षण किया है—

भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।

—अ० स० पृ० १०१ ।

वृत्ति में रुय्यक ने विपर्यय का अर्थ न्यूनगुणत्व किया है। इस आधार पर लक्षण का अर्थ है उपमान से उपमेय जहाँ अधिक गुणवाला या न्यूनगुणवाला हो वहाँ व्यतिरेक होता है। इस लक्षण के अनुसार उपमेयाधिक्य तो व्यतिरेक है ही, जैसाकि सभी आचार्य मानते हैं। दूसरे भेद के लिए रुय्यक ने उपमानाधिक्य का प्रयोग न कर उपमेय को ही न्यूनगुण कहा है। इससे रुय्यक का सम्भवतः यही अभिप्राय है कि व्यतिरेक में कवि की दृष्टि उपमान पर केन्द्रित न होकर उपमेय पर ही केन्द्रित होती है। कभी उसके ऐसे अंश पर जो उपमान से अधिक-गुण है और कभी न्यूनगुण पर किन्तु उसका प्रतिपाद्य उपमेय होता है और इस प्रकार उसकी न्यूनगुणता वास्तविक नहीं कही जा सकती।

न चैतद्वास्तवमुपमेयस्य न्यूनगुणत्वम् । तस्यैव सातिशयत्वेन प्रतिपाद्यत्वात् ।

—वि० पृ० १०२ ।

इस लक्षण के 'विपर्यये' पद की शोभाकर ने जो आलोचना की है वह बहुत कुछ उपमानाधिक्य को लेकर है जब कि रुय्यक उपमेय के न्यूनगुणत्व की चर्चा करते हैं, उपमानाधिक्य की नहीं। शोभाकर ने व्यतिरेक के लक्षण की इस आधार पर भी आलोचना की है कि जहाँ उपमान उपमेय से किसी अंश में विरुद्ध या प्रतिकूल होता है वहाँ भी व्यतिरेक होता है किन्तु रुय्यक की परि-भाषा में इसके लिए कोई स्थान नहीं है अतः यह आलोचना असमीचीन है। जहाँ उपमान का प्रतिकूलवर्णन होता है वहाँ उपमेय का आधिक्य रहता है। पार्वती के अमृतवाही स्वर को सुन कर कोकिल के शब्द कर्णकटु मालूम देते हैं।[1] इस उदाहरण में अमृतवाही कहने से उपमेय के गुण में आधिक्य का स्पष्ट अभिधान है। उदाहरण के दूसरे अंश (अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा) को लेकर यहाँ प्रति-कूलता के वर्णन के आधार पर व्यतिरेक मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसे स्थलों का संग्रह 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये' में ही हो जाता है।

---

१. स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव वाद्यमाना ॥

—कुमारसंभव, १।४५ ।

चिरन्तन आचार्यों के ही समय से व्यतिरेक के अनेक भेदोपभेदों का निरूपण होता रहा है। रुय्यक ने केवल दो प्रकार का व्यतिरेक बताकर किसी भी अन्य भेद की चर्चा नहीं की है। व्यतिरेक सादृश्याश्रित अलंकार है। सादृश्य त्रिविध धर्मों (अनुगामी आदि) द्वारा उत्थापित होता है अतः इसके भी साधारण धर्म के पूर्व-निर्दिष्ट त्रिविध आधार पर तीन भेद होते हैं।

नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात् कदलीविशेषाः।
लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः॥
—कुमारसम्भव, १।३६।

इसमें 'परिणाहि' अनुगामी धर्म है।

जलजं ललितविकासं सुन्दरहासं तवाननं हसति।
—रसग० पृ० ३५७।

इसमें लालित्य और सौन्दर्य वस्तुप्रतिवस्तुभावरूप साधारण धर्म हैं। हास तथा विकास इन दो साधारण धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। रुय्यक द्वारा उल्लिखित उपमेयाधिक्य के उदाहरण[2] में मनोहर और रम्य में वस्तुप्रतिवस्तुभाव और पक्ष्मलता तथा नीलोत्पलिनी के विलास और विकस्वरता में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

---

२. दिदृक्षवः पक्ष्मलताविलासमक्ष्णां सहस्रस्य मनोहरं ते।
वापीषु नीलोत्पलिनीविकासरम्यासु नदन्ति न षट्पदौघाः॥

उपमामूलक अलंकार : सहोक्ति

उपमान और उपमेय में से एक का प्रधानरूप में निर्देश और दूसरे का सहार्थ से सम्बन्ध सहोक्ति अलंकार कहलाता है ।[1] भामह ने इसका सर्वप्रथम लक्षण करते हुए दो भिन्न वस्तुओं में एक काल में रहनेवाली दो क्रियाओं का एक पद से कथन सहोक्ति अलंकार का स्वरूप माना था ।[2] दण्डी ने 'गुण और कर्म के सहभाव से कथन' को सहोक्ति बताते हुए[3] कर्म (भामह की क्रिया) में गुण का तत्त्व और सन्निविष्ट कर दिया था । उद्भट ने भामह के ही लक्षण को (एकाध शब्द के हेरफेर के साथ) यथावत् स्वीकार कर लिया था ।[4] अग्निपुराण में दण्डी के लक्षण का अनुसरण है । और वामन का लक्षण भामह के श्लोकबद्ध लक्षण का ही गद्यरूप है ।[5] रुद्रट ने सहोक्ति को वास्तव तथा औपम्य इन दो वर्गों में रखा है । प्रथम वर्ग की सहोक्ति में कार्यकारणभाव और औपम्य दोनों ही समञ्जित रहते हैं किन्तु औपम्यवर्ग की सहोक्ति में औपम्य से भिन्न दूसरा सम्बन्ध समञ्जित नहीं रहता है ।[6] कुन्तक ने भामह द्वारा प्रस्तुत सहोक्ति के लक्षण को उपमा के स्वरूप से अतिव्याप्त मान कर सहोक्ति का लक्षण यह किया है कि जहाँ एक वाक्य के द्वारा ही वर्णनीय अर्थ की

---

१. उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः ।
—अ० स० पृ० १०३ ।

२. तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।
पदेनैकेन कथ्यन्ते सहोक्तिः सा मता यथा ॥ —भामहालंकार, ३।३६ ।

३. सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम् । —काव्यादर्श, २।३५१ ।

४. भामह के लक्षण से उद्भट के निम्नलिखित लक्षण की तुलना कीजिए—
तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रिते ।
पदेनैकेन कथ्यन्ते सा सहोक्तिर्मता सताम् ॥
—का० अ० सं० ५।२६ ।

५. वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः ।
—का० अ० सू० ४।३।२८ ।

६. देखिए—नमिसाधु० पृ० ७७, ११९ ।

सिद्धि के लिए अर्थों का युगपत् अभिधान होता है वहाँ सहोक्ति होती है। पद के स्थान पर वाक्य और क्रिया या गुण के स्थान पर अर्थ का प्रयोग कुन्तक के लक्षण की विशेषता है। इनके अनुसार वर्णनीय अर्थ ही प्रधान होता है, सहोक्ति में उपात्त अन्य अर्थ उसकी अपेक्षा समानरूप से गौण रहते हैं। रुय्यक का सहोक्ति-लक्षण प्राचीन सभी लक्षणों से अधिक महत्त्व का है। इसमें एक तो उन्होंने प्रधानभाव और गौणभाव की स्पष्ट व्यवस्था की है और दूसरे उपमान और उपमेय पद का प्रयोग कर इस अलंकार की औपम्यमूलकता भी स्पष्ट कर दी है। रुय्यक का सहोक्ति-विवेचन व्याकरण-दर्शन से प्रभावित है। इनके अनुसार जिस अर्थ का निर्देश तृतीया विभक्ति में होता है वह गौण तथा जिसका प्रथमा विभक्ति में होता है वह प्रधान होता है—व्याकरण के अनुसार क्रिया प्रधान होती है और उसके साथ कर्त्ता का ही सीधा सम्बन्ध होता है। तृतीया विभक्ति में आई वस्तु का सम्बन्ध प्रथमा के माध्यम से ही होगा।

सहोक्ति औपम्यमूलक अलंकार है। उसमें एक वस्तु उपमेय-स्थानीय और दूसरी उपमान-स्थानीय होती है पर यह उपमानोपमेयभाव नियत या वास्तविक न होकर कवि और सहृदय की विवक्षा के अधीन होता है क्योंकि सहोक्ति में दोनों ही अर्थ प्रकृत हो सकते हैं अथवा अप्रकृत और सहार्थ के कारण दोनों ही समान कोटि के होंगे तथापि जिसका निर्देश तृतीया विभक्ति में होगा उसे गौण होने के कारण उपमान और अन्य विभक्ति वाले को प्रधान होने के कारण उपमेय मानना होगा। चूंकि उपमानोपमेयभाव प्रकृत और अप्रकृत दोनों के ही एक साथ रहने पर वास्तविक कहलाता है और सहोक्ति में दोनों प्रकृत या अप्रकृत हो सकते हैं अतः उपमानत्व और उपमेयत्व वैवक्षिक है। चूंकि सह शब्द के प्रयोग से एक वस्तु गौण बन जाती है अतः उसी के सहारे दूसरी वस्तु को प्रधान जान लिया जाता है अतः सहोक्ति का गुणप्रधानभाव सह शब्द के प्रयोग पर अवलम्बित होने के कारण शाब्द है, आर्थ नहीं। गुणप्रधानभाव की यह स्थिति नियत नहीं है। कभी कहीं प्रधान विभक्ति से निर्दिष्ट की अप्रधानता और गुणविभक्ति से निर्दिष्ट की प्रधानता भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में सहोक्ति के मूल में अतिशयोक्ति—कार्यकारण-पौर्वापर्य-विपर्ययरूप तथा अभेदाध्यवसायरूप—अनिवार्यतः रहती है। अभेदाध्यवसाय-रूप अतिशयोक्ति कभी श्लेषभित्तिक होती है और कभी अन्यथा। उदाहरण के लिए '**भवदपराधैः सार्धं सन्तापो वर्धतेतरामस्याः**' सहोक्ति के इस उदाहरण में

कार्यकारण-विपर्ययरूप अतिशयोक्ति मूल में है क्योंकि सन्तापों के हेतुभूत अपराध का कार्यरूप सन्ताप के साथ युगपत् वर्णन है ।

अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि—शत्रुओं के साथ यह सूर्य अस्तंगत हो गया है, सेनाओं को वापस हटा लो—श्लेषभित्तिक अभेदाध्यवसायमूलक सहोक्ति के इस उदाहरण में 'अस्तंगत होना' श्लिष्ट है क्योंकि उससे सूर्य के डूबने और राजा के पराजित होने का एक ही शब्द से बोध होता है ।

कुमुदवनैः सह सम्प्रति विघटन्ते चक्रवाकमिथुनानि—कुमुदवनों के साथ अब चकवा-चकवी के जोड़े विलग हो रहे हैं—इस उदाहरण में विलग होना अश्लिष्ट शब्द है। यद्यपि कुमुदवन तथा चकवा-चकवी के विभिन्न संदर्भ में उसका अर्थ भिन्न हो जाता है पर इस अर्थ-भेद का आधार सम्बन्धी का भिन्न होना है न कि एक ही शब्द के दो अर्थ होना । रुय्यक का कथन है कि सहोक्ति अतिशयोक्ति से किंवा कारण और कार्य के विपर्यय तथा अभेदाध्यवसाय से अनुप्राणित होती है अन्यथा इसे अलंकार नहीं माना जा सकता है—

(क) **तत्र नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः ।** —अ० स० पृ० १०४ ।

(ख) **एतद्विशेषणपरिहारेण सहोक्तिमात्रं नालंकारः ।** —पृ० १०५ ।

सहभाव कर्ता, कर्म आदि के साथ हो सकता है, इस आधार पर कर्तृ-साहित्य, कर्मसाहित्य के रूप में भेद भी रुय्यक ने माने हैं । अभीतक के सभी उदाहरण कर्ता के साथ सहभाव के थे । कर्म के साथ सहभाव का उदाहरण है—

द्युजनो मृत्युना सार्धं यस्याजौ तारकामये ।
चक्रे चक्राभिधानेन प्रेष्येणाप्तमनोरथः ॥ —वहीं ।

सहोक्ति मालारूप से भी हो सकती है जिसमें सह के साथ अनेक का निर्देश तृतीया विभक्ति में होगा ।[1] जयरथ ने धर्म की शुद्ध सामान्यरूपता तथा बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव के आधार पर भी इसके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।[2]

रुय्यक द्वारा सहोक्ति के स्वरूप, उसकी अतिशयोक्ति-मूलकता, उसके भेद आदि का विवेचन अत्यन्त मौलिक है ।[3] उनके इस विवेचन का अनुसरण

---

१. उदाहरण है–'**उद्दिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितम्....**' आदि ।

२. वि० पृ० १०५ ।

३. देखिए—अ० स० पृ० १०३-४ ।

परवर्ती अनेक आचार्यों ने किया है जिनमें शोभाकर, विद्यानाथ, विद्याधर, विश्वनाथ, दीक्षित आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं । शोभाकर ने सहोक्ति की अतिशयोक्तिमूलकता ही नहीं[1] अपितु तुल्ययोगिता-मूलकता भी मानी है। जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सहकथन होता है वहाँ इसके मूल में तुल्ययोगिता होती है।

सहोक्ति के मूल में अतिशयोक्ति रहती है या नहीं, इसके सम्बन्ध में मम्मट के काव्यप्रकाश में कोई संकेत नहीं है किन्तु उनके उदाहरण **'सह मणि-वलयैर्वाष्पधारा गलन्ति'** का विश्लेषण करते हुए साहित्यदर्पण के टीकाकार रामचरण तर्कवागीश का कथन है कि यहाँ 'गलन्ति'—गिर रहे हैं—इसमें अभेदाध्यवसाय का अंश नहीं है अतः सहोक्ति को नियमेन अतिशयोक्तिमूलक नहीं मानना चाहिए।[2] इस सम्बन्ध में यह कहना उचित नहीं होगा कि सम्बन्धी के भेद से 'गलन्ति' के भी दो अर्थ हैं । मणिवलय का खिसकना या गिरना और आँसुओं का चूना एक ही बात नहीं है अतः इस उदाहरण में भी अतिशयोक्ति-मूलकता मानना चाहिए । विश्वनाथ ने 'लक्ष्मण के साथ राम गहन वन में गए' इसे सहोक्ति का उदाहरण न मानकर यह स्पष्ट कर दिया है कि अतिशयोक्ति-मूलकता के अभाव में सहोक्तिमात्र को अलंकार नहीं माना जा सकता है। दो व्यक्तियों की गमन क्रिया का सहृदय की दृष्टि से एक ही स्वरूप है किन्तु मणिवलय के खिसकने और आँसू के चूने में उसे अन्तर प्रतीत होता है, यह न्याय का उतना विषय नहीं है जितना कि सहृदय की अनुभूति का ।

सहोक्ति और इसी प्रकार विनोक्ति[3] में सह तथा विना शब्द का प्रयोग क्रमशः सहार्थ तथा विनार्थ की शीघ्र प्रतीति में सहायक है अतः इन शब्दों या इनके पर्यायों का प्रयोग साधारणतः होता है किन्तु इन शब्दों का प्रयोग आवश्यक नहीं है और न लक्षण का घटक ही है।[4] यदि हमें वाक्यार्थ

---

१. रुय्यक ने अतिशयोक्ति के दो भेदों पर ही सहोक्ति को आधारित माना था पर शोभाकर सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध वाली अतिशयोक्ति को भी इसके मूल में मानते हैं। देखिए—अ० र० पृ० ७० ।

२. सा० द० पर रामचरण तर्कवागीश की टीका, पृ० ५६१ ।

३. विनोक्ति के उपमामूलक न होने से हमने उसका विवेचन पृथक् से नहीं किया है ।

४. अत्र विनाशब्दमन्तरेणापि विनार्थविवक्षा यथाकथंचिन्निमित्तीभवति, यथा सहोक्तौ सहार्थविवक्षा । —अ० स० पृ० १०६ ।

के पर्यवसान में सहार्थ अथवा विनार्थ की प्रतीति हो जाती है तो सहोक्ति तथा विनोक्ति अलंकार माने जाएंगे । सह शब्द के विना भी सहार्थ की विवक्षा का उदाहरण निम्नलिखित है—

विवृण्वता सौरभरोरदोषं बन्दिव्रतं वर्णगुणैः स्पृशन्त्याः ।
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे प्रायेण दृष्टेर्वबृधे विवादः ॥

—वि० पृ० १०७ ।

इसी प्रकार जहाँ वाक्यार्थ की पर्यालोचना से 'विना' अर्थ की प्रतीति हो जाती है वहाँ 'विना' शब्द के प्रयोग के विना भी विनोक्ति अलंकार होगा । उदाहरण के लिए—

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव न येन दृष्टा नलिनी प्रबुद्धा ॥[1]

[जिस कमलिनी ने चन्द्र-बिम्ब नहीं देखा उसका जन्म बेकार चला गया । उस चन्द्र का भी जन्म लेना बेकार ही है जिसने कभी विकसित कमलिनी नहीं देखी है]

१. इस उदाहरण में परस्पर विनोक्ति है, कमलिनी चन्द्र के बिम्बदर्शन के विना निष्फल है और चन्द्र विकसित कमलिनी के विना । ऐसे उदाहरणों में अधिक चमत्कार होता है—
इयं च परस्परविनोक्तिभङ्ग्या चमत्कारातिशयकृत् । —वहीं, पृ० १०७ ।

उपमामूलक अलंकार : समासोक्ति

समासोक्ति का निरूपण भामह के समय से प्रारम्भ हुआ। परवर्ती सभी आलंकारिकों ने इसे स्वीकार किया है। मम्मट तक इसका जो रूप स्थिर हुआ वह अधिक स्पष्ट नहीं था। रुय्यक के समासोक्ति के लक्षण और निरूपण का प्रभाव अर्वाचीन आलंकारिकों पर विशेष रूप से पड़ा है।

विशेषणों के साम्य से जहाँ अप्रस्तुत गम्य होता है वहाँ समासोक्ति होती है। यह रुय्यक का समासोक्तिलक्षण है। अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत गम्य होता है। समासोक्ति में वाच्यार्थ प्रकृतविषयक होता है और व्यंग्यार्थ अप्रकृतविषयक जबकि अप्रस्तुतप्रशंसा में ठीक इसके विपरीत वाच्यार्थ अप्रकृतविषयक होता है और व्यंग्यार्थ प्रकृतविषयक—

गम्यत्वन्तु प्रस्तुतनिष्ठमप्रस्तुतप्रशंसाविषयः। अप्रस्तुतनिष्ठन्तु समासोक्तिविषयः।

—अ० स० पृ० १०८।

इन दोनों ही अलंकारों में दो अर्थों की प्रतीति होती है। एक वाच्यार्थ रहता है, दूसरा व्यंग्यार्थ। श्लेष में दो अर्थों की प्रतीति होती है पर दोनों ही वाच्य रहते हैं। यही नहीं समासोक्ति में विशेषण में श्लेष भले ही हो पर विशेष्य में कभी श्लेष नहीं होता जबकि श्लेषालंकार में दोनों ही श्लिष्ट होते हैं।[1] इस प्रकार ममासोक्ति में विशेष्य से दो अर्थ नहीं निकलते जबकि श्लेष में विशेष और विशेष्य दोनों ही से दो अर्थ निकलते हैं। समासोक्ति में अप्रस्तुत का आक्षेप क्यों होता है? इस प्रश्न के उत्तर में रुय्यक का कथन है कि इसमें ऐसे विशेषणों का प्रयोग होता है जो प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों में ही समान रूप से लागू होते हैं। विशेषण शब्द को यदि हम नियन्त्रिंत अर्थ में न लें तो कार्य तथा लिंग द्वारा निर्दिष्ट साम्य को भी विशेषणसाम्य कहा जा सकता है अत: विश्वनाथ की भाँति, समासोक्ति की परिभाषा में कार्य तथा लिंग का पृथक् निवेश अनावश्यक है। रुय्यक के समासोक्तिसूत्र का पाठ दो प्रकार से मिलता है। एक में **'विशेषणानां साम्याद्'** पाठ है और दूसरे में **'विशेषणसाम्याद्'**। पहले पाठ के अनुसार समासोक्ति के लिए अनेक विशेषणों का उपादान आवश्यक है। पर—

---

१. तथा देखिए--वि० पृ० १०८।

श्वसनविषमा रात्रिर्ज्योत्स्ना तरंगितविभ्रमा,
शशिमणिभुवो बाष्पायन्ते निमीलति पद्मिनी ।
उपचिततमोमोहा भूमिर्व्यनक्ति विवर्णतां,
तदिति गहनं दर्शं दर्शं कथं सखि जीव्यते ।
—वि० पृ० १०८ ।

इस उदाहरण में रात्रि, ज्योत्स्ना आदि प्रकृत हैं, उनके लिए पृथक् रूप से केवल एक विशेषण है 'श्वसनविषमा', 'तरंगितविभ्रमा' आदि । एक विशेषण से ही रात्रि, ज्योत्स्ना आदि में वियोगिनी नायिका की व्यवहार-प्रतीति होती है । अत: जयरथ, श्रीविद्याचक्रवर्ती, समुद्रबन्ध द्वारा सम्मत तथा अनेक पाण्डुलिपियों में प्राप्त 'विशेषणसाम्याद्' पाठ ही उचित है । प्रथम पाठ स्वीकार करने पर अनेक विशेषण का होना आवश्यक हो जाएगा फलत: उपर्युक्त उदाहरण में समासोक्ति का लक्षण अव्याप्त होगा । अत: प्रथम पाठ ठीक नहीं है । समस्यन्त पदवाले द्वितीय पाठ के विशेषण शब्द को तीनों ही वचनों में समझा जा सकता है अत: 'विशेषणसाम्याद्' पाठ लक्षण की दृष्टि से उचित है । इसी आधार पर शोभाकर का 'विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतधर्मावच्छेदः समासोक्तिः' (अ० र० सू० ४३) यह लक्षण भी अव्यापक है ।

समान-विशेषण का निर्देश तीन प्रकार से हो सकता है—

(अ) श्लेष के द्वारा जैसेकि 'उपोढरागेण' में राग शब्द लालिमा तथा अनुराग इन दो अर्थों का वाचक है ।

(ब) उभयार्थसाधारण शब्द के द्वारा जैसेकि 'मनोरमा' ऐसा विशेषण है जो लता तथा नायिका दोनों के लिए ही आ सकता है ।

(स) उपमागर्भ शब्द के द्वारा जैसेकि 'दन्तप्रभापुष्पचिता' पद का समास दो तरह से किया जा सकता है : 'दन्तप्रभाः पुष्पाणीव तैश्चिता' तथा 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता' । पहले अर्थात् उपमा-गर्भ समास से प्रकृत नायिका की प्रतीति होती है और दूसरे (मध्यमपदलोपि) समास द्वारा अप्रकृत लता के व्यवहार की । इस पद का तीसरे प्रकार से भी समास सम्भव है । वह है—

---

१. उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

'दन्तप्रभा एव पुष्पाणि तैश्चिता'। तीनों ही समास-प्रकारों से यह पद नायिका तथा लता का विशेषण बन सकता है। प्रथम दो समासों के आधार पर तो समासोक्ति मानी जा सकती है क्योंकि उनके द्वारा अप्रकृत के व्यवहार की प्रतीति से आच्छादित प्रकृत ही प्रधान बना रहता है। पर रूपकगर्भ समास में लता अपने रूप से नायिका को रूपित कर देती है अतः उसमें रूपक होगा; व्यवहार-समारोप वाली समासोक्ति नहीं। इन तीनों ही भेदों पर अब हम रुय्यक-जयरथ तथा चक्रवर्ती के अनुसार विशेष विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

(अ) समासोक्ति, श्लेष तथा शब्दशक्तिमूल ध्वनि तीनों में ही श्लिष्ट पद का प्रयोग होता है। पर इन तीनों का ही विषय भिन्न है। श्लिष्ट पद से निकलने वाले दोनों अर्थ यदि नियमतः वाच्य होते हैं तभी श्लेषालंकार होता है। समासोक्ति तथा श्लेषालंकार का भेद विशेष्यांश की अश्लिष्टता तथा श्लिष्टता को लेकर है। श्लेषालंकार में जहाँ केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत का वर्णन होता है वहाँ विशेषण तथा विशेष्य दोनों में ही श्लिष्ट पद का प्रयोग आवश्यक है। श्लिष्ट विशेषण तथा श्लिष्ट विशेष्य से निकलने वाले दोनों अर्थ इसमें वाच्य रहते हैं क्योंकि अभिधा द्वारा किसी एक अर्थ में नियन्त्रण नहीं होता। और जहाँ प्रकृताप्रकृत का वर्णन होता है वहाँ विशेष्य के लिए पृथक् शब्दों का उपादान आवश्यक है। यदि विशेष्य को भी श्लिष्ट कर दिया जाता है तो अभिधा द्वारा केवल एक प्रकरणार्थ की ही प्रतीति होगी, अप्रकृतार्थ का ज्ञान व्यंजना द्वारा होगा। ऐसे स्थलों में श्लेषालंकार न होकर शब्दशक्तिमूलध्वनि होगी। श्लेषालंकार के लिए यह आवश्यक है कि दोनों ही अर्थ (चाहें वे प्रकृत या अप्रकृत अथवा प्रकृताप्रकृत हों) वाच्य होने चाहिए। समासोक्ति में विशेष्य तो कभी श्लिष्ट रहता ही नहीं, विशेषण भी सदा श्लिष्ट नहीं रहता। हाँ, उससे दो अर्थों का ज्ञान आवश्यक है। समासोक्ति के विशेषण को अर्थद्वयप्रतिपादक होना चाहिए, चाहें वह श्लेष से हो या साधारण शब्द से या उपमागर्भ समास से। जहाँ एक अर्थ प्रकृत है और दूसरा अप्रकृत, विशेषण तथा विशेष्य दोनों ही श्लिष्ट हैं तो वहाँ न तो समासोक्ति हो सकती है क्योंकि उसमें केवल विशेषणसाम्य होता है, न श्लेष हो सकता है क्योंकि उसके लिए दोनों अर्थों का वाच्य होना अपरिहार्य है। श्लिष्ट प्रकृताप्रकृत में अभिधा केवल प्रकृतार्थ का बोध करा सकती है। प्रकृतार्थ बताने के बाद उसकी शक्ति क्षीण हो जाएगी अतः अप्रकृतार्थ को बताने के लिए व्यंजना का सहारा लेना पड़ेगा। अस्तु, ऐसे स्थलों में श्लेषालंकार न होकर शब्दशक्तिमूलध्वनि होगी। ध्वनिवादी

की दृष्टि से समासोक्ति, श्लेष तथा शब्दशक्तिमूलध्वनि का यही विषय-विभाग है ।[1]

श्लिष्ट पद द्वारा विशेषणसाम्य का उदाहरण रुय्यक ने पाणिनि-प्रणीत निम्नांकित श्लोक दिया है, जिसे आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में समासोक्ति-विवेचन के प्रसंग में उद्धृत किया था—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

[रागभरे चन्द्र ने निशा के चपल तारक वाले मुख को यों पकड़ा कि सारा तिमिर-वसन सामने खिसक जाने पर भी वह जान ही न पाई]

इस श्लोक में शशी का नायक की भाँति पुलिंग में तथा निशा का नायिका की भाँति स्त्रीलिंग में निर्देश हुआ है । शेष पदों से दो अर्थ निकलते हैं ।[2] एक का सम्बन्ध प्रकृतार्थ से है और दूसरे का अप्रकृतार्थ से । शशी तथा निशा विशेष्य हैं । उनका एक ही अर्थ है । उनमें श्लेष नहीं है किन्तु विशेषण-शब्द दो अर्थ के वाचक हैं जिनसे अप्रकृतार्थ (या उसके व्यवहार) की प्रतीति होती है । अप्रस्तुत अर्थ चूँकि विशेषणसाम्य से प्रतीत होता है अतः विशेष्य से इसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहता । रूपक के लिए दोनों की समानतया प्रतीति आवश्यक है । समासोक्ति में अप्रकृत अर्थ की प्रतीति प्रकृत का उपादान भर कर देने से सम्भव नहीं है । केवल शशी और निशा कहने से नायक और नायिका का ज्ञान नहीं हो जाता; इसके लिए विशेषण-साम्य आवश्यक है । और यह विशेषण-साम्य अप्रकृत के धर्म, कार्य या व्यवहार का

---

१. यदा पुनः प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्विशेषणविशेष्यांशेऽपि श्लिष्टता तदा तावन्न समासोक्तिः । विशेषणमात्रसाम्यलक्षणा यतः । श्लेषालंकारत्व-प्राप्तिरपि कथम् ? तत्रार्थद्वयस्य वाच्यतैव लक्षणं यतः । न ह्यत्र द्वयो-र्वाच्यतोपपत्तिः । प्रकरणपक्षपातिन्या अभिधाया अप्राकरणिकार्थे स्पर्शा-भावात् । अप्राकरणिकस्य समन्वयसमनन्तरप्रतीतत्वात्, शब्दशक्तिमूलस्य ध्वनेः श्लेषेण विषयग्रासप्रसंगाच्च । —संजी० पृ० १०८-९ ।
तथा देखिए—वि० पृ० ५० ।

२. रागः सन्ध्यारुणिमा कामश्च । तारकेत्यतो नक्षत्रदृगन्तर्मण्डलयोः प्रतिपत्तिः । मुखं प्रारम्भो वक्त्रं च । तिमिरमंशुकमिव तिमिरसदृशमंशुकं च । —संजी० पृ० ११० ।

प्रत्यायन करता है, उसके रूप का नहीं। 'तथा गृहीतम्' से नायक के व्यवहार (या वृत्तान्त—अप्पय्यदीक्षित) की प्रतीति होती है, उसके रूप की नहीं। स्वभावत: समासोक्ति में व्यवहार-समारोप होता है, रूपक की भाँति रूप-समारोप नहीं होता। आरोप के लिए दो का निर्देश उचित है। समासोक्ति में प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों का ही व्यवहार पदों की उभयार्थकता के कारण वाच्य रहता है अत: एक पर दूसरे के व्यवहार का आरोप सम्भव है पर विशेष्यांश में प्रकृत का ही उपादान होने के नाते अप्रकृत का रूप ज्ञात नहीं होता अत: आरोप का प्रश्न ही नहीं उठता। रूपसमारोप के लिए यह भी आवश्यक है कि दो पदार्थों की प्रतीति अनुयोगी तथा प्रतियोगी के रूप में हो पर समासोक्ति में ऐसा नहीं होता क्योंकि इसमें केवल अनुयोगी का उपादान होता है, प्रतियोगी का निर्देश नहीं होता। यह अवश्य है कि विशेषणसाम्य से जब प्रस्तुत की प्रतीति होती है तो वह प्रस्तुत में स्वव्यवहारविशिष्ट होने की प्रतीति करा देती है। "**विशेषणसाम्याद्धि.......... तद्रूपरूपितत्वाद्**' रुय्यक (अ० स० पृ० १०९) के इस कथन का यही अभिप्राय है।[1] इसी दृष्टि से उन्होंने उपर्युक्त श्लोक में शशि तथा निशा को नायक तथा नायिका के धर्म से विशिष्ट होने की प्रतीति बताई है। विशेषणसाम्य के कारण जब अप्रस्तुत की प्रतीति होती है तो वहाँ लक्षणा द्वारा नहीं, अपितु आक्षेप से प्रतीति माननी चाहिए। जयरथ के अनुसार '**उपोढरागेण**' आदि में राग नायक का धर्म है, शशि का नहीं। नायक के धर्म का इसीलिए शशि में अन्वय सम्भव है क्योंकि वह धर्म तो नायक में ही अविनाभाव सम्बन्ध से रहता है। अत: '**उपोढरागेण**' आदि से राग आदि के धर्मी नायक का आक्षेप किया जाएगा। जयरथ ने इसी मत का प्रतिपादन किया है।[2] इनके अनुसार जब दो वस्तुओं में अविनाभाव सम्बन्ध होता है वहाँ लक्षणा न मानकर आक्षेप मानना चाहिए। '**गौरनुबन्ध्यः**' में इसीलिए जयरथ लक्षणा नहीं मानते क्योंकि जाति(गोत्व) और व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध होता है। इसी

---

१. **यतो विशेषणसाम्यादप्रस्तुतोऽर्थः प्रतीयते, अतो विशेष्यांशे संस्पर्शाभावाद् विशेष्यं प्रकृतार्थं न स्वेन रूपेण रूपवन्तं कर्तुमीष्टे। किन्तु विशेषणांश-प्रतीतौ स्वव्यवहारं विशेषांशप्रतीते प्रकृतार्थव्यवहारे परिच्छेदकत्वेन समारोपयति।** —संजी० पृ० १०९।

२. देखिए—**नह्यन्यधर्मिसम्बन्धिनो धर्मा..........न पुनराच्छाद्यते।** —वि० पृ० १०८।

प्रकार समासोक्ति में नायक का व्यवहार नायक का आक्षेप कर लेता है क्योंकि व्यवहार धर्म है जो धर्मी में अविनाभाव से रहता है—

गौरनुबन्ध्यः इत्यत्र यथा कथं मे श्रुतिचोदितमनुबन्धनं स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु लक्ष्यते...एवं समासोक्तावपि नायकव्यवहारस्तदविनाभावित्वादेव नायकत्वमाक्षिपति । —वि० पृ० ५-६ ।

भामह, उद्भट आदि प्राचीन आचार्य प्रतीयमान अर्थ को लक्षणा में गतार्थ करते थे या आक्षेप में, यह कहना कठिन है क्योंकि लक्षणा और आक्षेप का परस्पर भेद ही बहुत स्पष्ट नहीं रहा है। अनेक आचार्य आक्षेप को लक्षणा से भिन्न नहीं मानते थे। रुय्यक ने प्राचीन मत का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् इति यथायोगं द्विविधया भंग्या प्रतिपादितं तैः ।—अ० स० पृ० ४ ।

रुय्यक ने अपनी तरफ से 'द्विविध भंगी' शब्द का प्रयोग किया है; उन्होंने न तो लक्षणा शब्द का प्रयोग किया है और न आक्षेप का। जयरथ ने यह मानकर कि रुय्यक ने लक्षणा शब्द के लिए ही द्विविध भंगी शब्द का प्रयोग किया है, प्राचीन आचार्यों की और साथ ही रुय्यक की भी यह आलोचना कर डाली है कि प्रतीयमान अर्थ लक्षणा के द्वारा नहीं अपितु आक्षेप के द्वारा प्रतीत होता है।

अत्र हि लक्षणाया एव नावकाशः । ग्रन्थकृता पुनरेतच्चिरन्तनानुवादपरतयोक्तम् । अस्माभिस्तु प्रसंगाद् वस्तु पर्यालोचितमित्यलं बहुना ।

—वि० पृ० ५-६ ।

जगन्नाथ ने इसके विपरीत प्राचीन आचार्यों का यही मत समझा था कि समासोक्ति में प्रकृतार्थ की अभिधा शक्ति द्वारा और अप्रकृतार्थ की आक्षेप द्वारा प्रतीति होती हैं।

एवं चात्र शक्त्याक्षेपाभ्यां सर्वार्थनिर्वाह इति भामहोद्भटप्रभृतीनां चिरन्तनानामाशयः । —रसग० पृ० ३७१-२ ।

पर जो भी हो, चाहें प्राचीन आचार्य जयरथ के अनुसार अभिधा और लक्षणा द्वारा प्रकृत तथा अप्रकृत के अर्थज्ञान की व्याख्या करते हों, चाहें जगन्नाथ के अनुसार अभिधा और आक्षेप के द्वारा और चाहें रुय्यक के शब्दों में द्विविध भंगी के द्वारा, उनका मत समाचीन नहीं है। वस्तुतः व्यंजना द्वारा ही अप्रकृतार्थ की प्रतीति माननी चाहिए, लक्षणा या आक्षेप के द्वारा नहीं। जयरथ

के अनुसार समासोक्ति में विशेषणसाधर्म्य के द्वारा जिन धर्म या कार्य का वर्णन होता है वे प्रकृतार्थ के नहीं होते अतः उनसे अविनाभाव सम्बन्ध के आधार पर चेतन अप्रकृत का आक्षेप होता है।

नह्यनायके नायकधर्माणामन्वयो युज्यते। अन्यधर्माणामन्यत्रान्वयसंभवात्। अत एवान्यारोप्यमाणोऽन्यव्यवहारोऽन्यत्र न संभवतीति तदविनाभावात् स्वव्यवहारिणमाक्षिपति। —वि० पृ० १०८।

यह मत असमीचीन है। **'निशामुखं चुम्बति चन्द्र एषः'** में मुखचुम्बन (कार्य या धर्म) का वर्णन है। यह मुख-चुम्बन केवल नायक का ही धर्म नहीं है। केवल नायक ही नायिका का मुखचुम्बन नहीं करता है, पिता आदि भी पुत्रादि का मुख-चुम्बन करते हैं। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि मुखचुम्बन धर्म का नायिक-नायिका के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। और फिर यदि धर्मी नायक अथवा नायिका का आक्षेप होता है तो उनका अभेदान्वय उनके धर्म से होना चाहिए पर अभेद-प्रतीति चन्द्र-निशा में नायक-नायिका की होती है, नायक-नायिका का मुखचुम्बन के साथ अभेदेन अन्वय आक्षेप से हो पाता है— **'नायकः नायिकामुखं चुम्बति'** और **'चन्द्रः निशाप्रारम्भं स्पृशति'** यह बोध होता है। मुखचुम्बन का भेदेन अन्वय करने पर चन्द्र और निशा में नायक-नायिकाभाव की प्रतीति केवल तटस्थ रूप में होगी और इस प्रकार समासोक्ति रसोद्बोधक भी न हो सकेगी। अब श्लिष्टपद वाले विशेषणसाम्य को लें। **'उपोढरागेण....'** में शशि और निशा में नायक तथा नायिका की प्रतीति श्लेष पर आधारित विशेषणसाम्य को लेकर होती है, विशेष्यांश में श्लेष नहीं होता। अभिधा के द्वारा उनका प्रकृतार्थ ही बताया जा सकता है। मुख्यार्थबाध आदि न होने से लक्षणा भी सम्भव नहीं है। अतएव यह मानना पड़ेगा कि व्यंजना की सहायता से ही अप्रकृत वाक्यार्थ की प्रतीति होती है जो प्रकृत वाक्यार्थ के साथ तादात्म्येन सम्बद्ध रहता है।[1] रुय्यक ने सम्भवतः इसीलिए **अभिधीयते, लक्ष्यते** या **आक्षिप्यते** जैसे शब्दों का प्रयोग न कर **'प्रतीयते', 'प्रतीयमानम्', 'प्रतीतेः' 'अप्रस्तुतस्य गम्यत्वम्'** जैसी शब्दावली का ही प्रयोग किया है। जयरथ को छोड़कर सर्वस्व के अन्य टीकारकारों का मेरे उपर्युक्त विवेचन को समर्थन भी प्राप्त है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने तो स्पष्ट लिखा है—

एवमादौ हि धर्मकार्ययोरन्यतरारोपमन्तरेणाप्रकृतार्थो नावगम्यते।

---

१. देखिए—रसग० पृ० ३७२।

प्रकरणनियन्त्रिताया अभिधाया प्राकरणिकार्थ एवोपक्षयात्, अतो धर्मकार्ययो-रन्यतरारोप एव व्यंजनव्यापारोत्थापनेनाप्रकृतावगमहेतुः ।

—संजी० पृ० १११-१२ ।

यह मत ध्वनिवाद के अनुकूल भी है। आनन्दवर्धन ने '**उपोढरागेण**' पर अपनी वृत्ति में कहा है—

इत्यादौ व्यंग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते ।

—ध्वन्या० (काशी) पृ० १०६ ।

मम्मट का समासोक्ति-लक्षण,[1] जिसमें उन्होंने '**उक्ति**' और '**अभिधानम्**' का प्रयोग किया है, उपर्युक्त आधार पर असम्भव है। उनका लक्षण अव्यापक भी है क्योंकि समासोक्ति को उन्होंने श्लिष्टविशेषण पर आधारित माना है पर जैसाकि प्रारम्भ में ही बताया गया है समासोक्ति श्लिष्ट विशेषण के अतिरिक्त अश्लिष्ट (उभयार्थसाधारण) पद तथा उपमागर्भ समास के द्वारा भी सम्भव है।

(ब) उभयार्थ-साधारण शब्द के द्वारा (साधारण्येन) विशेषण-साम्य का उदाहरण है—

तन्वी मनोरमा बालाद्धी पुष्पहासिनी ।
विकासमेति सुभग ! भवद्दर्शनमात्रतः ॥ —अ० स० पृ० १०६ ।

[अयि सुन्दर, तुम्हारे दर्शन से ही वह तन्वी, मनोरमा, तरलनयना, पुष्पहासिनी बाला खिल उठती है]

इसमें 'बाला' का वर्णन प्रकृत है। उसी के लिए '**विकासमेति**' का प्रयोग हुआ है। विकास नायिका का नहीं अपितु लता का होता है अतः लता में रहने वाले इस धर्म का उपचार से प्रकृतार्थ में भी प्रयोग होता है। लतागत धर्म का नायिका के लिए यह औपचारिक प्रयोग तन्वी, मनोरमा आदि विशेषणों की सहायता से सहृदय को नायिका में लता के व्यवहार की प्रतीति करा देता है। यदि इस विकास शब्द का, जो केवल अप्रकृत लता का ही धर्म है, प्रयोग न हो तो समासोक्ति होगी ही नहीं। अतः जहाँ भी साधारण्येन विशेषणसाम्य होता है वहाँ अप्रकृत के धर्म या कार्य का आरोप होना आवश्यक है।[2] उपर्युक्त

---

१. **परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ।**

—का० प्र० पृ० २९३ । इसकी वृत्ति भी द्रष्टव्य है ।

२. **तदेवं साधारण्येन समासोक्तिर्विशेषणसाम्ये सत्यपि अप्रकृतसम्बन्धिधर्म-कार्यसमारोपमन्तरेण तद्व्यवहारप्रतीतिर्न भवतीति सिद्धम् ।**

—वि० पृ० ११० ।

पद्य में विकास-धर्म का समारोप है ।[1] कार्यसमारोप का उदाहरण है—

विलिखति कुचावुच्चैर्गाढं करोति कचग्रहम्,
लिखति ललिते वक्त्रे पत्रावलीमसमञ्जसाम् ।
क्षितिप ! खदिरः श्रोणीबिम्बाद् विकर्षति चांशुकं,
मरुभुवि हठात् त्रस्यन्तीनां तवारिमृगीदृशाम् ॥

—अ० स० पृ० ११४ ।

[राजन्, मरुस्थल में डरती हुई तुम्हारी शत्रु-स्त्रियों के स्तनों को खदिर वृक्ष जोर से खरोंच रहा है, बालों को घसीट रहा है, सुन्दर मुख पर बेतुकी पत्ररचना बनाए डाल रहा है और कटितट से जबरन साड़ी खींचे जा रहा है]

यहाँ खदिर वृक्ष का वर्णन है । जिन कार्यों का वर्णन है उन्हें हठ नायक करता है अतः उसके कार्य के आरोप द्वारा प्रकृत उदाहरण से वृक्ष में हठनायक के व्यवहार की प्रतीति होती है । धर्म और कार्य के समारोप से होने वाली समासोक्ति में इन दोनों में से किसी एक के आरोप के विना अप्रकृतार्थ की प्रतीति नहीं होती । 'विलखति' आदि पदों का अर्थ एक ही है । अभिधा द्वारा केवल एक अर्थ का ही बोध हो सकता है अतः द्वितीय अर्थ की प्रतीति, नायक के धर्म का आरोप होने के नाते, व्यंजना द्वारा ही हो सकती है । इन पदों में श्लेष नहीं है अतः दोनों अर्थ वाच्य नहीं हो सकते । 'विलिखति' आदि पदों में मुख्यार्थ का बाध आदि भी नहीं है जिससे लक्षणा मानी जा सके फलतः व्यंजना के द्वारा ही धर्म या कार्य का आरोप अप्रकृतार्थ की प्रतीति करा पाता है । श्लिष्ट-विशेषणसाम्य वाली समासोक्ति और साधारण्यनिबन्धना समासोक्ति में यही भेद है । प्रथम भेद में अप्रकृत के व्यवहार की साक्षात् प्रतीति हो जाती है तो दूसरे में धर्म या कार्य का आरोप करने के बाद अप्रकृत-व्यवहार की प्रतीति होती है । अतः साधारण्य-निबन्धना समासोक्ति श्लिष्टनिबन्धना की अपेक्षा अस्फुट रहती है—

इयं च समासोक्तिः पूर्वापेक्षयाऽस्पष्टा । —अ० स० पृ० ११० ।

(स) रुय्यक ने ऐसे स्थलों पर भी समासोक्ति मानी है जहाँ उपमागर्भ समास के द्वारा विशेषणसाम्य सम्भव है । उदाहरण के लिए—

---

१. विश्वनाथ भी इस मत से सहमत हैं पर जगन्नाथ ने इस मत की आलोचना की है । देखिए—रसग० पृ० ३७६-८० ।

दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी ।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा ॥ —अ० स० पृ० ११० ।

[फूलों-जैसी दन्तप्रभावाली, पल्लव-जैसे करों से सुशोभित, केश-पाश की भ्रमरावली से सुवेषा यह मृगनयनी है]

इस श्लोक में मृगाक्षी कामिनी का वर्णन है । अनेक विशेषणों में से **'मृगाक्षी'** एक विशेषण है । **'सुवेषा'** शब्द प्रकृतार्थ को कामिनी-परक वर्णन में नियत कर देता है क्योंकि लता सुन्दर वस्त्र नहीं पहिनती, कामिनी ही पहिनती है अतः शेष पदों का पहले कामिनी-परक अर्थ ही लगाना पड़ता है । यद्यपि **'दन्तप्रभा-पुष्पचिता'** आदि पदों में **'दन्तप्रभा एव पुष्पाः तैश्चिता'** यह रूपकसमास भी किया जा सकता है पर उपर्युक्त आधार पर पहले उपमागर्भ समास करना आवश्यक है । वह है—**'दन्तप्रभा पुष्पाणीव'** । उपमागर्भ समास से पद का एक अर्थ तो निकल आता है किन्तु विशेषणसाम्य के लिए दो अर्थ होने चाहिए अतः बाद में हम इसी पद का मध्यमपदलोपि समास भी करते हैं; वह है—**'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता'** । इस तरह एक ही विशेषण के दो अर्थ हो जाते हैं—एक है पुष्पों की भाँति दन्तप्रभावाली तथा दूसरा है दन्तप्रभा के समान पुष्प वाली । ये ही दो अर्थ क्रमशः कामिनी (प्रकृत) और लता (अप्रकृत) की प्रतीति कराते हैं । यह विशेषणसाम्य न तो श्लेष पर आधारित है और न मनोरमा शब्द की तरह उभयार्थ-साधारण ही है अपितु वह उपमामूलकसमास पर आश्रित है अतः इस प्रकार के विशेषणसाम्य को रुय्यक ने औपम्यगर्भ कहा है । उपर्युक्त उदाहरण का विवेचन करते हुए हमने यह देखा कि किस प्रकार कामिनी-परक 'सुवेषा' पद शेष सारे विशेषणों में उपमा-समास करना आवश्यक या नियत कर देता है पर जहाँ एकार्थनियामक इस प्रकार का कोई विशेषण न हो वहाँ रुय्यक के अनुसार संकरसमास के आधार पर अप्रकृतार्थ की प्रतीति होगी । उदाहरण के लिए उपर्युक्त पद्य में यदि 'सुवेषा' के स्थान पर **'परीता'** (व्याप्त) पाठ हो तो पाठक सन्देह में पड़ेगा कि वह **'दन्तप्रभा पुष्पाणीव'** यह उपमागर्भ समास करे या **'दन्तप्रभा एव पुष्पाणि'** यह रूपकगर्भ समास करे । स्वभावतः वह सन्देहसंकर के आधार पर उपमासमास तथा रूपकसमास दोनों ही करेगा । प्रथम स्थिति में वह पहले की ही भाँति कहेगा **'दन्तप्रभा पुष्पाणीव'** जिससे उसे प्रकृत अर्थ की प्रतीति होगी; और फिर मध्यमपदलोपिसमास **'दन्तप्रभा-सदृशैः पुष्पैश्चिता'** करने पर अप्रकृत अर्थ लता (या उसके व्यवहार) की प्रतीति होगी । अप्रकृत के व्यवहार का प्रकृत पर आरोप होते ही अलंकारज्ञान में दक्ष

सहृदय उसे समासोक्ति समझ लेगा। अब सन्देह की दूसरी स्थिति को लें। इसमें रूपक के आधार पर पहला समास होगा 'दन्तप्रभा एव पुष्पाणि' और फिर दूसरा समास 'दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता' (पूर्वोक्त ही) होगा। इस प्रकार रूपक के आधार पर भी विशेषणसाम्य सम्भव है। एकदेशविवर्तिनी उपमा तथा संकर को लेकर आलंकारिकों में मतभेद है। उद्भट रूपक को एकदेशविवर्ती मानते हैं पर वे उपमा तथा संकर को एकदेशविवर्ती नहीं मानते। रुद्रट तथा उन्हीं का अनुसरण करनेवाले रुय्यक[1], उद्भट के विपरीत उपमा-संकर को भी रूपक की भाँति, एकदेशी भी मानते हैं। अब उद्भट के अनुसार सन्देहसंकर में जहाँ उपमागर्भ समास होगा वहाँ एकदेशविवर्तिनी उपमा न मानने के नाते अगत्या समासोक्ति माननी होगी और रूपकगर्भ समास में एक-देशविवर्ति रूपक होगा क्योंकि यह अलंकारभेद दूसरे अलंकारों का बाधक हो जाएगा और इस प्रकार रूपकसमास पर आधारित विशेषणसाम्य समासोक्ति का प्रयोजक न हो सकेगा।

रूपकगर्भत्वेन तु समासान्तराश्रणात् समानविशेषणत्वं भवदपि न समासोक्तेः प्रयोजकम्। एकदेशविवर्तिरूपकमुखेनैवार्थान्तरप्रतीतेस्तस्या वैयर्थ्यात्।[2]

—अ० स० पृ० ११०-१११।

अतः उद्भट तथा उनके इस मत के अनुयायियों के अनुसार औपम्यगर्भ समास में समासोक्ति और रूपकगर्भ समास में एकदेशविवर्ति रूपक, यह व्यवस्था सम्भव है। पर जो आचार्य, जैसेकि रुद्रट तथा रुय्यक, एकदेशविवर्तिनी उपमा मानते हैं उनके अनुसार उपमासमास पर आधारित इस भेद में एकदेशविवर्तिनी उपमा क्यों न मानी जाए? यदि विशेषण-साम्य के तत्त्व को लेकर ये आचार्य औपम्यगर्भ समास में समासोक्ति मानना चाहते हैं तो इसी आधार पर रूपकगर्भ समास में भी समासोक्ति क्यों न मानी जाए? जयरथ का उत्तर है कि केवल

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ११७-१८।

२. **नह्युपमालंकारः संकरालंकारश्चैकदेशविवर्तित्वेन केनचिदनुशिष्टौ अतः स्वतन्त्रालंकारसंशयान्नान्यबाधकौ। रूपकं त्वेकदेशविवर्तितयानुशिष्टमन्य-बाधक्षममेव। अत एवंविधे विषये रूपकप्राप्तौ समासोक्तेरप्राप्तिः।**

—संजी० पृ० १४१।

यह ध्यान रखना है कि रुय्यक तथा श्रीविद्याचक्रवर्ती ने यह मत उद्भट का अनुवचन करने के लिए लिखा है, कम से कम इस मत को रुय्यक का समर्थन प्राप्त नहीं है।

औपम्यगर्भसमास और इस पर आधारित विशेषणसाम्य ही समासोक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है । जहाँ केवल औपम्यगर्भ समास ही सर्वस्व हो वहाँ तो एकदेश-विवर्तिनी उपमा ही होगी पर जहाँ समासोक्ति के अन्य तत्त्व भी, जो उसे उपमा से भिन्न अलंकार बनाते हैं, विद्यमान हैं तो वहाँ औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य पर आधारित समासोक्ति अलंकार मानना उचित है ।

यतोऽस्त्येव तावदौपम्यगर्भविशेषणहेतुकत्वं समासोक्तेः । किन्त्वेतदन्य-भेदसहचरितमेवास्या निमित्ततां भजते न पुनः केवलम् । तथात्वे हि विशेषणा-नामौपम्यगर्भत्वे एकदेशविवर्तिन्या उपमायाः प्राप्तिः । —वि० पृ० १११ ।

प्रतीतिभेद अलंकार भेद का नियामक है । मेरी दृष्टि में औपम्य-समास में व्यवहार-समारोप की प्रतीति साधारण सादृश्यप्रतीति से भिन्न है और वह अधिक चमत्कारिणी भी है । 'दन्तप्रभापुष्पचिता' इस पूरे पद्य से अप्रकृत व्यवहार की प्रकृत व्यवहार में प्रतीति अधिक बलवती है । रूपकसमास में आरोप-प्रतीति से अप्रकृत के व्यवहार की प्रतीति भी हो जाती है साथ ही आरोप में चमत्कार भी शेष रहता है । अतः रूपकगर्भ समास में रूपक तथा औपम्यगर्भ समास में समासोक्ति मानना अधिक समीचीन है जैसाकि उद्भट, रुद्रट, रुय्यक तथा जयरथ का मत प्रतीत होता है । कतिपय आचार्यों का कथन है कि संकर-समास पर आश्रित समासोक्ति को उपमा तथा रूपक इन दोनों अलंकारों के सन्देहसंकर का उदाहरण क्यों न मान लिया जाए । सन्देहसंकर का चमत्कार दो अलंकारों की सन्दिह्यमानता में है, पर जैसाकि अभी बताया गया है अप्रस्तुत की प्रतीति तथा विशेषणसाम्य के रहने पर उपमागर्भ समास में व्यवहार-समारोप की तथा रूपक-गर्भ समास में आरोप की उत्कटतया प्रतीति होती है अतः सन्दिह्यमानता का तत्त्व न रहने के नाते ऐसे स्थलों में उपमारूपक का सन्देह-संकर मानना तर्कहीन है । विमर्शिनी के अनुसार अलंकारसार के लेखक का भी यही मत प्रतीत होता है ।[1]

समासोक्ति के सभी उदाहरणों में प्रकृत के अतिरिक्त अप्रकृत की प्रतीति होती है । वह अप्रकृत अर्थ व्यंग्य होता है, न तो वाच्य होता है और न लक्ष्य । समासोक्ति का अप्रकृत व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का केवल उपस्कारक होता है । 'उपोढरागेण विलोलतारकम्...' समासोक्ति के उपर्युक्त उदाहरण में अप्रस्तुत

---

1. न चैवमादावुपमारूपकयोः सन्देहसंकरो न्याय्यः । तस्यालंकारसारकारा-दिभिर्निराकृतत्वात् । —वि० पृ० ११३ ।

नायक का व्यवहार स्वतः चमत्कार का कारण नहीं होता पर वह प्रस्तुत चन्द्र-व्यवहार पर आरोपित होकर उसे एक नवीन रूप प्रदान कर देता है। यह नवीन विच्छित्ति ही चमत्कार का कारण है। समासोक्ति में अप्रस्तुत व्यवहार की प्रतीयमानता प्रस्तुत व्यवहार में चमत्कार का आधान कर उस अप्रस्तुत व्यवहार को ही हमारे चमत्कार का केन्द्रबिन्दु बना देती है। अतः कवि की अभिव्यंजना विशिष्ट अभिधान की ओर होती है न कि अभिधान से अतिरिक्त प्रतीयमान के चमत्कार को उल्लसित करने की। अस्तु, प्रतीयमान की विच्छित्ति रहने पर भी समासोक्ति के उदाहरणों को ध्वनि के उदाहरण नहीं माना जा सकता। ध्वनि से उपस्कृत यह अलंकार काव्य का अनुपम शिल्प बन जाता है।

भेद

विशेषणसाम्य के आधार पर अभी तक समासोक्ति के पाँच भेदों की चर्चा की जा चुकी है जिनका तालिकारूप इस प्रकार होगा—

विशेषणसाम्य-निबन्धना समासोक्ति

- श्लिष्टविशेषण १
- अश्लिष्टविशेषण
  - धर्मसमारोप २
  - कार्यसमारोप ३
- औपम्यगर्भविशेषण
  - उपमागर्भसमास ४
  - या संकर-समास से ५

रुय्यक के अनुसार समासोक्ति के तीन मूल भेद हैं—

(क) शुद्धकार्यसमारोपा समासोक्ति,

(ख) विशेषणसाम्यमूला समासोक्ति, तथा

(ग) कार्यविशेषणसाम्यमूला समासोक्ति।

प्रथम का उदाहरण '**विलिखति कुचावुच्चैः**' इत्यादि पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है। वहाँ मैंने यह संकेत किया था कि किस प्रकार कार्य तथा धर्म सभी को विशेषण के व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। विशेषण शब्द प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओं के धर्मों का सूचक है। ये धर्म कार्य तथा गुण आदि के रूप में होते हैं अतः कार्य शब्द का विशेषण शब्द से पृथक् निर्देश अनावश्यक है। अधिक से अधिक हम इन दोनों में यही भेद कर सकते है कि कार्य-समारोप में विशेषणसाम्य उपचरित होता है और वैसे अनुपचरित। रुय्यक ने भी इसका

एक स्थल पर निर्देश किया है।[1] शोभाकर शुद्धकार्य और विशेषण में यह भेद मानने को तैयार नहीं है।[2] वे शुद्ध कार्य को भी तत्त्वतः विशेषण ही मानते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार 'विलिखति कुचावुच्चैः' में शुद्धकार्यसमारोपा समासोक्ति ही मानना चाहिए। वस्तुतः विशेषण शब्द का व्यापक अर्थ— **'स्वरूपमात्रेणावगतस्य वस्तुनो यत्सम्बन्धबलेन वैशिष्ट्यमवगम्यते तद्विशेषणम्'** ही लेना चाहिए; इसीलिए मैं शोभाकर से भी सहमत हूँ। विश्वनाथ ने कार्य और विशेषण के अतिरिक्त लिंगसाम्य से समासोक्ति मानी है। यह भी अनुचित है क्योंकि स्वयं लिंग अप्रस्तुत वस्तु का व्यंजक नहीं होता। केवल निशा कहने से नायिका की प्रतीति नहीं होती और न चन्द्र कहने से नायक की। उनकी प्रतीति कराने के लिए विशेषणसाम्य ही प्रधान आधार है अतः विश्वनाथ की समासोक्ति-परिभाषा सदोष है।[3]

द्वितीय भेद (विशेषणसाम्य-निबन्धना समासोक्ति) के पाँच अवान्तर भेदों की तालिका ऊपर दी गई है। अन्तिम भेद कार्य-विशेषणसाम्यमूला समासोक्ति को लेकर समासोक्ति के सात भेद किए गए हैं। रुय्यक ने उन भेदों के कहीं लौकिक वस्तु पर लौकिक वस्तु का, कहीं शास्त्रीय वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु का, कहीं लौकिक वस्तु पर शास्त्रीय का तथा कहीं शास्त्रीय वस्तु पर लौकिक वस्तु के व्यवहार-समारोप के आधार पर अन्य अवान्तर भेद भी किए हैं। लौकिक वस्तु जाति, गुण आदि, तथा स्थावर, जंगम और भावाभाव के रूप में तथा शास्त्र के आगम, तर्क, आयुर्वेद, ज्योतिःशास्त्र, नाटचशास्त्र, साहित्यशास्त्र (रुय्यक ने इन्हें भरतादिशास्त्र की संज्ञा दी है) आदि के रूप में अनेक भेद हैं और इस प्रकार समासोक्ति के अनेक भेद सम्भव हैं।

तदेवं बहुप्रकारा समासोक्तिः। —अ० स० पृ० ११३।

तत्रापि लोकस्य स्थावरजंगमात्मनोऽनन्तत्वात् शास्त्राणां चेत्यानन्त्यमस्याः। —अ० र० पृ० ७१।

इन भेदों के अतिरिक्त, समासोक्ति अर्थान्तरन्यास के अनुसार कहीं समर्थ्य वाक्य में और कहीं समर्थक वाक्य में हो सकती है। कभी वह उत्प्रेक्षा से

---

१. देखिए—अ० स० पृ० ११६।

२. देखिए—अ० र० पृ० ७२।

३. तथा देखिए—अलंकारकौस्तुभ, 'व्यंजकं हि तत्र...तदापत्तेः'—पृ० २५६।

उत्थापित होती है। वस्तुत: इन अवान्तर भेदों के आधार पर गणना करना भी कठिन है—

एवमियं समासोक्तिरनन्तप्रपंचेत्यनया दिशा स्वयमुत्प्रेक्ष्या।

—अ० स० पृ० १२०।

इन सभी भेदों का निर्देश चिरन्तन आचार्यों में नहीं मिलता। मम्मट ने केवल एक ही उदाहरण दिया है, वह श्लिष्टविशेषणा समासोक्ति का है। शोभाकर, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि आचार्यों ने रुय्यक की भेदव्यवस्था का अनुसरण कर, शास्त्रीय वस्तु पर शास्त्रीय या लौकिक वस्तु के व्यवहार-समारोप आदि भेदों का सोदाहरण विवेचन किया है। **'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा'** जैसे उदाहरणों में जो सहज काव्य-सौन्दर्य है वह आयुर्वेद, मीमांसा, तर्कशास्त्र जैसे शास्त्रों के विषय का समारोप करने में नहीं है। शास्त्रीय वस्तु आदि के व्यवहार-समारोप में पाठक को व्याकरण और तर्क के नियम और न्याय ही समझने में अपनी सारी बुद्धि खपा देनी पड़ेगी। कवि को भी शब्द खोजने का व्यायाम करना पड़ेगा परिणामत: यह स्वभाविक है कि अलंकार में सहज बोधशीलता न रहेगी। अत: मेरी दृष्टि में तो इन भेदों को मान्यता देना उचित नहीं है। पर संस्कृत के अलंकारशास्त्री तो कवि को कवि ही नहीं अपितु पण्डित भी देखना चाहते हैं। वे कविता-कला में सब कुछ पाना चाहते हैं। तभी तो प्रथम साहित्यशास्त्री कहता है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥

—भामहालंकार, ५।४।

संस्कृत का और उसके पाठक का बोझा सचमुच बहुत भारी है!

उपमामूलक अलंकार : अर्थान्तरन्यास[1]

इस अलंकार का प्रारम्भ भी भामह से प्राप्त होता है; उन्होंने इसका निम्नलिखित लक्षण दिया है—

उपन्यसनमर्थस्य यदर्थस्योदिताद्दते ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥

—भामहालंकार, २।७१ ।

यौगिकार्थ पर आधारित भामह के इस लक्षण में यह संकेतित नहीं है कि इस अलंकार के दो अर्थों में परस्पर सामान्य-विशेषभाव होता है । हाँ, इसमें यह अवश्य प्रतिपादित है कि अर्थान्तर प्रथम अर्थ से भिन्न होता है (उदिताद्दते) साथ ही इससे सम्बद्ध या अनुगत होता है । यह अनुगम दो अर्थों में सादृश्य के कारण सम्भव है तथा दोनों में किसी एक सम्बन्ध का भी परिचायक है जो सामान्यविशेषरूप भी हो सकता है । दण्डी ने इस सम्बध को साध्य-साधन-भावरूप माना है अतः कमसे कम उन्होंने इस बात के लिए अधिक सन्देह नहीं रहने दिया है कि वे अर्थान्तरन्यास के सम्बन्ध को अनुमान की तरह साध्य-साधनरूप मानते थे, सम्भवतः सामान्यविशेषरूप नहीं । धूम और बह्नि का

---

१. समासोक्ति के बाद रुय्यक की सादृश्यमूलक सूची में परिकर, श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति तथा आक्षेप अलंकार भी आते हैं । इन अलंकारों की चर्चा इसी पुस्तक में अन्यत्र (पृ० ११५-१८ आदि में) की चा चुकी है अतः विस्तार से वचने के लिए उपर्युक्त अलंकारों के सम्बन्ध में पृथग् रूप से विशिष्ट मीमांसा हम नहीं दे रहे हैं । परिकर, श्लेष के सभी रूप और आक्षेप को उपमानुप्राणित मानना भी कदाचित् उचित नहीं है । अर्थान्तरन्यास के सम्बन्ध में भी विवाद रहा है कि इसे सादृश्यमूलक माना जाए या नहीं, कार्यकारणभाव पर आश्रित भेद को उपमामूलक मानना कदाचित् सम्भव नहीं है । इस पूरे संदर्भ के लिए तृतीय अध्याय द्रष्टव्य है । हम यहाँ उस विवाद को न उठाकर इस अलंकार की मीमांसा प्रस्तुत कर रहे हैं । अर्थान्तरन्यास की उपमामूलकता के लिए देखिए—उपमा कालिदासस्य, पृ० ६५ ।

सम्बन्ध साधन और साध्य का अवश्य है पर सामान्यविशेषभाव का नहीं। हाँ, उनके लक्षण[1] में आए साधन शब्द का यदि 'समर्थक' अर्थ करें तो दूसरी बात है। मल्लिनाथ ने मेघदूत की टीका में दण्डी के ही लक्षण का उल्लेख किया है और वे उससे समर्थ्य-समर्थकभाव का ही अर्थ निकालते प्रतीत होते हैं। दण्डी ने इसके आठ भेद किए थे जो परवर्ती आलंकारिक-परम्परा को स्वीकार न हो सके।[2]

उद्भट ही ऐसे सर्वप्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने स्पष्टतः समर्थ्य-समर्थक-भाव के आधार पर अर्थान्तरन्यास का लक्षण और उसका अप्रस्तुतप्रशंसा तथा दृष्टान्त से भेद प्रस्तुत किया है—

समर्थकस्य पूर्वं यद्वचोऽन्यस्य च पृष्ठतः।
विपर्ययेण वा यत्स्याद्धिशब्दोक्त्याऽन्यथापि वा॥
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः प्रकृतार्थसमर्थनात्।
अप्रस्तुतप्रशंसाया दृष्टान्ताच्च पृथक् स्थितिः॥

—का० अ० सं० २।६-७।

आगे चलकर वामन ने अलंकार-सूत्र (४।१।२१) की वृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया कि उक्त अर्थ की सिद्धि के लिए ही दूसरी वस्तु या वाक्यार्थ का उपन्यास होता है; हेतु का उपन्यास इस अलंकार का घटक नहीं है।[3] रुद्रट ने सर्वप्रथम यह बताया कि धर्मी अर्थ-विशेष अथवा सामान्य का अभिधान कर उसकी सिद्धि के लिए दूसरे सधर्मी का उपन्यास अर्थान्तरन्यास है।[4] इन्होंने इस अलंकार की उपमामूलकता का तथा सामान्यविशेषभाव सम्बन्ध का निर्देश स्पष्टतः सर्वप्रथम किया है। उद्भट ने अर्थान्तर को समर्थक बताया था तो

---

१. ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः॥ —काव्यादर्श, २।१६९।

२. दण्डी ने इन भेदों का उल्लेख इस प्रकार किया है—
विश्वव्यापी विशेषस्थः श्लेषाविद्धो विरोधवान्।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तविपर्ययः॥ —वहीं, २।१७०।

३. उक्तसिद्ध्यै उक्तस्यार्थस्य सिद्ध्यर्थे वस्तुनो वाक्यार्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः। वस्तुग्रहणादर्थस्य हेतोर्न्यसनं नार्थान्तरन्यासः।
—का० अ० सू० ४।३।२१ पर वृत्ति।

४. धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै।
यत्सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः॥—काव्यालंकार, ८।७९।

कुन्तक ने उसी के लिए 'समर्पक' शब्द का प्रयोग किया तथा दो अर्थों में इस सम्बन्ध का आधार मुख्य और तात्पर्य का साम्य माना।[1] इनके अनुसार प्रथम अर्थ मुख्य होता है और अर्थान्तर उसका तात्पर्यार्थ होता है। प्रथम 'समर्थ्य' (भामह-दण्डी के अनुसार 'साध्य', उद्भट के अनुसार 'समर्थ्य' और रुद्रट के अनुसार धर्मी) तो दूसरा 'समर्पक' या दूसरे आचार्यों के शब्दों में कहें तो साधक, समर्थक या सधर्मी। सरस्वतीकण्ठाभरण में भोज ने भी दो तथ्य स्पष्टतः दिए हैं—एक तो यह कि अर्थान्तर द्वारा समर्थन साधर्म्य की विधा से हो सकता है और वैधर्म्य की विधा से भी और दूसरा यह कि समर्थक वाक्य का पहले या बाद में उपन्यास हो सकता है।[2]

अपने लक्षण[3] में मम्मट ने एक अर्थ सामान्य होता है और दूसरा विशेष तथा साधर्म्य एवं वैधर्म्य से समर्थन होता है, यह स्पष्टतः लिखकर अर्थान्तरन्यास में सामान्यविशेषभाव तथा समर्थ्य-समर्थकभाव इन दोनों की ही चर्चा की है। अस्तु, यह है रुय्यक से पूर्व तक इस अलंकार के स्वरूप का इतिहास।

रुय्यक ने न केवल सामान्यविशेषभाव अपितु कार्यकारणभाव होने पर भी प्रकृत के समर्थन में अर्थान्तरन्यास माना है—

सामान्यविशेषकार्यकरणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः।
--अ० स० पृ० १३९।

अप्रस्तुतप्रशंसा की भाँति, अर्थान्तरन्यास को रुय्यक ने कार्यकारणभाव रहने पर भी माना है। उनके टीकाकार जयरथ इस मान्यता से सहमत नहीं हैं। जहाँ दो अर्थों में कार्यकारणभाव हैं वहाँ काव्यलिंग[4] अलंकार ही मानना

---

१. वाक्यार्थान्तरविन्यासो मुख्यतात्पर्यसाम्यतः।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो यः समर्पकतयाहितः॥ —व० जी० पृ० २१३।

२. स उपन्यस्तवस्तूनां साधर्म्येण च कथ्यते।
वैधर्म्येण च विद्वद्भिर्वैपरीत्येन कुत्रचित्॥ —सरस्वती० ४।६८।

३. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥ —का० प्र० १०।२३।

४. रुय्यक के अनुसार हेतु का वाक्यार्थ या पदार्थ होना काव्यलिंग है। जहाँ हेतु का निबन्धन वाक्यार्थ के रूप में हो वहाँ वाक्यार्थ को ही हेतुरूप होना चाहिए। देखिए—अ० स० पृ० १८१।

ठीक है अतः कार्यकारणभाव पर आधारित दो भेदों को अर्थान्तरन्यास का नहीं मानना चाहिए। यह जयरथ का मत है।[1] इसी का अनुगमन पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है। मम्मट ने भी अर्थान्तरन्यास को सामान्यविशेषभाव तक ही सीमित रखा था। रुय्यक ने स्वयं अर्थान्तरन्यास और काव्यलिंग का भेद स्पष्ट किया है। इनके अनुसार जहाँ हेतु का उपन्यास हेतुरूप में ही वाक्यार्थ में होता है अर्थात् जहाँ उपनिबद्ध अर्थ हेतु नहीं बनता है वहाँ काव्यलिंग होता है अन्यथा अर्थान्तरन्यास।[2] श्रीविद्याचक्रवर्ती के शब्दों में अर्थान्तरन्यास में समर्थन अर्थतः उपलब्ध होता है किन्तु काव्यलिंग में यह समर्थन शब्दतः प्राप्त होता है—

अर्थान्तरन्यासे हि अर्थात् प्रकृतसमर्थनम्। इह तु शब्दत इति विभागः।

—संजी० पृ० १६६।

इन दो अलंकारों तथा अनुमान का एक दूसरे से भेद हम दो भिन्न प्रकार की प्रतीतियों के विश्लेषण से भी कर सकते हैं। एक प्रतीति प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव की होती है और दूसरी समर्थ्य-समर्थकभाव की। जहाँ अप्रतीत (अननुभूत और अज्ञात) अर्थ का दूसरे अर्थ द्वारा प्रत्यायन (ज्ञापन) होता है वहाँ एक अर्थ प्रत्याय्य (प्रतीति कराने योग्य) होता है और दूसरा अर्थ प्रत्यायक या ज्ञापक होता है। इन दो अर्थों के इस सम्बन्ध को प्रत्याय्य-प्रत्यायक-भाव कहा जाता है। इसके विपरीत जहाँ अर्थ पूर्वतः प्रतीत होता है और उसका प्रत्यायन दूसरा अर्थ कराता है तो उनमें एक अर्थ समर्थ्य और दूसरा समर्थक होता है अतः इस स्थिति में समर्थ्य-समर्थक-भाव होता है। जहाँ भी अप्रतीत का प्रत्यायन होगा वहाँ सदा अनुमान अलंकार होगा। समर्थ्य-समर्थक-भाव की स्थिति में कहीं तो कारणरूप या कार्यरूप पदार्थ या वाक्यार्थ परस्पर सापेक्ष होंगे अथवा तटस्थ। हेतु के सापेक्ष और हेतुरूप में ही उपन्यास रहने पर काव्यलिंग होगा और तटस्थ वाक्यार्थ के हेतु बन जाने की स्थिति में

---

१. कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिंगत्वं ग्रन्थकृदेव वक्ष्यतीति सामान्यविशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम्॥

—वि० पृ० १३६।

२. वाक्यार्थगत्या च निबध्यमानो हेतुत्वेनैवोपनिबद्धव्यः, नोपनिबद्धस्य हेतुत्वम्। अन्यथार्थान्तरन्यासान्नास्य भेदः स्यात्। —अ० स० पृ० १८१।

अर्थान्तरन्यास।[1]

कार्यकारणभाव पर आश्रित अर्थान्तरन्यास तथा काव्यलिंग के भेद का यह विवेचन दोनों के एक-एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। अर्थान्तरन्यास का उदाहरण है—

पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां,
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां,
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्॥
—अ० स० पृ० १४०।

[अयि भूमि! स्थिर रहो। शेषनाग! तुम इसे सम्भाले रहो। कूर्मराज! तुम इन दोनों को सम्भाल लो। दिग्गजो! इन तीनों को सम्भालने का तुम सब मनसूबा बाँध लो। भगवान् राम शिव का धनुष चढ़ाने जा रहे हैं] यहाँ अन्तिम वाक्य—'भगवान् राम शिव-धनुष चढ़ाने जाने जा रहे हैं'—प्रथम तीन अर्थों का कारण बन गया है, यद्यपि कारण के रूप में उसका उपनिबन्धन नहीं है। यह कारण समर्थक है और जिन कार्यों का श्लोक के प्रथम तीन चरणों में वर्णन हुआ है वे समर्थ्य हैं। और काव्यलिंग का उदाहरण होगा—

यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरे
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता—
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥
—अ० स० पृ० १८२।

---

१. देखिए—अ० स० पृ० १८६-८७। इस बात का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि उद्भट आदि प्राचीन आचार्य काव्यलिंग का वही स्वरूप मानते थे जो रुय्यक ने कार्यकारणभाव पर आश्रित अर्थान्तरन्यास का माना है। यह बात उद्भट के काव्यलिंग के निम्नांकित लक्षण से स्पष्ट हो जाएगी—

श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिंगं तदुच्यते॥

उद्भट के अनुसार काव्यलिंग में अर्थ का हेतुरूप में उपन्यास नहीं होता अपितु उपन्यस्त अर्थ ही हेतुरूपता को प्राप्त कर लेता है, जहाँ हेतुरूप में ही शाब्द उपन्यास होता है वहाँ वे कोई भी अलंकार न मानेंगे।

[यह जो तुम्हारे नेत्रों-सी कान्तिवाला नीलकमल है वह जल में डूबा हुआ है। तुम्हारी मुख-कान्ति का अनुकरण करने वाले चन्द्र को प्रेयसि ! बादलों ने छिपा लिया है। और वे राजहंस भी जो तुम्हारी गति का अनुसरण करते थे (वर्षा के कारण मानसरोवर की ओर) चले गए। तुम से सदृश के साथ विनोद भी विधाता को नहीं भाता है]

इस पद्य के प्रथम तीन चरणों का अर्थ चतुर्थ चरण के अर्थ के लिए हेतुरूप में उपन्यस्त है। नीलकमल का जल में डूबना, चन्द्र का छिपना और राजहंसों का चला जाना अन्तिम वाक्यार्थ के हेतुरूप हैं—अन्तिम वाक्यार्थ की उपपत्ति प्रथम तीन वाक्यार्थ से है। सहृय को यहाँ यह प्रतीति होती है कि चूंकि नील-कमल आदि छुप गए हैं अतः लगता है कि विधाता को यह स्वीकार नहीं है कि विरही अपना मन प्रेयसी के सादृश्य को देखकर भी बहला सके। स्पष्ट है कि प्रथम तीन वाक्यार्थ अन्तिम के प्रति सापेक्ष हैं।

अस्तु, जहाँ दो अर्थों में सामान्यविशेषभाव या कार्यकारणभाव होता है, जो वाच्य होता है और जिसके द्वारा प्रकृत का समर्थन होता है अर्थात् ये सम्बन्ध जहाँ अन्ततः समर्थ्य-समर्थकभाव में पर्यवसित होते हैं वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है। समर्थन सदा प्रकृत का होता है और समर्थक सदा अप्रकृत होता है। इनमें से कोई भी सामान्य या विशेष अथवा कारण या कार्य हो सकता है। रसगंगाधर के अनुसार यह भी सम्भव है कि समर्थ्य तथा समर्थक दोनों ही प्रकृत हों। निष्कर्ष यह कि समर्थ्य-समर्थक-भाव ही इस अलंकार का जीवित है। यह भाव दो अर्थों में हो सकता है जो या तो सामान्यविशेषरूप होंगे या कार्य-कारणरूप। सामान्य विशेष के विना और विशेष सामान्य के विना सम्भव नहीं है अतः जिन अर्थों में सामान्य-विशेषभाव होता है वहाँ समर्थ्य-समर्थकभाव वास्तविक, स्वाभाविक या युक्तियुक्त है। पर ऐसी दो वस्तुओं में जो या तो वस्तु-प्रतिवस्तुरूप हैं या बिम्बप्रतिबिम्बरूप एक का समर्थ्य और दूसरे का समर्थक होना निश्चित और निर्णीत नहीं है। अतः प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त में समर्थन का अंश रहने पर भी वह सम्भावनात्मक ही होता है, निश्चित या वास्तविक नहीं। पुनश्च अर्थान्तरन्यास में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थ (चाहें वे सामान्य-विशेष हों या कार्यकारण) वाच्य होते हैं पर अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत ही एकमात्र वाच्य होता है, प्रस्तुत सदा गम्य रहता है। दृष्टान्त में दोनों अर्थ वाच्य तो अवश्य होते हैं पर वे कभी कार्यकारणरूप या सामान्य-विशेष न होकर सदा सरूप होते हैं।

शोभाकर ने सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन (दार्ढ्योपादान) में ही अर्थान्तरन्यास अलंकार माना है। कार्यकारण के उपादान होने पर वे हेतु अलंकार मानते हैं और जहाँ विशेष सामान्य की प्रतीति को विशद बनाता है वहाँ वे उदाहरण अलंकार मानते हैं।[1]

भेद

रुय्यक ने अर्थान्तरन्यास के आठ भेद माने हैं---(१) सामान्य द्वारा विशेष का समर्थन, (२) विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन, (३) कारण का कार्य द्वारा समर्थन, (४) कार्य का कारण द्वारा समर्थन। ये चार भेद साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर आठ प्रकार के हो जाते हैं। 'हि' शब्द के प्रयोग या अप्रयोग तथा समर्थक वाक्य का समर्थ्य वाक्य से पहिले या बाद में उपन्यास के आधार पर उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने जो भेद बताए थे उनकी गणना रुय्यक ने उचित नहीं समझी है क्योंकि उनके अनुसार इस प्रकार के भेदों में कोई अधिक चारुता या वैचित्र्य नहीं होता है।[2] शोभाकर अर्थान्तरन्यास को चार ही प्रकार का मानते हैं। उनके अनुसार विशेष का सामान्य द्वारा साधर्म्य और वैधर्म्य से समर्थन दो भेद हैं और 'हि' शब्द के उपादान अथवा अनुपादान से ये भेद चार हो जाते हैं। 'हि' आदि शब्दों का उपादान होने पर अर्थान्तरन्यास शाब्द अन्यथा आर्थ होता है। यह है शोभाकर का मत जो परवर्ती आचार्यों को मान्य न हो सका। कार्यकारणभाव-मूलक भेदों को तो कुछ आचार्यों, जैसेकि पण्डितराज जगन्नाथ, ने नहीं स्वीकार किया पर वैसे रुय्यक का ही विश्वनाथ आदि ने विशेषतः अनुसरण किया है।

मेघदूत के अर्थान्तरन्यास[3]

महाकवि कालिदास का मेघदूत संस्कृत-साहित्य में बेजोड़ है। उसका उपमान न पहले था, और न बाद में पाया जाता है। हाँ, उसके अनुकार अवश्य हैं—पवनदूत, हंसदूत, आदि। पश्चिम में भी उसके अनुकार हुए हैं

---

१. देखिए—अ० र० पृ० १२६-३०।

२. देखिए—अ० स० पृ० १३६, १४१।

३. कालिदास द्वारा अन्य काव्यों में अर्थान्तरन्यास के कुछेक उदाहरणों के लिए देखिए—उपमा कालिदासस्य, पृ० ६६-६८।

किन्तु उसके समान कोई नहीं है। कल्पना की सुकुमारता और नवीनता में, प्रकृति, पुरुष और प्रणय के त्रिवेणीसंगम की भावुक वर्णना में यह गीतकाव्य, संस्कृत का प्रथम और अनुपम भावोच्छ्वास, आजतक नवीन बना हुआ है। वस्तुतः कविहृदय की भावभूमि का रागात्मक स्पन्दन होने के नाते यह जितना काल्पनिक है उतना ही वास्तविक भी है। कल्पना और अनुभूतिगत तीव्रता की वास्तविकता का क्षितिज इसमें इतना पास है कि कल्पना और यथार्थ का अन्तर ही नहीं मालूम हो पाता। इस कार्य के लिए कालिदास ने जिस शिल्प-विधान का आश्रय लिया है वह एक अर्थान्तरन्यास अलंकार है। उपमा के सौष्ठव का धनी महाकवि जिसके प्रत्येक पद में मधुपाक है, और जिसे अपनी अलंकृत अभिव्यक्ति के लिए उपमा का छोटा सा फलक पर्याप्त उपकरण प्रतीत हुआ था, और है भी, वह अर्थान्तरन्यास के लिए आवश्यक एक विशाल फलक का सहारा ले, यह स्वतः कम आश्चर्यजनक नहीं है।

मेघदूत में लगभग एकसौ बीस श्लोक हैं मन्दाक्रान्ता के विशाल वितान में। उसमें प्रायः इक्कीस बार अर्थान्तरन्यास का प्रयोग है जिनमें से ६ बार दो चरणों में तथा शेष पन्द्रह बार एक-एक पूरे चरण में। इसका अर्थ है कि अर्थान्तरन्यास के माध्यम से अभिव्यक्ति के लिए शब्दशिल्पी कालिदास ने प्रायः २७ चरणों का प्रयोग किया है—एक ऐसे छोटे से काव्य (संस्कृत अलंकारशास्त्र की दृष्टि से इसे खण्डकाव्य कहेंगे) में जिसमें केवल १२० श्लोक हैं।

अर्थान्तरन्यास अलंकार समर्थन का समर्थ माध्यम है यह इसके स्वरूप-विश्लेषण से स्पष्ट किया जा चुका है। किसी वस्तु के समर्थन में समर्थक का व्यक्तित्व प्रतिफलित होता है। उसकी धारणा, मान्यता और चिन्तना व्यक्तित्व की विभा लेकर अवतरित होती है। इस बात का महत्त्व तब और भी बढ़ जाता है जबकि कालिदास गीति-काव्य में (जिसे कवि के व्यक्तित्व तथा उसके तीव्र मानसिक उद्वेग का काव्य कहा जाता है) इसका प्रयोग करते हैं। और वह भी बहुत बार। अर्थान्तरन्यास का किन स्थितियों में कवि ने मेघदूत में प्रयोग किया है और उससे कहाँ तक हम कवि-व्यक्तित्व के निकट पहुंच पाते हैं, यह जानने का सबसे सुन्दर माध्यम अर्थान्तरन्यास के प्रयोगों का विश्लेषण होगा।

विरही यक्ष (यह यक्ष भी **'कश्चित्'** है और साथ ही **'अस्तंगमितमहिमा'** अतः यक्ष होने पर भी वह किसी भी साधारण विरही से अधिक महिमाशाली नहीं

है) आषाढ़ के प्रथम दिन मेघ को देखकर उन्मना हो उठता है ; मेघ के आलोक में तो सुखी भी उन्मना हो जाता है प्रेयसी से दूर रहने पर उसकी क्या हालत होती होगी[1] जो विषयास्वाद से परिचित है[2] पर पराधीन है, विवश है दूर रहने के लिए[3]। विषयवस्तु का यह उपन्यास कालिदास ने अर्थान्तरन्यास के माध्यम से किया है। इसमें राजराज कुबेर के अनुचर यक्ष के अन्तर्वाष्प होकर ध्यान करने (विशेष-प्रकृत) का समर्थन अवश्य है पर एक ऐसे सामान्यरूप तथा अप्रकृत से जिसे केवल सामान्यरूप तथा अप्रकृत कहना कठिन होगा, क्योंकि पूरा का पूरा अर्थान्तर प्रधान विषय का भी निर्देश करता है—मेघ की उपस्थिति, प्रियतमा से विछोह आदि का प्रकृत वर्णन से भी पूर्णतः सम्बन्ध है।

मेघ को दूत बनाना कितना विचित्र है, कितनी विचित्र कल्पना है; कितनी अवैज्ञानिक ? पर हर कामी इस प्रकार के अपराध करता है। दार्शनिक की भाँति या ब्रह्मवादी की भाँति, वह चेतन और अचेतन में भेद ही नहीं कर पाता। अनुभूति की इसी तीव्रता ने मेघ को दूत बना पाया था—

कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु। —१।५।

अर्थान्तरन्यास के इसी प्रयोग में मेघ को दूत बनाने की कल्पना का समस्त स्वारस्य छिपा पड़ा है। अर्थात् मेघ को दूत बनाने का प्रारम्भ और उसका इस रूप में काव्यत्व इसी अर्थान्तरन्यास के प्रयोग में है। यहीं से काव्य का वास्तविक प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व पात्र का परिचय भर था। और इस काव्य का वास्तविक अन्त भी अर्थान्तरन्यास में ही है। जब यक्ष अपनी सब सुना चुका, मेघ ने सब कुछ सुन ली अब यदि मेघ उत्तर भी दे दें, उसमें वाक्-शक्ति भी कवि भर दे तो फिर असम्भव और सम्भव का भेद ही क्या होगा ? यह ठीक है कि कामी की दृष्टि में मेघ चेतन है पर क्या कवि के लिए भी यह उचित होगा कि उससे उत्तर में कुछ कहला दे। क्या किया जाए ? साधारण कवि शायद कुछ उत्तर दिलवा भी देता। हुआ भी यही,

---

१. मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे। —१।३।

२. ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः। —१।४४।

३. कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां,
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः।—१।८।

क्योंकि प्रक्षिप्त श्लोक इस बात के प्रमाण हैं कि एक साधारण कवि बहक गया और उसने मेघ को वाणी दे दी—'तद्गेहिन्याः सकलमवदत् कामरूपी पयोदः'। पर कालिदास ने उस भोंडी अस्वाभाविकता को अर्थान्तरन्यास से बड़ी चातुरी से बचाया है। केवल इतना भर कहा—

निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥—२।५४

सज्जन का वास्तविक उत्तर तो कार्य करके दिखाना है। सज्जनों की इसी उदारता, उत्तम प्रकृति तथा उदात्तता, मित्र और सुहृत की उपकारपरायणता पर ही यक्ष को महान् विश्वास है, मेघ के ये ही सहज आश्रय हैं, विपद में सहारे के लिए और भविष्य में आशा के लिए कवि के भी ये ही अवलम्ब हैं क्योंकि उसे छोटों या ओछों से तो कुछ माँगना नहीं है। इन्हीं भावों को व्यक्त करने के लिये कवि ने अनेक बार अर्थान्तरन्यास का आश्रय लिया हैं।[1] कौन जाने मेघदूत लिखते समय कवि की विपन्नावस्था रही हो जो सदा नहीं रहती है,[2] जिसमें उसे मित्र का आश्रय लेना पड़ा हो और भविष्य में खोए संरक्षण को पुनः प्राप्त करने की बलवती आशा और विश्वास हो जिसे व्यक्त करने के लिए अर्थान्तरन्यासों का कवि ने माध्यम अपनाया है। यह तो निश्चित है कि मेघदूत का कवि निराश भले ही न हो पर रिक्त अवश्य था[3] उसके प्रयत्न को एकबार ठोकर मिली थी[4] और भारत के इस कमल (कवि) की वह सहज

---

१. (क) याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा। —१।६।
(ख) न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः।—१।१७।
(ग) सद्भावार्द्रः फलति नचिरेणोपकारो महत्सु। —१।१९ (अ)।
सम्भवतः प्रक्षिप्त।
(घ) मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः।—१।४१।
(ङ) आपन्नार्तिप्रशमनफला सम्पदो ह्युत्तमानाम्। —१।५६।

२. कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥ —२।४९।

३. रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय। —१।२०।

४. के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः। —१।५७।

शोभा नहीं रह गई थी, जो सूर्य के हट जाने पर स्वतः नष्ट हो जाती है।[1]

मेघदूत के कवि ने अर्थान्तरन्यास का प्रयोग नारी के प्रेमी हृदय की सुकुमारता, वियोग में उसके हृदय की विह्वलता, विलास से प्रेम को प्रदर्शित करने की रीति तथा वियोग में मन बहलाने की विधियों को बताने के लिए भी किया है। इस संदर्भ के तीन अर्थान्तरन्यास इस प्रकार हैं—

(१) आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि। —१।६।

(२) स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु। —१।२६।

(३) प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः। —२।२७।

अन्तिम अर्थान्तरन्यास (२।२७) की यह विशेषता है कि वह तीन श्लोकों के लिए (जिसे संस्कृत में विशेषक कहते हैं—त्रिभिः श्लोकैः विशेषकम्) आया है। इस अलंकार के इस प्रकार के प्रयोग के सम्बन्ध में सभी साहित्य-शास्त्री मौन हैं।

प्रेम का मार्ग अनोखा है। सच्चे प्रेम के लिए कालिदास के अनुसार शरीर-सम्बन्ध का महत्त्व नहीं है। इसलिए इस कवि ने प्रेम का परिपाक तपस्या में माना है। कुमारसम्भव की पार्वती को अपर्णा बनने के बाद शंकर की प्राप्ति हुई, शकुन्तला को तपोवन के बाद पुनः मारीच आश्रम में जाकर 'नियमक्षाममुखी, धृतैकवेणिः' का स्वरूप धारण करना पड़ा क्योंकि उसने प्रेम की तन्मयता में अतिथि-कर्तव्य को भुला दिया था। यक्ष भी अपना कर्तव्य भूल बैठा था, उसे भी शाप मिला, विरह हुआ। पर विरह से प्रेम नष्ट नहीं होता अपितु सहज स्नेह या आकर्षण प्रेमराशि बन जाता है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति। —२।५२।

इस प्रकार कर्तव्य से मर्यादित तपःपूत प्रेम का यह स्वरूप कवि ने अर्थान्तरन्यास के माध्यम से स्पष्ट किया है जिसमें पूर्वपक्ष भी है और सिद्धान्त भी।

---

१. सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्। —२।२।
मल्लिनाथ अथवा दूसरे टीकाकारों ने इसमें अर्थान्तरन्यास का निर्देश नहीं किया है, किन्तु मेरी सम्मति में यह उसका उदाहरण है।

यह हम प्रारम्भ में ही लिख चुके हैं कि किस प्रकार कवि ने मेघ को दूत बनाने का उपन्यास तथा विषय-वस्तु का उपसंहार अर्थान्तरन्यास के माध्यम से किया है। अब मुझे केवल इतना भर कहना है कि न केवल विषय-वस्तु के उपन्यास और उपसंहार में कवि ने इस अलंकार का सहारा लिया है अपितु सन्देशकाव्य के उद्देश्य तथा सन्देशकथन की विधि का भी ग्रथन इसी विधा में किया है—

कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात् किञ्चिदूनः।—२।४०।
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव।—२।४१।

मित्र का लाया हुआ प्रियतम का सन्देश संगम के समान होता है और वियोगी से पूछना केवल इतना भर है कि कुशल तो है। सम्भव है मेघदूत को पढ़कर सहृदयों को सन्देशकाव्य के इसी उद्देश्य (२।४०) की अनुभूति होती हो। अस्तु, मेघदूत के अर्थान्तरन्यास में इस काव्य का समग्र स्वारस्य और विशेष प्रयोजन छिपा है। निश्चित ही अर्थान्तरन्यास के इसी अनुपम शिल्प-विधान को दृष्टि में रख कर किसी संस्कृत कवि ने कहा है कि कालिदास में उपमा से कहीं अधिक सुन्दर अर्थान्तरन्यास का प्रयोग है—

उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मतं मम।
अर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते॥

अनुबन्ध

श्रीविद्याचक्रवर्तिप्रणीता

अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका

—संस्करण एवं अनुवाद—

अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका

विश्वं[1] प्रकाशयति या जातिगुणाद्यात्मकैर्निजैः प्रसरैः ।
संस्कारगुणसमृद्धा वाणी मामवतु सरलसन्दर्भा ॥१॥

विभागाधिगतं[2] त्रित्वं त्रिशब्देन समाप्यते ।
त्रिप्रकारत्ववचन इतिशब्दस्ततो मतः ॥२॥

पुनरुक्तवदाभासो (? सं) यत्रेत्येवं हि संस्क्रिया ।
अलंकार्यैकनिघ्नत्वव्यक्तये समुपाश्रिता ॥३॥

प्रकृष्टो वर्णविन्यासो रसाद्यनुगतस्तु यः ।
सोऽनुप्रासः स च च्छेकवृत्त्युपाधिवशाद् द्विधा ॥४॥

समुदायद्वयं यत्र विविधं साम्यमृच्छति ।
सच्छेकलालनात् प्राज्ञैश्छेकानुप्रास ईरितः ॥५॥

व्यंजनव्यापृतिर्वृत्तिर्वर्णानां रसगोचरा ।
तत्संयोगादियं वर्णरचना वृत्तिरिष्यते ॥६॥

सा वैदर्भ्यादिभेदेन त्रिधा पूर्वैर्निरूपिता ।
तयोपलक्षितत्वात्तु वृत्त्यनुप्रास इष्यते ॥७॥

यत्र तावेव शब्दार्थौ तात्पर्यं तु विभिद्यते[4] ।
तत् पौनरुक्त्यमाचार्यैर्लाटानुप्रास इष्यते ॥८॥

दोषापत्तिभयादेव शब्दैक्यं स्यादनन्वये ।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव हि लक्षणम् ॥९॥

---

१. विश्वं प्रकाशयति ....द्यात्मकै—नि० का० नास्ति ।

२. गत°—नि० का० ।

३. व्यक्तिः—म० ।

४. विभाव्यते—म० ।

अनुवाद

जो जाति, गुण आदि के रूप में अपने वितान से विश्व को प्रकाशित करती है, संस्कारगुण से समृद्ध सरल-संदर्भ वाली वह वाणी मेरी रक्षा करे ।।१।।

तीन [पौनरुक्त्य के तीन भेद] होने का ज्ञान [पौनरुक्त्य के] विभाग से मालूम पड़ जाता है, 'त्रि' शब्द से उसकी समाप्ति [सूचित] होती है अतः 'इति' शब्द तीन प्रकार को बताता है[1] ।।२।।

'जिसमें पुनरुक्तवत् आभास हो' इस प्रकार का संस्कार [बहुब्रीहि समास] अलंकार्य [काव्य] के प्रति परतन्त्रता ध्वनित करने के लिए किया गया है ।।३।।

रसादि से अनुगत जो प्रकृष्ट वर्णविन्यास है वह अनुप्रास है। और वह छेक तथा वृत्ति की उपाधि के कारण दो प्रकार का होता है ।।४।।

जिसमें [व्यंजन-] समुदाय का युग्म अनेकधा सादृश्य प्राप्त करता है उसे छेक [विदग्ध] से लालित होने के कारण विद्वानों द्वारा छेकानुप्रास कहा जाता है ।।५।।

वर्णों का रसगोचर-व्यंजन व्यापार वृत्ति है, उससे युक्त होने के कारण वर्णरचना को वृत्ति कहा जाना अभीष्ट है ।।६।।

उसे वैदर्भी आदि के भेद से प्राचीनों ने तीन प्रकार का बताया है। उस [त्रिविध वैदर्भी आदि वृत्ति] से उपलक्षित होने के नाते ही इसे वृत्त्यनुप्रास [कहा जाना] अभीप्सित है ।।७।।

जहाँ शब्द और अर्थ तो वे ही रहें किन्तु तात्पर्य भिन्न हो जाए उस पौनरुक्त्य को आचार्य लाटानुप्रास मानते हैं ।।७।।

अनन्वय में शब्दों की एकता दोषापत्ति [पुनरुक्ति] के डर से ही होती है किन्तु इस लाटानुप्रास में तो वह [शब्दों की एकता] साक्षात् ही स्वरूप [लक्षण] है ।।६।।

---

१. 'इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्य-प्रकाराः' इस अ०सू० १ में पौनरुक्त्य का तीन होना विभज्य वचन से पता चलता है। 'त्रयः' के 'त्रि' शब्दसे तीन प्रकार ही हो सकते हैं यह सूचित होता है अतः शेष 'इति' शब्द यहाँ प्रकार के अर्थ में आया है।

कर्णिकायां लिखेदेकं द्वौ द्वौ दिक्षु विदिक्षु च ।
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु पद्मबन्धो भवेदयम् ॥१०॥

आरोप्य लिपिवर्णानां साम्याद् वाचकवर्णताम् ।
खंगबन्धादिकं चित्रं काव्यालंकार इष्यते ॥११॥

भेदाभेदतुलावृत्तौ साधर्म्यमुपमोच्यते ।
धर्मविच्छित्तिवशतस्त्रैविध्यमुपयाति सा ॥१२॥

विरुद्धधर्मसंसर्गस्तुल्यान्तरनिवृत्तये ।
ततस्तदन्वयाभावाद् भवेदयमनन्वयः ॥१३॥

उपमानोपमेयत्वव्यत्ययो न क्रमं विना ।
उपमेयोपमा तेन वाक्यभेदैकगोचरा ॥१४॥

स्मृतिः सा स्मर्यते यत्र सदृशात् सदृशान्तरम् ।
असादृश्यादवाच्यत्वादितः प्रेयान् विभिद्यते ॥१५॥

यत् त्वभेदप्रधानं स्यात् साधर्म्यं तद् द्विधा मतम् ।
आरोपाध्यवसानाभ्यामारोपे रूपकं भवेत् ॥१६॥

वस्तुतो भेदसद्भावाच्छंक्या[3] नातिशयोक्तिता ।
विषयस्यानपह्नुत्या[4] न चैतत्[5] स्यादपह्नुतिः ॥१७॥

ततो विषयि[6]रूपेण रूपवान् विषयो[7] यतः ।
आरोपणेन क्रियते तेनैतद् रूपकं मतम् ॥१८॥

भेदस्तृतीयो यस्त्वत्र परम्परितसंज्ञकः ।
साधर्म्येणैव तत्सिद्धिः[8] वैधर्म्येणापि दृश्यते ॥१९॥

विषय्यारोप्यते येन प्रतिस्वं विषयेषु तत् ।
भवेद् विषयसंख्यात्वं संख्यावेशे विधर्मिणः ॥२०॥

---

१. त्रिभेदा°—नि० का० ।
२. उपमानोपमेयत्वं व्यत्येन क्रमं विना—म० ।
३. शक्त्या—म० ।
४. °नभिपह्नुत्या—नि० का० ।
५. त्वेतत्—म० ।
६. विषय°—म० ।
७. °यी—म० ।
८. तत्सिद्धेः—म० । नि० का० नास्ति ।

कर्णिका [कमल के छत्ते] में एक [वर्ण] लिखे और दो-दो दिशाओं तथा विदिशाओं में। दिशाओं में प्रवेश तथा निर्गम होने पर यह पद्मबन्ध बन जाता है ॥१०॥

लिपि के वर्णों से साम्य होने के कारण [बन्ध में आने वाले] वर्णों में वाचक होने का आरोप करके खंग-बन्ध आदि चित्र को काव्यालंकार मान लिया जाता है ॥११॥

भेद और अभेद के तुलित होने पर समान धर्म से सम्बन्ध [साधर्म्य] उपमा कहलाती है। यह [साधारण] धर्म के वैचित्र्य [अनुगामितया निर्देश, वस्तु-प्रतिवस्तुभाव से निर्देश तथा बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश] के आधार से तीन प्रकार की हो जाती हैं ॥१२॥

द्वितीय सदृश की निवृत्ति के लिए विरुद्ध धर्म से संसर्ग [एक का ही उपमान और उपमेय होना] अन्वय [सन्बन्ध] के न होने से, अनन्वय है ॥१३॥

उपमान और उपमेय-भाव का व्यत्यय विना क्रम के नहीं होता है अतः उपमेयोपमा वाक्यभेद होने पर ही दिखाई देती है ॥१४॥

वह स्मृति [स्मरणालंकार] है जहाँ सदृश से दूसरे सदृश का स्मरण हो, सादृश्य [-मूलक] न होने से और वाच्य न होने से प्रेयान् इससे भिन्न है ॥१५॥

जो साधर्म्य अभेदप्रधान होता है वह दो प्रकार का माना गया है—आरोप से और अध्यवसान से। आरोप होने पर रूपक होगा ॥१६॥

भेद के वस्तुतः रहने से [रूपक में] अतिशयोक्ति-स्वरूप की आशंका नहीं करनी चाहिए। और न यह [रूपक] अपह्नुति [अलंकार] ही होगा क्योंकि [इसमें] विषय का अपह्नव नहीं होता है ॥१७॥

अस्तु, विषयी के रूप से विषय को आरोप के द्वारा रूपवान् बना दिया जाता है अतः इसे रूपक माना गया है ॥१८॥

इसका जो परम्परित नामक तीसरा भेद है उसकी सिद्धि साधर्म्य से है ही साथ ही [वह] वैधर्म्य से भी दिखाई देता है ॥१९॥

विषय पर एक-एक कर के चूंकि विषयी का आरोप होता है अतः विधर्मी की संख्या का आवेश होने पर विषय का संख्या-भाव बनेगा[1] ॥२०॥

---

१. 'कपिलाः दावाग्नयः'—दावाग्नियां कपिल (कपिल मुनि तथा कपिल वर्ण) हैं—यहाँ दावाग्नि पर कपिल मुनि का आरोप है। कपिल मुनि एक है अतः उसमें बहुवचन का प्रयोग दावाग्नि को एक-एक रूप में अनेक बार लेकर उपपन्न होता है—'अयमग्निः कपिलः, अयमग्निः कपिलः'।

रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषमुत्थापयेद् यदि ।
तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते ॥२१॥

विषय्याकारमारोप्य विषयस्थगनं[1] यदा[2] ।
रूपकत्वं तदा तत्र रंजनेन समन्वयः ॥२२॥

यदा तु विषयी[3] रूपात् स्वस्मादप्रच्युतो भजेत्[4] ।
उपयुक्त्यै[5] पराकारं[6] परिणामस्तदा मतः ॥२३॥

आरोप्यमाणः प्रकृते यदासावुपयुज्यते ।
परिणामस्तदा तेन रूपकादस्य भिन्नता ॥२४॥

रूपमात्रसमारोपाद् रूपके रंजको[7] ह्यसौ ।
व्यवहारसमारोपादिह स्यात् प्रकृतान्वयः ॥२५॥

[8]भवेदप्रस्तुतत्वेन[9] रूपके प्रकृतस्थितिः ।
परिणामसमासोक्त्योर्ज्ञातव्योऽस्माद् विपर्ययः ॥२६॥

उपादानानुपादानकृतो भेदस्तयोर्मिथः ।
सन्देहोऽप्रकृतद्वारा प्रकृतं संस्पृशेद् यदि ॥२७॥
प्रतिभोत्थापितः सोऽयं सन्देहालंकृतिर्मता ।
सादृश्योत्थापिता[10] भ्रान्तिर्यत्रासौ[11] भ्रान्तिमान् मतः ॥२८॥

नानाधर्मबलादेकं यदि नानेव गृह्यते ।
नानारूपसमुल्लेखात् स उल्लेख इति स्मृतः ॥२९॥

---

१. विषयस्य गतं—म० ।
२. यदि—तरल, पृ० २२१ ।
३. विषयारोपात्—म० ।
४. भवेत्—म०, तरल, पृ० २२१ ।
५. °युक्ते म० । उपयुक्तौ, रत्नापण, पृ० ३७७ ।
६. पराकारः—तरल, पृ० २२१ ।
७. व्यञ्जको—स० ।
८. कारिकेयं नि०का० पुस्तके नास्ति ।
९. °प्रकृतत्वेन—म० ।
१०. कारिकायाः द्वितीयार्धं नि० का० पुस्तके नास्ति ।
११. यत्र स—स० ।

पूर्वतः सिद्ध रूपक यदि श्लेष का उत्थान करे तब रूपक ही होगा अन्यथा श्लेष माना जाता है ॥२१॥

विषयी के आकार का आरोप कर जब विषय का स्थगन होता है तब रूपकता होगी, यहाँ [प्रकृत का] उपरंजन करने से [रूपण का] सम्यक् सम्बन्ध है ॥२२॥

किन्तु जब विषयी अपने स्वरूप से प्रच्युत न होकर दूसरे के आकार को उपयोग के लिए धारण करता है तब परिणाम [अलंकार] माना जाता है ॥२३॥

जब यह आरोप्यमाण [विषयी] प्रकृत का उपयोगी होता है तब परिणाम होता है अतः रूपक से इसकी भिन्नता है ॥२४॥

रूप-मात्र का समारोप होने के कारण वह [आरोप्यमाण] रूपक में उपरंजक होता है किन्तु इस [परिणामालंकार] में व्यवहार-समारोप होने के कारण [इसका] प्रकृत से अन्वय [सम्बन्ध] होता है ॥२५॥

रूपक में प्रकृत की स्थिति अप्रस्तुत के रूप में रहती है इसी से परिणाम और समासोक्ति का विपर्यय समझ लेना चाहिए ॥२६॥

इन दोनों [परिणाम और समासोक्ति] का परस्पर भेद [आरोप्यमाण का] उपादान और अनुपादान होने से होता है।

यदि सन्देह अप्रकृत के माध्यम से प्रकृत का स्पर्श करता है[1] (२७) तो वही [कवि की] प्रतिभा से उत्थापित होकर संदेहालंकार माना जाता है।

सादृश्य से उत्थापित भ्रान्ति जिसमें हो वह भ्रान्तिमान् माना जाता है ॥२७-२८॥

अनेक धर्म के बल से यदि एक अनेक की भाँति गृहीत हो तो अनेक रूपों का उल्लेख रहने से उल्लेख नामक अलंकार माना जाता है ॥२९॥

---

१. जहाँ हिन्दी भाषा की दृष्टि से वाक्य पूरा नहीं होता किन्तु कारिका की कोई संख्या पूर्ण हो जाती है वहाँ संख्या को कोष्ठक ( ) में दिया गया है ताकि कारिका की संख्या की समाप्ति बताई जा सके। कारिका की संख्या पुनः वाक्य के अन्त में सूचित कर दी गई है।

यदेकं तद्धि नानेति गृह्यते रूपभेदतः[1] ।
रुच्यादिवशतो लोके नानात्वं चेदकृत्रिमम्[2] ॥३०॥

अतद्रूपस्य ताद्रूप्यान्न ह्यसौ भ्रान्तिरिष्यते ।
न चाप्यतिशयोक्तिः स्यादभेदे भेदरूपिणी ॥३१॥

आद्ये नानेकधात्वं स्याज्ज्ञातृभेदो[3] न चान्तिमे ।
विषयज्ञातृभेदाभ्यां विना नोल्लेखसम्भवः ॥३२॥

यद्यपि श्लेषतो बाधो न तथाप्यस्य निह्नवः ।
अनपेक्ष्यापि[4] यच्छ्लेषं तत्रैव स्थातुमर्हति ॥३३॥

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।
नञा[5] छलादिशब्दैश्च सा शब्दान्तरतस्त्रिधा[6] ॥३४॥

स्याद् भेदाभेदतुलया विच्छित्तिरुपमादिका[7] ।
रूपकादिस्त्वभेदांशे मुख्ये त्वारोपसंश्रयात्[8] ॥३५॥

उत्प्रेक्षादिरभेदेन वक्ष्यतेऽध्यवसायभाक् ।
यदायमुपमानांशो[9] लोकतः सिद्धिमृच्छति ॥३६॥

तदोपमैव येनेवशब्दः साधर्म्यसूचकः ।
यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः ॥३७॥

तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्दः सम्भावनापरः ।
गुणक्रियादिसंबन्धात्[10] प्रकृतेऽप्रकृतात्मना ॥३८॥

सम्भावनं स्यादुत्प्रेक्षा वाच्येवाद्यैः परान्यथा ।
जातिक्रियागुणद्रव्योत्प्रेक्षात् सा चतुर्विधा ॥३९॥

भावाभावाभिमानत्वे जात्यादेः साष्टधा पुनः ।
गुणक्रियानिमित्तत्वे ज्ञेया षोडशधा तथा[11] ॥४०॥

---

१. धर्मं°—म० । २. ह्यत्र°—म० । ३. भेदेन भान्ति मे—म० ।
४. °द्यैव°—म० । ५. ननु—म० । ६. तथा—म० ।
७. °दितः—म० । ८. चारोपसंभवात्—म० ।
९. यदायमुपमानांशो........न पुनः फलिनोस्तत्राभेदे भेदो न सिध्यति । एते श्लोका म० पुस्तके नोपलभ्यन्ते । १०. °क्रियाभि°—स० ।
११. °निमित्तत्वे....तथा—नि० का० नास्ति ।

जो एक है वह लोक में रूप-भेद से अनेक के रूप में रुचि आदि के कारण गृहीत होता है—यदि अनेकत्व अकृत्रिम [स्वाभाविक या सहज] हो ।।३०।।

[भ्रान्तिमान् में] अतद्रूप की तद्रूपता होने के कारण, इस [अलंकार] को भ्रान्ति नहीं माना जा सकता है और न अतिशयोक्ति ही जो अभेद में भेद-रूपा होती है ।।३१।।

प्रथम [भ्रान्तिमान् अलंकार] अनेकधा-रूप नहीं होता है और अंतिम [अतिशयोक्ति अलंकार] में ज्ञाता का भेद नहीं रहता है; उल्लेख [अलंकार] विषय तथा ज्ञाता के भेद के विना सम्भव नहीं है ।।३२।।

यद्यपि [उल्लेखालंकार का] श्लेष से बाध होता है पर इसका निह्नव नहीं होता है क्योंकि श्लेष की अपेक्षा किए विना भी [अर्थात् जहाँ श्लेष नहीं भी है] यह [अलंकार] रह सकता है ।।३३।।

प्रकृत का निषेध कर जो दूसरे [अपकृत] की सिद्धि है वह अपह्नुति है। नञ्, छलादि शब्द या [इसी प्रकार के] दूसरे शब्द के आधार से यह [अपह्नुति] तीन प्रकार की है ।।३४।।

उपमादि की विच्छित्ति भेद और अभेद के समान रहने पर होगी किंतु रूपक आदि अभेदांश के मुख्य रहने पर आरोप का आधार लेकर होता है ।।३५।।

अभेद के द्वारा [अभेद की स्थिति में] अध्यवसाय से होनेवाले उत्प्रेक्षा आदि अलंकार का निरूपण किया जाएगा।

जब उपमान का अंश लोकसिद्ध होता है (३६) तब उपमा ही होती है और इसलिए उपमाका 'इव' शब्द सादृश्य का सूचक होता है। किन्तु जब यह लोक से असिद्ध [अर्थात्] कविकल्पित होता है (३७) तब उत्प्रेक्षा ही होती है और इसलिए 'इव' शब्द सम्भावनापरक होता है। गुण क्रिया आदि के सम्बन्ध से प्रकृत में अप्रकृत-रूप की (३८) संभावना उत्प्रेक्षा होगी, जो 'इव' आदि के रहने से वाच्या अन्यथा दूसरी [प्रतीयमाना] है। जाति, क्रिया, गुण तथा द्रव्य के उत्प्रेक्षण से वह चार प्रकार की है ।।३६-३९।।

पुनश्च जाति आदि का भावाभिमान [भावात्मक संभावन] तथा अभावाभिमान होने से वह आठ प्रकार की तथा गुण एवं क्रिया की निमित्तता होने से सोलह प्रकार की जाननी चाहिए ।।४०।।

द्वात्रिंशच्च निमित्तस्योपादानादन्यथा स्थिते: ।
हेतौ स्वरूपे चोत्प्रेक्ष्ये फले षण्णवति: पुन: ॥४१॥

द्रव्ये हेतुफलात्मत्वासंभवात् तद्भिदा च्युति: ।
तथा प्रतीयमानायां[1] निमित्तस्यानुपग्रह: ॥४२॥

नापि स्वरूपं तैर्भेदैस्तस्मान्न्यूना भवेदियम् ।
क्वचिच्छ्लेषेण धर्मांशगतेनैषा[2] न बाध्यते ॥४३॥

उपमोपक्रमाप्येषा भवेत् सापह्नवापि च ।
अभेदाध्यवसायो हि फले[3]ऽतिशयनामनि[4] ॥४४॥

न पुन: फलिनोस्तत्राभेदे[5] भेदो न सिध्यति ।
प्रस्तुतेष्वथवान्येषु[6] ज्ञातव्या तुल्ययोगिता ॥४५॥

गुणक्रियाभिसम्बन्धात् समानादन्विताथिका[7] ।
दीपकं वास्तवौपम्यं प्रकृताप्रकृताश्रयम् ॥४६॥

आदिमध्यान्तवाक्येषु क्रियाकारकभेदत:[8] ।
असकृद् धर्मनिर्देश[9] इवादेरनुपग्रहे[10] ॥४७॥

प्रतिवस्तूपमा ज्ञेया प्रतिवाक्यार्थसाम्यत: ।
बिम्बानुबिम्बन्यायेन निर्देशे धर्मधर्मिणाम् ॥४८॥

दृष्टान्तालंकृतिर्ज्ञेया भिन्नवाक्यार्थसंश्रया ।
सम्भवन्[11]वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्[12]वावबोधयेत् ॥४९॥

---

१. °या°—स० ।
२. धर्मांशे ग°—नि० का० ।
३. °शयनादिह—रत्नापण, पृ० ३९८ ।
४. नामानि—नि० ।
५. फलितोऽस्त्यत्र—तरल, पृ० २३७ ।
६. प्रकृते°—म० ।
७. °र्थिता—म० ।
८. म० पुस्तके कारिकाया: प्रथमांशो नोपलभ्यते ।
९. °निर्देशात्—म० ।
१०. °ग्रहात्—म० ।
११. पंचमम्—म० । १२. नाव°—म० ।

निमित्त के उपादान अथवा अन्यथा स्थिति [अर्थात् अनुपादान] से बत्तीस प्रकार की और हेतु, स्वरूप तथा फल की उत्प्रेक्षा रहने से छयानवे प्रकार की होती है ॥४१॥

द्रव्य का हेतुरूप तथा फलरूप होना संभव नहीं है अतः इन भेदों के निकल जाने से साथ ही प्रतीयमाना [उत्प्रेक्षा] में निमित्त का उपादान नहीं होता है (४२) और न स्वरूप का अतः इन भेदों से यह [उत्प्रेक्षा] न्यून होती है। किसी धर्मांश में विद्यमान श्लेष से इस [श्लिष्टशब्दहेतुका उत्प्रेक्षा] का बाध नहीं होता है ॥४२-४३॥

यह [उत्प्रेक्षा] उपमोपक्रमा [उपमा से प्रारम्भ होनेवाली] और सापह्नवा भी होती है।

अभेदेन अध्यवसाय अतिशय नामक फल से होता है (४४) न कि फलवान् [वस्तुओं] से[1] क्योंकि [ऐसा मानने पर अतिशयोक्ति का एक अन्य भेद] 'अभेद होने पर भेद' सिद्ध नहीं हो पाता। प्रस्तुत अथवा इतर [अप्रस्तुत] में तुल्ययोगिता जाननी चाहिए ॥४४-४५॥
गुण और क्रिया का समान [तुल्य] सम्बन्ध [योग] के रहने से इसका अर्थ अन्वित [इसकी संज्ञा चरितार्थ] है।

प्रकृत और अप्रकृत पर आश्रित वास्तविक औपम्य [समानधर्म से संबन्ध] दीपक है (४६) जो वाक्य के आदि, मध्य या अंत में क्रिया और कारक के भेद से होता है।

धर्म का असकृत् निर्देश होने पर, इव आदि का उपादान न होने पर (४७) प्रतिवस्तूपमा जाननी चाहिए जो प्रति वस्तु [वाक्य] में अर्थ-सादृश्य रहने से होती है।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब के न्याय से धर्म और धर्मी का निर्देश (४८) दृष्टान्त अलंकार जानना चाहिए जो भिन्न वाक्यों के अर्थ पर आश्रित होता है।

वस्तु का सम्भव या असम्भव सम्बन्ध यदि प्रतिबिम्ब का बोध (४९)

---

१. मुख और कमल में (फलवान्) अभेदाध्यवसाय नहीं होता है अपितु मुख के वस्तुसौन्दर्य का कविसमर्पित चन्द्र के साथ अभेदाध्यवसाय होता है। यदि ऐसा नही मानते तो अतिशयोक्ति का एक अन्य भेद 'अभेदे भेदः' जिसका सामान्य लक्षण अभेदाध्यवसाय है, सम्भव न हो सकेगा क्योंकि दो वस्तुओं (फलवान्) में अभेद संभव नहीं है। इसके पूर्व अतिशयोक्ति का लक्षण प्रस्तुत करनेवाली एक या आधी कारिका होनी चाहिए थी।

प्रतिबिम्बं यदि तदा निर्ज्ञातव्या निदर्शना ।
बिम्बानुबिम्बार्थतया वाक्ययोः प्रकृतान्ययोः ॥५०॥

स्यान्नैरपेक्ष्ये[1] दृष्टान्तः सापेक्षत्वे निदर्शना ।
भेदप्रधाने[2] साधर्म्ये व्यतिरेको विधीयते ॥५१॥

आधिक्यादुपमेयस्य न्यूनत्वाद् वोपमानतः ।
गुणप्रधानभावो यः शाब्दस्तेन भिदोत्कटा ॥५२॥

संश्रितातिशयोक्तिं च सहोक्तिः समयोर्मता ।
सदसत्त्वनिवृत्ति[3]श्चेन्निवृत्त्यान्यस्य वर्ण्यते ॥५३॥

तदा द्विधा विनोक्तिः स्याद् विधिरत्र फलं भवेत् ।
अप्रस्तुतं[4] प्रतीतं चेद् भेदकांशैक्यसाम्यतः ॥५४॥

व्यवहारं [5]स्वमारोप्य प्रस्तुते न्यग्भवत्यथ ।
तेनाप्रस्तुतवृत्तान्तारोपेण प्रस्तुतं स्वयम् ॥५५॥

संक्षेपेणोच्यते तस्मात् समासोक्तिरियं मता ।
स्याद् विशेष्यांशसाम्यं चेत् प्रस्तुताकाररूपितम् ॥५६॥

भवेदप्रस्तुतं भेद्यं रूपकालंकृतिस्तदा ।
स्यादौपम्यसमासेन समासोक्तिर्विनिश्चये ॥५७॥

स्यात् संकरसमासेन समासस्य तु संशये ।
न रूपकसमासस्य प्राप्तावस्याः प्रवर्तनम् ॥५८॥

रूपकादर्थसंसिद्धेरेकदेशविवर्तिनः ।
विशेषणांशसाम्येनाप्रस्तुतार्थस्य गम्यता ॥५९॥

समासोक्तिर्मता येन संक्षिप्यार्थोऽभिधीयते ।
शुद्धकार्यसमारोपे साम्यं[6] स्यादौपचारिकम् ॥६०॥

---

१. नान्यैरपेक्ष्यो—म० ।
२. भेदप्रधाने साधर्म्ये.........सहोक्तिः समयोर्मता—इयानंशो म० नास्ति ।
३. निवृत्तिम्—म० ।
४. अप्रस्तुतं प्रतीतं चेत्......रूपकादर्थसंसिद्धेरेकदेशविवर्तिनः—म० नास्ति ।
५. समा°--नि० का० ।
६. कार्यम्—नि० का० ।

कराए तो निदर्शना समझनी चाहिए।

बिम्ब तथा प्रतिबिम्बभाव से प्रकृत तथा इतर [अप्रकृत] दो वाक्यों में अपेक्षा न रहने पर दृष्टान्त और अपेक्षा रहने पर निदर्शना होती है ।।५०।।

भेदप्रधान साधर्म्य होने पर व्यतिरेक [अलंकार] का विधान (५१) उपमान से उपमेय के आधिक्य अथवा न्यूनता में होता है।

[इस सहोक्ति[1] अलंकार में] जो शाब्द गुणप्रधान-भाव [तृतीयान्त शब्द गौण और अन्यविभक्तिक शब्द प्रधान होता है, सह शब्द के उपादान से यह गुण-प्रधान-भाव शाब्द या शब्दतः उपात्त माना जाता है] होता है उसी से भेद की प्रधानता होती है ।।५१-५२।।

सहोक्ति अतिशयोक्ति पर आश्रित है और दो समान में मानी जाती है।

सत्त्व [शोभनता] तथा असत्त्व [अशोभनता] की निवृत्ति यदि दूसरे की निवृत्ति द्वारा वर्णित होती है (५३) तो दो प्रकार की विनोक्ति होगी। इसका फल [शोभन का] विधान होगा।

भेदक अंश [विशेषण] से साम्य के कारण जहाँ अप्रस्तुत गम्य हो (५४) और अपने व्यवहार का समारोप कर प्रस्तुत के प्रति गौण बना रहे तो अप्रस्तुत के वृत्तान्त का आरोप करते हुए स्वयं प्रस्तुत (५५) की संक्षेप [समास] में उक्ति होती है अतः इसे समासोक्ति कहा जाता है। यदि विशेष्य अंश में साम्य प्रस्तुत के आकार से रूपित है (५६) और अप्रस्तुत भेद्य है तो रूपकालंकार होता है। औपम्य-समास के द्वारा विनिश्चय की स्थिति में समासोक्ति होती है ।।५३-५७।।

समास के संशय की स्थिति में संकरसमास से यदि रूपकसमास प्राप्त है तो इस समासोक्ति की प्रवृत्ति नहीं होती है। (५८) क्योंकि एकदेशविवर्ति रूपक से प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।

विशेषण अंश में साम्य से अप्रस्तुत अर्थ का प्रतीयमान होना (५९) समासोक्ति मानी जाती है जिससे संक्षेप [समास] में अर्थ का अभिधान हो जाता है [समासेन—संक्षेपेण उक्तिः]। शुद्ध कार्य का समारोप रहने पर साम्य औपचारिक [अवास्तव] होता है (६०) क्योंकि व्यवहार का समारोप ही इस [अलंकार] का साक्षात् घटक है।

---

१. यहाँ भी सहोक्ति का लक्षण करने वाली कारिका आवश्यक थी।

व्यवहारसमारोपः साक्षादस्यां प्रयोजकः ।
स्याद् विशेषणसाम्यं चेत् समासान्तरसंश्रयात्[1] ॥६१॥

उपमा बाधते नैनामेकदेशविवर्तिनी ।
दृश्यतेऽर्थान्तरन्यासः[2] समर्थ्ये[3] च समर्थके ॥६२॥

उत्प्रेक्षायोगिनी चैषा क्वचित् स्यादेककालगा ।
विशेषणानां व्यङ्ग्यार्थगर्भीकरणलक्षणा[4] ॥६३॥

सोत्प्राशता परिकरो[5] व्यङ्ग्यः परिकरो यतः[6] ।
शब्दसाम्यं[7] भवेच्छ्लेषो विशेषणविशेष्ययो ॥६४॥

यद्येकोऽप्रकृतोऽर्थश्चेद् भेद्यांशे भिन्नशब्दता ।
शब्दार्थोभयनिष्ठोऽयं सर्वालंकारबाधकः ॥६५॥

पूर्वसिद्धस्य चेदङ्गस्तदा न्यायेन बाध्यते ।
अप्रस्तुतप्रशंसा तु प्रस्तुतावगमोऽन्यतः ॥६६॥

सा सामान्यविशेषादिविच्छित्त्या पंचधा मता ।
भवेत् साधर्म्यवैधर्म्ययोगतः सा पुनर्द्विधा[8] ॥६७॥

सम्भवेऽसंभवे द्वैधे वाच्यस्याथ पुनस्त्रिधा ।
प्रस्तुतस्तस्यावगम्यत्वात् पर्यायोक्ताद् विभिद्यते ॥६८॥

इयमर्थान्तरन्यासाद् दृष्टान्तालंकृतेरपि ।
समर्थ्यत्वेन निर्दिष्टः प्रकृतो यः समर्थ्यते ॥६९॥

---

१. समासान्तैरसंश्रया—म० ।
२. °न्यासे—म० ।
३. सामर्थ्ये—म० ।
४. °नभःकरण°—म० ।
५. परिकरे—म० ।
६. मतः—म० ।
७. शब्दसाम्यं भवेत्.......सोऽयमर्थान्तरन्यासः सामान्यादिभिरष्टधा—इत्येष कारिकांशो म० पुस्तके नास्ति ।
८. त्रिधा—म० ।

यदि समासान्तर का आश्रय लेकर [अर्थात् रूपक-समास को छोड़कर] विशेषण साम्य बनता है तो (६१) एकदेशविवर्तिनी उपमा[1] इस [अलंकार] की बाधक नहीं होती है। समर्थ्य या समर्थक [वाक्य] में अर्थान्तरन्यास [इस समासोक्ति अलंकार में] दिखाई देता है [अर्थात् समासोक्ति कहीं कहीं अर्थान्तर-न्यास के योग में भी होती है] ॥६१-६२॥

यह उत्प्रेक्षागर्भित भी होती है और कहीं [उत्प्रेक्षा और समासोक्ति की प्रतीति] एक काल में वर्तमान रहती है।

विशेषणों का साभिप्राय होना—प्रतीयमान अर्थ को गर्भीकृत करना—(६३) परिकर है, चूंकि इसमें व्यङ्ग्य रहता है [अतः इसका परिकर नाम सार्थक है]।

विशेषण और विशेष्य का शब्द-साम्य श्लेष है (६४) यदि एक अर्थ अप्रकृत है तो विशेष्य अंश में शब्द भिन्न होता है।

शब्द, अर्थ और उभय में रहनेवाला यह [अलंकार] सभी अलंकारों का बाधक है ॥६३-६५॥

यदि यह [श्लेष] किसी पूर्वसिद्ध [अलंकार] का अंग है तो न्यायतः बाधित होता है।

अन्य [अर्थात् अप्रस्तुत] से प्रस्तुत की प्रतीति अप्रस्तुतप्रंशसा है ॥६६॥

यह सामान्य-विशेषभाव आदि की विच्छित्ति से पाँच प्रकार की मानी गई है। साधर्म्य और वैधर्म्य के योग से [सारूप्यहेतुका] यह [अप्रस्तुतप्रंशसा] दो प्रकार की है ॥६७॥

वाच्यार्थ के सम्भव, असम्भव और उभयरूप होने से इसके तीन भेद और होते हैं। प्रस्तुत के प्रत्येय होने के कारण पर्यायोक्त से (६८) और अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त अलंकार से भी यह भिन्न है।

समर्थ्य के रूप में निर्दिष्ट प्रकृत का यह जो समर्थन किया जाता है (६९)

---

१. जहाँ उपमा या रूपक का साधक या बाधक प्रमाण नहीं है वहाँ औपम्य-गर्भ समास करने पर तो समासोक्ति होती है और रूपक-गर्भ समास करने पर समासोक्ति न होकर रूपक (एकदेशविवर्ति) होता है।

सोऽयमर्थान्तरन्यासः सामान्यादिभिरष्टधा ।
पर्यायोक्तं तु कार्यादिद्वारा गम्यस्य वर्णनम् ॥७०॥

अप्रस्तुतप्रशंसातो वाच्यस्य प्रस्तुतोर्भिदा[1](?) ।
व्याजेन व्याजरूपा वा स्तुतिर्व्याजस्तुतिद्वयम् ॥७१॥

अप्रस्तुप्रशंसातः स्तुतिनिन्दात्मिका भिदा ।
निषेधाभास[2] आक्षेपः प्रकृतस्येष्टसिद्धये ॥७२॥

स उक्तविषये वस्तुतदुक्त्योर्वारणात्मकः ।
वक्ष्यमाणे पुनस्त्वन्यो ज्ञेय आगूरणात्मकः ॥७३॥

सामान्यतो विशेषों[3]ऽशादंशश्चेत्येष च द्विधा ।
इष्टोऽर्थोऽस्य निषेधोऽस्य बाधोऽथातिशयध्वनिः ॥७४॥

चतुष्टयमिदं ज्ञेयं सम्भूयाक्षेपकारणम् ।
अनुक्तस्य निषेधस्य विध्याभासेन सूचनम् ॥७५॥

आक्षेपो वक्ष्यमाणैकविषयस्त्वेष सम्मतः ।
विरोधस्तु तदाभासो [4]जात्याद्यर्थसमाश्रयः ॥७६॥

तद्वैचित्र्याद् दशविधो विषयैक्ये[5] व्यवस्थितः ।
प्रसिद्धकारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना ॥७७॥

कार्योत्पादनवैशिष्टयाद्[6] द्विधा चेयं निमित्ततः ।
कार्यांशस्य[7] यदा भावाभावौ वक्तुमपेक्षितौ ॥७८॥

विभावनाविशेषोक्त्योस्तदा सन्देहसङ्करः ।
विशेषोक्तिर्भवेत् कार्यानुत्पत्तिः सति कारणे ॥७९॥

---

१. °भिधा—नि० का० ।

२. निषेधाभास आक्षेपः......आक्षेपो वक्ष्यमाणैकविषयस्त्वेष सम्मतः ।
—इयानंशो म० पुस्तके नोपलभ्यते ।

३. विशेषांशादंशः—नि० का० ।

४. ज्ञाप्याद्यर्थ°—म० ।

५. विषयोऽन्ते—म० ।

६. °वैचित्र्याद्—म० ।

७. कार्यांशस्य......तदा सन्देहसंकरः ।—म० पुस्तके नोपलभ्यते ।

वही अर्थान्तरन्यास है, सामान्यादि (के भेद) से यह आठ प्रकार का है।

कार्य आदि के द्वारा गम्य का वर्णन पर्यायोक्त है ॥६८-७०॥

इसका अप्रस्तुतप्रंशसा से भेद प्रस्तुत के भी वाच्य रहने से है।

व्याजस्तुति दो प्रकार की है—व्याज से [स्तुति] तथा व्याजरूप स्तुति ॥७१॥

इसका अप्रस्तुतप्रशंसा से भेद स्तुति-निन्दा के स्वरूप से है।

प्राकरणिक अर्थ की इष्टसिद्धि [विशिष्ट प्रतीति] के लिए निषेधाभास आक्षेप है ॥७२॥

यह [आक्षेप] उक्तविषयक के सम्बन्ध [भेद] में वारणात्मक होता है और वक्ष्यमाण के सम्बन्ध में उसका जो दूसरा भेद है वह आगूरणरूप होता है ॥७३॥

सामान्य से विशेष का और अंश से [दूसरे] अंश का निषेध इसप्रकार से भी यह [आक्षेपालंकार] दो प्रकार का है। इष्टार्थ, उसका निषेध, उसका बाध तथा अतिशय-ध्वनि (७४) ये चार मिलकर आक्षेप के हेतु हैं। अनुक्त निषेध का विध्याभास द्वारा सूचन (७५) वक्ष्यमाण-विषयक आक्षेप माना जाता है।

विरोध [अलंकार] वह है जिसमें उसका आभास हो। यह जाति आदि अर्थों पर समाश्रित है (७६) और उसके वैचित्र्य के आधार पर दस प्रकार का माना गया है। इसमें विषय की एकता आवश्यक है [विषयभेद होने पर तो असंगति अलंकार होगा]।

प्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति विभावना है ॥७३-७७॥

कार्योत्पत्ति के वैशिष्टय से निमित्त [के उक्त अथवा अनुक्त होने] के कारण यह दो प्रकार की [उक्तनिमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता] है। जब कार्यांश का भाव या अभाव बताना अपेक्षित होता है (७८) तो विभावना और विशेषोक्ति का सन्देहसंकर होता है।

कारण के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होना विशेषोक्ति होती है ॥७८-७९॥

अत्रैकगुणहान्या[1] तु साम्यदार्ढ्यमलक्षणम् ।
कार्यकारणयोर्यौ[2] तु कालसाम्यविपर्ययौ ॥८०॥

अन्या[3] त्वतिशयोक्तिः सा विरोधांशोपजीवनात् ।
कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसंगतिः ॥८१॥

अभेदाध्यवसायादिविच्छित्त्या दृश्यते च सा ।
विरूपानर्थयोर्हेत्वो[4]रुत्पत्तिर्विषमं मतम् ॥८२॥

तथा [5]विरूपघटना[6] तेनेदं त्रिप्रभेदकम्[7] ।
सरूपयोः संघटना समालंकार इष्यते ॥८३॥

श्लाघ्याश्लाघ्यत्वयोगेन द्वौ[8] भेदावस्य सम्मतौ ।
प्रयत्नस्तु विचित्रं[9] स्याद् विपरीतफलाप्तये ॥८४॥

निषेधतो वैपरीत्याद् विषमालंकृतेर्भिदा ।
अनानुरूप्यमधिकमाश्रयाश्रयिणोर्मतम् ॥८५॥

आश्रयाश्रयिवैपुल्यवशतो द्विप्रभेदकम् ।
क्रियाजननमन्योन्यमन्योन्यालंकृतिर्मता ॥८६॥

अनाधारादिभेदेन[10] विशेषोऽपि त्रिधा मतः ।
यथा साधनमेकेन तथैवान्येन बाधनम्[11] ॥८७॥

व्याघातोऽथ विरुद्धस्य सौकर्येण क्रिया तथा ।
कार्यकारणमालायां[12] प्राचः प्राचः परं परम् ॥८८॥

एकावल्यां यथापूर्वं भेदकं [13]तूत्तरोत्तरम् ।
स्थाप्यतेऽपोह्यते चैव तेनेयं द्विविधा मता ॥८९॥

---

१. त्रुटितोऽत्र म० पुस्तकपाठः ।
२. °योस्तुल्यौ—म० ।
३. °प्यति°—म० ।
४. हेतोरु°—नि० का०, स० ।
५. त्रिरूपघटना—म० ।
६. °वटनात्—नि० का० ।
७. त्रिषु वेदनम्—म० ।
८. द्वि°—म० ।
९. विचित्रः—म० ।
१०. अनाधारादिभेदेन......तथैवान्येन बाधनम् । —म० पुस्तके नास्ति ।
११. साधनम्—नि० का० ।
१२. °मालायाः—नि० का० ।
१३. चो°—म० ।

एक गुण की हानि होने से साम्य की दृढ़ता इस [अलंकार] का स्वरूप नहीं है [रुय्यक के अनुसार ऐसी स्थिति में रूपक होगा, विशेषोक्ति नहीं] ।

कारण और कार्य की समकालता में तथा [पूर्वापरभाव के] विपर्यय में (८०) दूसरे प्रकार की [कार्यकारणभावमूलक] अतिशयोक्ति होती है । यह विरोधांश से उपजीवित होती है [अर्थात् इसमें कार्यकारणभाव विरुद्ध रहता है] ।

कारण और कार्य के भिन्न देश में होने पर असंगति होती है ॥८०-८१॥

यह अभेदाध्यवसाय आदि की विच्छित्ति से [भी] होती है ।

हेतु से विरूप [कार्य] और अनर्थ की उत्पत्ति तथा विरूप की संघटना विषम माना जाता है (८२) इस प्रकार यह [विषमालंकार] तीन प्रकार का है ।

सरूप[वस्तुओं]की संघटना समालंकार के रूप में अभीप्सित है ॥८२-८३॥

श्लाघ्य योग और अश्लाघ्य योग से इसके दो भेद माने गए हैं ।

विपरीत फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न विचित्र [अलंकार] होता है ॥८४॥

निषेध से विपरीतभाव [की प्रतीति] होने से इसका [प्रथम] विषमालंकार से भेद है ।

आश्रय और आश्रयी की अननुरूपता अधिक [नामक अलंकार] है । (८५) आश्रय और आश्रयी की [एक दूसरे की अपेक्षा] विपुलता के कारण इसके दो भेद हैं ।

क्रिया द्वारा एक दूसरे का जनन अन्योन्य अलंकार माना गया है ॥८५-८६॥

अनाधार आदि के भेद [आधेय का अनाधार होना, एक परिमित वस्तु का अनेकधा पाया जाना, असंभाव्य वस्त्वन्तर का निष्पादन] से विशेष [अलंकार] तीन प्रकार का माना गया है ।

एक किसी के द्वारा जिस प्रकार साधन हो उसी प्रकार दूसरे के द्वारा बाध हो (८७) तो व्याघात [अलंकार] होता है । और सुकरता के साथ [कार्य के] विरुद्ध क्रिया भी व्याघात है ।

कारणमाला [अलंकार] में पूर्व-पूर्व कार्य उत्तरोत्तर का हेतु बन जाता है ॥८८॥

एकावली [अलंकार] में एक के बाद आनेवाला दूसरा-दूसरा [उत्तरोत्तर] क्रमशः पहले-पहले आनेवाले का विशेषण बनता है जिसकी या तो स्थापना होती है या निवृत्ति, इस प्रकार यह [एकावली] दो प्रकार की है ॥८९॥

मालादीपकमाद्याद्यस्योत्तरोत्तरदीपनम् ।
उत्तरोत्तरमुत्कर्षावहत्वे सार इष्यते ॥९०॥

काव्यलिंगं तु हेतुत्वेनोक्तिर्वाक्यपदार्थयोः ।
नायमर्थान्तरन्यासो हेतोः शाब्दत्वसंश्रयात् ॥९१॥

अनुमानं तु साध्याय साधनस्योपवर्णना ।
तत्संकीर्णत्वशुद्धत्वविच्छित्त्यान्यविलक्षणम्[1] ॥९२॥

अप्रतीतप्रतीतौ स्यादनुमानव्यवस्थितिः ।
पदार्थाद् वाथ वाक्यार्थान्निर्देशे सति हेतुतः ॥९३॥

समर्थनं प्रतीतस्य काव्यलिङ्गद्वयं मतम्[2] ।
भवेदर्थान्तरन्यासस्ताटस्थ्ये हेतुभावतः ॥९४॥

कार्यकारणभावे तु तस्योक्तं लक्षणान्तरम् ।
प्रागुक्तानामनुक्तैस्तु[3] संबन्धः क्रमिको[4] यदा ॥९५॥

यथासंख्यं तथा शाब्दमार्थं चेति द्विधा मतम् ।
पर्याय एकोऽनेकस्मिन्नेकत्रानेक इत्यपि ॥९६॥

द्विधा क्रमवशादेतौ न विशेषसमुच्चयौ ।
नेयं विनिमयाभावात्[5] परिवृत्तिर्भिदास्त्विह[6] ॥९७॥

चतस्रोऽनेकरूपस्य[7] पृथक् संघातवर्तनात् ।
पृथक् संघातवृत्तित्वादनेकोऽर्थो द्विधा स च ॥९८॥

आधाराधेयभावस्थश्चतस्रोऽस्य भिदास्ततः ।
परिवृत्तिर्विनिमयस्त्रिधा सेयं समादिभिः ॥९९॥

परिसंख्या त्वनेकत्र प्राप्तस्यैकत्र यन्त्रणम् ।
चतुर्धा प्रश्नवर्ज्योक्त्योर्भावाभावादियं[8] मता ॥१००॥

---

१. कारिकेयं म० पुस्तके नास्ति ।
२. °लिंगान्वयं मतः—म० ।
३. °क्तैः—म० ।
४. क्रमकोविदाः—म० ।
५. विनिगमा°—नि० का० ।
६. तदास्त्विह—म० ।
७. चतस्रोऽनेकरूपस्य......सेयं समादिभिः । —म० नास्ति ।
८. भावा°—म० पुस्तके नास्ति ।

पूर्व-पूर्व [पहले आने वाले] के द्वारा उत्तरोत्तर का उत्कर्षनिबन्धन [दीपन] मालादीपक [अलंकार] होता है।

[पूर्व-पूर्व की अपेक्षा] उत्तरोत्तर के उत्कर्षावह होने पर सार [नामक अलंकार] होता है ॥९०॥

वाक्य अथवा पदार्थ का हेतु रूप में वचन काव्यलिंग है। यह अर्थान्तर-न्यास नहीं है क्योंकि इसमें हेतु श्रौत बनकर आता है ॥९१॥

साध्य के लिए साधन का वर्णन अनुमान [अलंकार] है। यह [दूसरे अलंकारों से] संकीर्ण तथा असंकीर्ण [शुद्ध] होने के वैचित्र्य से दूसरे [तर्कानुमान आदि] से भिन्न है ॥९२॥

अप्रतीत की प्रतीति में अनुमान [अलंकार] मान्य है; पदार्थ अथवा वाक्यार्थ से हेतुरूप में निर्देश होने पर (९३) प्रतीत का समर्थन दो प्रकार का काव्यलिंग [अलंकार] माना जाता है। [जहाँ वाक्यार्थ] तटस्थरूप में उपन्यस्त होकर हेतुभाव प्राप्त करता है वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है ॥९३-९४॥

कार्यकारण-भाव की स्थिति में उस [काव्यलिंग] का [उद्भट ने] दूसरा ही लक्षण दिया है।

जहाँ प्राक् निर्दिष्ट [वस्तुओं] का पश्चात् निर्दिष्ट [अनुक्त वस्तुओं] के साथ क्रमशः सम्बन्ध हो (९५) वहाँ यथासंख्य [अलंकार] होता है, वह शाब्द तथा आर्थ [अनुनिर्देश] के रूप में दो प्रकार का माना गया है।

एक का अनेक [आधार] में और अनेक का एक [आधार] में (९६) क्रमशः रहना दो प्रकार का पर्याय माना जाता है। क्रम के कारण विशेष और समुच्चय से [पर्याय अलंकार के] ये दो भेद भिन्न हैं। विनिमय न रहने से परिवृत्ति [अलंकार] से भी इसका भेद है ॥९५-९७॥

अनेकार्थ के पृथक् रूप में तथा संहत [एक साथ] रूप में रहने से दो भेद हैं (९८) और उसके आधार तथा आधेय में रहने से चार भेद होते हैं।

विनिमय-परिवृत्ति [अलंकार] है, सम आदि [अधिक, न्यून] से [सम, न्यून, अधिक का विनिमय होने से] वह तीन प्रकार का है ॥९८-९९॥

अनेकत्र प्राप्त का एक में नियमन परिसंख्या है। प्रश्न तथा वर्जनीयता के रहने तथा न रहने से यह चार प्रकार की है ॥१००॥

न[1] परं युगपत्प्राप्तिः पक्षेऽपि प्राप्तिरिष्यते ।
परिसंख्यानियमयोरतो[2]ऽत्रालौकिकी स्थितिः ॥१०१॥

अर्थापत्तिस्तु [3]कैमुत्येनान्यार्थापत्तिरिष्यते ।
प्रकृताप्रकृतापातादियं च द्विविधा मता ॥१०२॥

विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पः सन्निपातिनोः ।
अश्लेषश्लेषभित्तित्वाद्[4] द्विधायमुपवर्ण्यते[5] ॥१०३॥

गुणक्रियायौगपद्ये[6] त्रिविधः स्यात् समुच्चयः ।
एकक्रियायामन्यस्य क्रिया त्वन्यः समुच्चयः[7] ॥१०४॥

सदसद्द्वैधयोगेन[8] स त्रिधा संव्यवस्थितः ।
समाधिः सम्यगाधानं कारणान्तरयोगतः ॥१०५॥

तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकमशक्तितः ।
उपमानस्य [9]कैमर्थ्यादुपमेयस्य[10] कल्पनात् ॥१०६॥

द्विधा प्रतीपं[11] क्वाप्येतदुपमानत्वतोऽपि च ।
निजेनागन्तुना[12] वापि लक्षणेनान्यगोपनम् ॥१०७॥

निमीलिताख्योऽलंकारो द्विप्रकारः प्रकाशितः ।
[13]प्रस्तुतस्यान्यतादात्म्यं सामान्यं गुणसाम्यतः ॥१०८॥

---

१. न वरम्—म० ।
२. °रतन्त्रा—म० ।
३. कैमुत्यन्यायार्था°—म०, कैमुत्येन्यार्थापात्—स० ।
४. सश्लेषाश्लेष°—म० ।
५. °मुपपद्यते—म० ।
६. यौगपद्यैः—नि० का० ।
७. एकक्रियायामन्यक्रियात्वमेकः समुच्चयः—म० ।
८. सदसद्भेदयोगेन द्विविधस्समुपस्थितः—म० ।
९. कैमर्थक्याद्—स० ।
१०. °मेयत्वकल्पना—म० ।
११. प्रतीपमाक्षेप उपमान°—म० ।
१२. निजेनागन्तुना वापि......आद्या बुद्ध्या परेऽन्यथा—म० पुस्तके नास्ति ।
१३. प्रस्तुतेनान्य—नि० का० ।

न केवल युगपत्-प्राप्ति अपितु पाक्षिकी प्राप्ति भी अभीष्ट होने से परिसंख्या तथा नियम का स्वरूप इस [अलंकारशास्त्र] में विलक्षण [अलौकिक, या मीमांसाशास्त्र से भिन्न] है ॥१०१॥

स्पर्धा-भाव से दूसरे अर्थों का [स्वतः] आ पड़ना अर्थापत्ति मानी जाती है। प्रकृत और अप्रकृत अर्थ के आपतन से यह दो प्रकार की है ॥१०२॥

दो समान बल वालों के एक साथ होने पर विरोध विकल्प [अलंकार] है। श्लेष के विना और श्लेष के आधार से होने के कारण इसे दो प्रकार का बताया जाता है ॥१०३॥

गुण तथा क्रिया की [व्यस्त तथा समस्त रूप में] एक साथ स्थिति तीन प्रकार का समुच्चय [अलंकार] है।

एक की क्रिया में अन्य की भी क्रिया [एक के साधक हेतु होने पर किसी दूसरे का स्पर्धा पूर्वक साधक बन जाना] द्वितीय समुच्चय [अलंकार] है ॥१०४॥

शोभन, अशोभन तथा इन दोनों के योग से यह तीन प्रकार का माना गया है।

किसी दूसरे कारण के सहयोग से सम्यग् आधान [कार्य की सुकर सम्पन्नता] समाधि [नामक अलंकार] है ॥१०५॥

सामर्थ्य का अभाव होने से [विरोधी] के सम्बन्धी का तिरस्कार प्रत्यनीक [अलंकार] है।

उपमान की अनुपयोगिता [अर्थात् उपमान के आक्षेप] से तथा (१०६) [उपमान की] उपमेय-कल्पना से प्रतीप [अलंकार] दो प्रकार का है। [उत्कृष्ट गुण वाला होने पर भी उपमेय की] उपमानरूपता से भी यह [अलंकार] होता है।

सहज अथवा आगन्तुक लक्षण के द्वारा [एक वस्तु से] दूसरी का गोपन (१०७) निमीलित नामक अलंकार है जो दो प्रकार का माना गया है।

प्रस्तुत का अन्य [अर्थात् अप्रस्तुत] के साथ गुणसाम्य के कारण तादात्म्य सामान्य [नामक अलंकार] है ॥१०६-१०८॥

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः[1] ।
न तद्गुणोऽननुहारस्तु गुणताद्रूप्ययोर्द्विधा ॥१०९॥

प्रश्नोह उत्तरं तस्माद् गूढं चासकृदुत्तरम् ।
आकूतव्यंजिकाश्चेष्टा[2] इंगितं बुद्धिकारिताः ॥११०॥

आकारः[3] पुनराम्नातस्ताः एवाबुद्धिकारिताः ।
तारापुटभ्रूदृष्टयादेर्विकारानिंगितं[4] विदुः ॥१११॥

आकाराः सात्वजा[5] भावा आद्या[6] बुद्धया परेऽन्यथा ।
सूक्ष्मं तु[7] सूक्ष्मं संलक्ष्य विदग्धेषु प्रकाशनम् ॥११२॥

इंगिताकारतः सूक्ष्मसंलक्षणमिति द्विधा ।
व्याजोक्तिर्व्याजवचनेनोद्भिन्नस्य निगूहनम् ॥११३॥

अपह्नवाय सादृश्य इष्टा[8] नापह्नुतिर्यतः ।
अन्यथायोजनं[9] वाक्ये वक्रोक्तिरभिधीयते ॥११४॥

द्विप्रकारा च विज्ञेया काकुश्लेषसमाश्रयात् ।
स्वभावोक्तिर्बुधोन्नेयवस्तुस्वाभाव्यवर्णनम्[10] ॥११५॥

अथ प्रतीतिवैचित्र्यतारतम्यनिरूपणैः ।
भाविकं [11]दूरदुर्लक्षं व्यक्तं व्याक्रियतेतमाम् ॥११६॥

योऽयं[12] प्रत्यक्षवद्भावस्त्वतीतानागतार्थयोः ।
तद्भावबिम्बनाच्चित्ते विनिवेशाच्च भाविकम् ॥११७॥

---

१. °दुत्कृष्टस्य—स० ।
२. आकृतिव्यञ्जिताश्चेष्टाः—रत्नापण, पृ० ४६५ ।
३. आकाराः पुनराम्नाताः—नि० का०; म० ।
४. तारकापुटदृष्टयादेः—सं० प्र० पृ० ३७८ ।
५. सात्त्विकाः—सं० प्र० पृ० ३७८ ।
६. पूर्वे—सं० प्र० पृ० ३७८ ।
७. तु—म० पुस्तके नास्ति ।
८. इत्थं—म० ।
९. अन्यथानयनं—म० ।
१०. बुधैर्नेय°—स० ।
११. हरदुर्लंघ्यम्—म० ।
१२. योऽयं प्रत्यक्षवद्भावः.............व्याख्याशिल्पस्य निकषः स मे धीमान् भविष्यति—म० नास्ति ।

अपने गुण का त्याग करके अत्यन्त उत्कृष्ट गुण का स्वीकार तद्गुण [नामक अलंकार] है।

गुण तथा ताद्रूप्य का स्वीकार न करना दो प्रकार का अतद्गुण [नामक अलंकार] है ॥१०९॥

[उत्तर से] प्रश्न का उन्नयन तथा गूढ़ असकृत् उत्तर देना उत्तर [नामक अलंकार] है।

आकूत [हृदय के भाव] को जताने वाली बुद्धिपूर्वक की गईं चेष्टाएँ इंगित कहलाती हैं ॥११०॥

यदि वे ही बुद्धिपूर्वक नहीं होतीं तो आकार कही जाती हैं। तारापुट, भ्रुकुटि तथा दृष्टि आदि के विकारों को इंगित मानते हैं ॥१११॥

आकार सात्त्विक भाव हैं, पहले [इंगित] बुद्धि से होते हैं तो दूसरे [आकार] अन्यथा [अबुद्धिपूर्वक] होते हैं। सूक्ष्म [अर्थ] का अनुसंधान कर उसका विदग्ध लोगों के प्रति प्रकाशन सूक्ष्म [नामक अलंकार] है ॥११२॥

इंगित तथा आकार के कारण सूक्ष्म का संलक्षण होता है अतः यह दो प्रकार है।

उद्भिन्न [वस्तु] का व्याज-वचन से गोपन व्याजोक्ति [नामक अलंकार] है (११३)। अपह्नव करने के लिए जो सादृश्य होता है उसमें चूँकि अपह्नुति नहीं मानी जाती है अतः व्याजोक्ति अपह्नुति अलंकार से भिन्न है।

[भिन्न अभिप्राय से कहे गए] वाक्य की अन्यथा योजना वक्रोक्ति कही जाती है ॥११३-११४॥

काकु तथा श्लेष का आश्रय लेने से इसे दो प्रकार का समझना चाहिए।

विदग्ध [व्यक्ति] द्वारा संवेद्य वस्तु के स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति [अलंकार] है ॥११५॥

अब प्रतीति के वैचित्र्य का तरतम बताते हुए बड़ी कठिनता से परि-भाषित हो सकने वाले भाविक को स्पष्टता के साथ निरूपित किया जा रहा है ॥११६॥

अतीत और अनागत अर्थों का यह जो प्रत्यक्ष-सा होना है वह चित्त में भाव के बिम्बित होने तथा विनिवेश के कारण भाविक [अलंकार] है ॥११७॥

नाविपर्ययतो[1] भ्रान्तिः साक्षात्त्वान्नेतिवृत्तकम् ।
अन्यत्वानध्यवसितेर्न चात्रातिशयोक्तिता ॥११८॥

न परं वर्तमानार्थधर्मः प्रत्यक्षतेष्यते ।
प्रतिपत्त्रनपेक्षायां प्रत्यक्षत्वपरिक्षयात् ॥११९॥

प्रत्यक्षत्वे च[2] सामग्री भावनाद्भुतवस्तुजा ।
प्रत्यक्षत्वं न सम्भाव्यमिह नोत्प्रेक्षणं ततः ॥१२०॥

अलिंगलिंगिभावाच्च काव्यलिंगं न चेष्यते ।
ताटस्थ्यात्[3] स्फुटसंवित्तेर्न तदा रसवद्भ्रमः ॥१२१॥

पश्चात् साधारणीभावे रसवांस्तन्निमित्तकः ।
स्फुटत्वान्न स्वभावोक्तिर्लोकोत्तीर्णस्य वस्तुनः ॥१२२॥

स्वभावोक्ते रसवतो भेदः संवादभेदतः ।
न प्रसादगुणश्चैतद् यस्मादौत्तरकालिकम् ॥१२३॥

वास्तवेऽपि च सौन्दर्ये योग्यत्वादस्य सम्भवः ।
चिरन्तनानुरोधात् तु तथा व्यक्तं न कीर्तितम् ॥१२४॥

भाविके बुद्धिसंवादो मया स्याद् यदि कस्यचित् ।
व्याख्याशिल्पस्य निकषः स मे धीमान् भविष्यति ॥१२५॥

उदात्तं तु समृद्धस्य वस्तुनः कविवर्णनम् ।
अङ्गचन्तरङ्गतापन्नं[4] महच्चरितलक्षणम् ॥१२६॥

द्वितीयोदात्तविषयो व्याप्तो रसवदादिभिः ।
रसभावगुणीभावादनौचित्यप्रवृत्तितः ॥१२७॥

---

१. नापि पर्यायतो—नि० का० ।

२. स्वसाग्रमीभावना भूतवस्तुजा—नि० का० ।
च साग्रमीभवनाद् भूतवस्तुजा—स० ।
पाठद्वयमप्यशुद्धमपार्थं चास्तीति पाठान्तरमत्र योजितम् ।

३. ताटस्थ्यास्फुट°—स० ।

४. अङ्गयरङ्गतापन्नं...त्रिधा तु संकरः शब्दालंकृत्योरेकवाचके ।
—म० नोपलभ्यते ।

विपर्यय [विपरीत-बुद्धि] न होने से यह [भाविक-प्रतीति] भ्रान्ति नहीं है और साक्षात्कारिता [अनुभूति की प्रत्यक्षता] के कारण यह इतिवृत्त भी नहीं है। इसमें अतिशयोक्ति का स्वरूप भी नहीं है क्योंकि अन्यरूप में अध्यसाय [अर्थात् निश्चय-ज्ञान] नहीं होता है ॥११८॥

इसमें प्रत्यक्षता भी मानना अभीष्ट नहीं है क्योंकि अर्थ का वर्त्तमान होना उस [प्रत्यक्षता] का धर्म है। प्रतिपत्ता की अपेक्षा न रहने पर प्रत्यक्षता समाप्त हो जाती है ॥११९॥

[भाविकालंकार में अतीत और अनागत अर्थों के] प्रत्यक्षभाव में अद्‌भुत वस्तु से उत्पन्न होने वाली भावना ही सामग्री [करण] है। चूँकि इसमें प्रत्यक्ष का अध्यवसाय नहीं होता है [अर्थात् अप्रत्यक्ष की प्रत्यक्ष के रूप में सम्भावना नहीं होती है] अतः उत्प्रेक्षा भी नहीं है ॥१२०॥

गम्यगमकभाव न होने से काव्यलिंग भी मानना अभीष्ट नहीं है। [भाविक की प्रतीति में] तटस्थता [अहम् और इदम् की भिन्न प्रतीति] होने से स्फुटरूप में [अर्थात् एक दूसरे का भेद स्पष्ट बना रहता है] अनुभूति होने से रसवद् का भी भ्रम [भाविकालंकार में] नहीं हो सकता है ॥१२१॥

साधारणीभाव हो जाने के पश्चात् उसके निमित्त से रसवत् होता है।

अलौकिक वस्तु के स्फुट होने से यह स्वभावोक्ति भी नहीं है [स्वभावोक्ति में वस्तु लौकिक होती है भाविक में लोकोत्तीर्ण] ॥१२२॥

स्वभावोक्ति और रसवत् का भेद संवाद-भेद के आधार पर होता है [स्वभावोक्ति में वस्तु-संवाद होता है और रसवत्‌में हृदय-संवाद] यह [भाविकालंकार] प्रसाद गुण भी नहीं है क्योंकि यह उत्तरकालिक है। प्रसाद गुण द्वारा उपस्थापित अर्थों के ज्ञान के बाद ही भाविक की अनुभूति का जन्म होता है ॥१२३॥

[लोकोत्तीर्ण या अद्‌भुत में नहीं अपितु] वास्तव सौन्दर्य में भी यह [अलंकार] अपनी शक्ति के कारण संभव है किंतु प्राचीन [परम्परा] का अनुरोध स्वीकार कर इस स्वरूप को स्पष्टतः [हमने] नहीं बताया है ॥१२४॥

भाविक [अलंकार] के सम्बन्ध में किसी दूसरे व्यक्ति की समझ का यदि मेरे साथ मेल हो जाए तो वह मनीषी मेरे व्याख्या-शिल्प की कसौटी बनेगा ॥१२५॥

समृद्ध वस्तु का कवि द्वारा [प्रातिभ] वर्णन उदात्त [नामक अलंकार]है।

महापुरुष का अंगभाव को प्राप्त चरित (१२६) द्वितीय उदात्त [अलंकार] का विषय है जो रसवत् आदि [अलंकारों] से व्याप्त है।

रस, और भाव के गुणीभाव से तथा अनुचित रूप में प्रवृत्ति से (१२७)

रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितचतुष्टयम् ।
रसवत्त्वप्रियत्वाभ्यामूर्जःप्रशमयोगतः ॥१२८॥

निबन्धनं रसवदाद्याख्यां संप्रतिपद्यते ।
स्थितिप्रशमवद् भावस्योदयः सन्धिरेव च ॥१२९॥

शाबल्यं तु गुणीभावे पृथक् पृथगलंक्रियाः ।
तिलतण्डुलनीत्या संश्लेषः संसृष्टिरिष्यते ॥१३०॥

सा शब्दार्थोभयगतैरलंकारैस्त्रिधा मता ।
अंगांगिभावात् सन्देहात् प्रवेशादेकवाचके ॥१३१॥

त्रिधा तु संकरः शब्दालंकृत्योरेकवाचके ।
शब्दन्यासो विषमविषमो[1] दुर्घटार्थव्यवस्था,
[2]व्याप्त्यव्याप्तिप्रकटनपटुर्न्यायिचर्चो[3] गभीरः ।
इत्थं भूम्ना[4] रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोऽयं,
टीकास्माभिः[5] समुपरचितानेन[6] संजीविनीयम् ॥१३२॥

[7]सूक्ष्मामव्याकुलामत्र शास्त्रयुक्त्युपबृंहिताम् ।
मीमांसामुपजीवन्तु कृतिनः काव्यतान्त्रिकाः ॥१३३॥

काव्यप्रकाशेऽलंकारसर्वस्वे च [8]सचेतसाम् ।
[9]अत्यादरो जगत्यस्मिन् व्याख्यातमुभयं ततः[10] ॥१३४॥

॥ समाप्तेयं श्रीविद्याचक्रवर्तिकृता अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका ॥

---

१. विषयविषमो दुर्लभार्थ°—म० । २. व्याप्तिः व्याप्त°—म० ।
३. °प्रकटनपरम्—स० । ४. भीमो—म० ।
५. किंवास्माभिः—म० ।
६. तेन—स० ।
७. कारिकैषा नि० का० नास्ति ।
उपलभ्यते—म०, स०, सं० प्र० ।
८. विपश्चिताम्—म० ।
९. येनादरो महांस्तेन—स०, सं० प्र० ।
अत्यादराज्जगत्यस्मिन्—एवमपि पाठः स० पुस्तके लिपिकेन कृतः ।
अलंकारजगत्यस्मिन्—म० ।
१०. सह—म०, सं० प्र० । स० पुस्तकेऽपि पाठोऽयं लिपिकेनैकत्र स्वीकृतः ।

रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वी, समाहित, ये चार [अलंकार] होते हैं।

रसवत्ता, प्रियता, ऊर्ज [बल], और प्रशम के योग से (१२८) निबन्धन [क्रमशः] रसवत् आदि [प्रेयः, ऊर्जस्वी तथा समाहित] संज्ञा प्राप्त करता है। स्थिति और प्रशम की भाँति, भाव का उदय तथा सन्धि (१२६) और शबलता, गुणीभाव की स्थिति में भिन्न-भिन्न अलंकार हैं।

तिल-तण्डुल की भाँति संश्लेष संसृष्टि [अलंकार] माना जाता है ॥१२६-१३०॥

यह शब्द, अर्थ तथा उभय के अलंकारों से [संश्लिष्ट होने के कारण] तीन प्रकार का माना गया है।

अंगागिभाव से, सन्देह से, एक वाचक में अनुप्रवेश से (१३१), [इस प्रकार] शब्दालंकारों के एक वाचक में रहने से संकर तीन प्रकार का होता है।

शब्दों का विन्यास कठिन से भी कठिन है, अर्थों की योजना दुरूह है, व्याप्ति और अव्याप्ति को बताने में निपुण गहरी न्याय-चर्चा है, इस प्रकार रुचक का यह वाग्-विस्तार कर्कश है। इसीलिए हमने यह संजीविनी टीका बनाई है ॥१३२॥

इस [टीका] की सूक्ष्म, विशद तथा शास्त्रीय युक्तियों से समृद्ध मीमांसा का कृती काव्यशास्त्री सहारा लें ॥१३३॥

काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व का इस जगत् में सहृदय अत्यन्त आदर करते है अतः दोनों की व्याख्या हमने की है ॥१३४॥

॥ इति श्रीविद्याचक्रवर्ति-कृत अलंकारसर्वस्व-निष्कृष्टार्थ-कारिका ॥

संस्करण में प्रयुक्त विशिष्ट संकेताक्षर

नि० का०—**निष्कृष्टार्थकारिका जो त्रिवेन्द्रम से प्राप्त हस्तलिखित प्रति के अन्त में दी हुई है।**

म० —**मैसूर पुस्तकालय से प्राप्त हस्तलिपि जो प्रायः अशुद्ध थी।**

स० —**सञ्जीविनी, यूनिवर्सिटी मैनस्क्रिप्टस लाइब्रेरी, त्रिवेन्द्रम से प्राप्त हस्तलिपि जिसके अन्त में निष्कृष्टार्थकारिका दी हुई है।**

स० प्र० —**सम्प्रदायप्रकाशिनी।**

टिप्पणी—इन पाण्डुलिपि के विशिष्ट विवरण के लिए लेखक द्वारा सम्पादित अलंकारसर्वस्व तथा संजीविनी का संस्करण द्रष्टव्य है।

अलंकारानुक्रमणिका

अलंकार-भेदों को मूल अलंकार के माध्यम से ही सूचित किया गया है। उद्धरण तथा टिप्पणी के अलंकार एकत्र उल्लिखित हैं। किसी अलंकार-भेद के स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकृति होने पर उसका पृथक् निर्देश कर दिया गया है।

अ

अंग ५३-५५
अचिन्त्य ५५
अतद्गुण ५८-५९, १८३, १९०,१९३, २०२, ४०२-३
अतिशयोक्ति ३, ४२, ५१, ६०, ७९, ८२, १२२, १३८, १४६, १४८-४९, १५१, १५३-५६, १८०, १८३, १८५-९०, १९७, १९९, २०४, २०६, २०९-१२, २६८, २७२, २७९-८०, २८४-८७, २९७-९८, ३०२-३, ३०५, ३०८-१८, ३४८-५०, ३८२-८३, ३८६-८७, ३८९, ४०४-५
अतिशयोक्ति (द्वितीय) १९०, १९९, ३९६-९७
अधिक ३, १४०, १८१, १८३, १९०, ३९६-९७
अध्येय १५६
अनंग ५३-५५
अनन्वय ३, ५०, ७७-७८,११८, १२०, १४६, १५०-५१, १५३-५४, १८३, १८५, १८९, २००,२०८, २११-१३, २१८, २३३-२४१, २४९, ३८०-८३
अनादर ५२, ५४
अनुकृति ५५
अनुज्ञा १४३
अनुप्रास २८, ४९-५०, ६५-६६, ११०-११, १२३, १२६-२७, १४५, १४८-४९, १५३-५८, १६१, १७४, १७७-७८, १८०, २३६, ३८०-८१
अनुमान ३, ५२, ७५, १३८, १५६, १८१, १९१, २४७-४८, २६८, ३६७, ३७०, ३९८-९९
अनुषंग १४१
अन्योक्ति १८१
अन्योन्य ३, ५२, १५६, १८१, १९०, ३९६-९७
अपह्नुति ४, ११, १६, २८, ५१, ८२, १२२, १२८, १४६, १४९, १५१, १५३-५४, १५६, १७९, १८१, १८३, १८५, १८९, १९७, २००-२०१, २०९, २११-१२, २५१, २६८, २८८-९५, २९७, ३८२-८३, ४०२-४०३

अप्रत्यनीक ५३-५५
अप्रस्तुतप्रशंसा २६, २९, ३६, ५१, ७६, ११२, ११५-१६, ११८, १२०, १४६, १४९, १५३-५४, १५६, १८३, १८७-८९, १९५, २०२, २११-१२, ३६७-६८, ३७२, ३९२-९५
अप्रस्तुतस्तोत्र, १४९
अभिनीति १५६
अभाव १५६
अभीष्ट ५३-५४
अभेद ५५, २६०-६१
अभ्यास ५३-५४
अर्थान्तरन्यास ३, ५१, १४६-४७, १५०, १५३-५४, १५६, १६१, १७९, १८१, १८७, १८९, १९१-९२, २००, २११-१२, ३३२, ३६५, ३६७-७८, ३९२-९५, ३९८-९९
अर्थापत्ति ५३, १४३, १५६, १९२, ३३८-३९, ४००-४०१
अल्प १४३
अवयव १८१
अवसर १५५, १८१
अवरोह ५५
अविशेष १८१
अशक्य ५५
असंगति ३-४, ५१, १८१, १८३, १९०, २००, ३१६-१७, ३९५-९७
असंभव १८१
असंभावितोपमा २१८
असम ५०, ५४, २३७-३८
अहेतु १५६, १८१
आक्षेप ५१, ११२-१३, ११७-१८, १२०, १४६, १४८-५०, १५३-५६, १८१, १८७-८९, २००, २१२, २५१, ३६७, ३९४-९५
आक्षेप (द्वितीय) ५१, ८३, ११७, २००, ३९४-९५
आगम १५६
आदर (द्वितीय) ५२, ५४
आपत्ति ५५
आवृत्ति १४९-५०, १५३
आशीः १४४, १४६, १४८-४९

उ

उक्ति १५६
उत्तर ३, ५३, ५९-६०, १५६, १८१, १९०, १९२-९३, ४०२-४०३
उत्प्रेक्षा २८, ३२, ३९, ५१, ७५, ७८, ८२, १४६, १४८-४९, १५१, १५३-५४, १५६-५७, १६७-६८, १८१, १८३, १८५, १८७, १८९, १९७-९९, २०४, २०९, २११-१२, २६४, २७२, २७९, २९१, २९६-९८, ३००-३०९, ३११, ३३४-३६, ३६५, ३८६-८७, ३८९, ३९२-९३
उत्प्रेक्षावयव १४६, १५०-५१, १५३-५४, ३०९
उत्प्रेक्षोपमा ३०९
उदात्त (प्रथम) १२, ५४, ६०, १४६, १४९, १५१, १५३-५४, १९२-९५, २०१-२०२, ४०४-४०५

उदात्त (द्वितीय) ९, ११, १५५, १६४, २०१, ४०४-४०५
उदार (सार) ३
उदाहरण ५१, ५४, ३७३
उद्भेद ५५
उद्रेक ५२, ५४-५५
उपन्यास १५५
उभयन्यास १८१, ३२६
उपमा २६, २८, ३९, ४२, ५०, ५७-५८, ६०, ७४-७६, ७९, ८२, ८५, ९१, ११०, १२२-२४, १२६-२८, १४१, १४४-५४, १५६, १५८, १६०-६१, १६७-६९, १८०-८१, १८३, १८५, १८७-८९, १९५, १९७-९८, २०४-१९, २२१-२३, २२५-३२, २३८-४०, २४२, २४९-५०, २५४, २५६, २५८, २६२, २७०, २७६, २८९, २९५-९७, ३०५ ३०७-३०९, ३२०, ३२६-२७, ३३३, ३४७, ३५३-५४, ३५९-६३, ३७४, ३७८, ३८२-८३, ३८६-८९, ३९१-९३
उपमारूपक १४६, १४९, १५१, १५३-५४
उपमान १५६
उपमेयोपमा ४, ४२, ५०, ८२, ११२, ११५, १२०, १४६, १४९, १५३-५४, १८३, १८५, १८९, १९७, २००, २०८, २११-१२, २१७-३१, २३९-४२, २४९, ३२०, ३८२-८३
उल्लेख ४, ५१, ७६, ७९-८०, १८५, १८९, १९७, २००, २०९, २१२, २८३-८७, ३१२, ३८४-८७

ऊ

ऊर्जस्वी ९, ७४, १२२, १४६, १४९, १५३-५४, १६४, ४०६-४०७

ए

एकावली ३, १८१, १९१, २०२, ३९६-९७

क

कल्पितोपमा २१८-१९, २३०-३१
कारकदीपक १४३
कारणमाला ३, १८१, १९१, १९८, २०२, ३९६-९७
काव्यलिंग (काव्यहेतु) ३, ७५, १५३, १९१, १९८, २४७-४८, ३६९-७१, ३९८-९९, ४०४-४०५
क्रम २८, ५५, १४९-५०, १५४, १५६
क्रियातिपत्ति ५०, ५४

ग

गति १५६
गुम्फना २८, १५६
गूढ ५५, १५६
गूढोक्ति १४३
ग्राम्यानुप्रास १४५

च

चित्र २-४, २८, ५०, ५४, १५५-

५६, १७५-७७, १८०, १८४, १९८, ३८२-८३

छ

छाया १५६
छेकानुप्रास ६६, १५३, १६०, १७७-७८, १८४, ३८०-८१
छेकोक्ति १४३

ज

जाति १५५-५६, १८१

त

तत्त्व १८१
तत्सदृशादर (प्रथम) ५०, ५४
तत्कर ७६
तद्गुण ५३, १८१, २००, २०२, ४०२-४०३
तन्त्र ५३-५५
तात्पर्य ५०, ५४
तुल्य ५२, ५४-५५
तुल्ययोग-दीपक ३२५
तुल्ययोगिता ३३, ३६, ८२, १२२, १४१, १४६, १४९, १५१, १५३-५४, १५६, १८३, १८६-८६, १९९, २०८, २१०-१२, ३१९-२८, ३५०, ३८८-८९
तुल्ययोगिता-दीपक ५१, ३१९, ३२१-३२५

द

दीपक २८, ३६, ७६, ८२, १२२, १२८, १४१, १४४, १४६, १४८-५०, १५३-५४, १५६, १८१, १८३, १८६-८७, १८९, १९९, २००, २०८, २१०-१२, ३१९-२८, ३८८-८९
दृष्टान्त (काव्यदृष्टान्त) १२, ५१, १५३, १८१, १८३, १८६-८७, १८९, २१०-१२, २२७, २९८, ३२६, ३३०-३२, ३३६-३७, ३३९, ३६८, ३७२, ३८८-९३

न

निदर्शना (निदर्शन, विदर्शना) १२, ५१, ८२, १४१, १४६, १४९, १५१, १५३-१५४, १५६, १८३, १८६-८७, १८९, १९९-२००, २१०-१२, २४५, २९३-९४, ३२६, ३२८, ३३३-३९, ३९०-३९१
निपुण १५५
नियम ५५, ५९, ६०
निश्चय ५१, ५४, २३१, २८०

प

पठिती २८, १५६
परभाग ५२, ५४-५५
परिकर ४, ५१, १५६, १८१, १८७, १८९, १९९, २०२, २१२, ३६७, ३९२-९३
परिणाम ४, ५०, ७५, ८२, १८५-८६, १८९, २०१, २०८-२०९, २११-१२, २९२-९९, २९३-

६४, ३८४-८५
परिवृत्ति ४, १४६, १४६, १५३-५४, १५६, १८१, १६२, ३६८-६६
परिसंख्या ५३, ७६, १८१, १६०-६२, २००, ३६८-४०१
पर्याय ४, ५२, १५६, १८१, १६२, ३६८-६६
पर्याय (द्वितीय) २, ३६८-६६
पर्यायोक्त ३-४, १२, ५१, ११२, ११५, ११८, १२०, १२३, १२५, १२८, १४६, १४६, १५३-५४, १८७, १८६, २१२, ३६७, ३६२-६५
पिहित १५५, १८१
पुनरुक्तवदाभास ५, १०, ३४, ६४, १३६, १५३, १५६, १६०-६१, १६४, १६८, १७०-७२, १७६, १८४, १६७, ३८०
पूर्व १८१, ३१८
प्रतिप्रसव ५३-५५
प्रतिबन्ध ५४
प्रतिभा ५५, १४१
प्रतिमा ५५
प्रतिषेध १४३
प्रत्यक्ष १५६
प्रत्यादेश ५५
प्रत्यूह ५३-५५
प्रतिवस्तूपमा १४६, १५३-५४, १८३, १८६-८७, १८६, १६६-२००, २१०-१२, २३१, ३२६-२८, ३३०-३२, ३३८, ३७२, ३८८-८६
प्रतीप ३, ५३, ११७, १५५, १८१, १८३, १८६, १६२-६३, २३१, ४००-४०१
प्रत्यनीक ५३, ५५, १८१, १६२, १६८, ४००-४०१
प्रश्नोत्तर १५६
प्रसंग ५२, ५४
प्रस्तुतांकुर १४३
प्रहेलिका १५६
प्रेक्ष्य १५६
प्रेयः (प्रेयान्, प्रेयस्वत्) ६, ७४, ८१, १०३-१०४, १२२, १४६, १४८-४६, १५१, १५३-५४, १६४, २४६-४७, ४०६-४०७

भ

भणिति १५६
भाव ८०-८१, ११८-२०, १५५-५६, १८१
भावशबलता ६, १४, १६३-६४, ४०६-४०७
भावशान्ति ६
भावसन्धि ६, १४, १६४, ४०६-४०७
भाविक (भाविकत्व) ३, १०, ५४, ७५-७६, १०६, १३८, १४६, १४८-४६, १५३-५४, १५६, १६०, १६३-६४, २००, २०२-२०७, ४०२-४०५
भावोदय ६, १४, १६४, ४०६-४०७
भाषासम १७७
भेद १५६
भ्रान्तिमान् (भ्रान्ति, भ्रम) ३, २८,

५०, ६१, १५६, १८१, १८३, १८५, १८६, १९७, २००, २०६, २११-२१२, २३१, २६८, २७७-८२, २८४-८५, २८७, २९०, २९७, ३०२, ३८४-८७

म

मत १५५, १८१, ३०६

मालादीपक ३, १९१, १९९-२००, २५५, ३९८-९९

मिथ्याध्यवसिति १४३, १९२

मीलित (निमीलित) ३, ५३, १५६, १८१, १८३, १९२, २०२, ४००-४०१

मुद्रा २८, १४३, १५६

यथासंख्य ७६, १४६, १४८-४९, १५३, १८१, १९२, १९८, ३९८-९९

य

यमक २८-२९, ४९, ७४, ७६, ७९, ८५, १२४, १३४, १४४-४५, १४८, १५२-५८, १६४-६१, १७४, १७७-७८, १८०, १८४, १९८

युक्ति २८, १४३

र

रत्नावली १४३

रसवत् ९, ७४, १०३-१०४, १२२, १४६-४७, १४९, १५१, १५४, १९३-९४, १९७-९८, २००, ४०४-४०७

रसवदादि ११-१२, ३९, ५४, १०९, १२३, १४३, १९३, १९५, ४०६-४०७

रीति १५६

रूपक १२, २६, २८, ३१-३२, ३९, ४२, ५०, ६०-६२, ७५-७६, ८०, ८२, ८५, १०२, १२२-२३, १३४, १४१, १४४, १४६, १४८, १५६, १६१, १६४, १७८-७९, १८१, १८३, १८५-८९, १९८-९९, २०१, २०८, २११-१३, २१८, २५०-५१, २५३-६३, २६६, २६८-६९, २७९, २८४-८५, २८७, २९०, २९३-९७, ३००-३०२, ३०८-३०९, ३१५, ३३६-३७, ३५४-५६, ३६१-६३, ३८२-८७, ३९०-९१, ३९७

ल

ललित १४३, १९२

लाटानुप्रास १०, २८, ४२, ६४-६६, ७९, ११२-१३, १४३, १५३, १५६-५७, १६०-६१, १७७-७९, १८४, २३६-३७, २६५, ३८०-८१

लेश (लव) १०४, १४४, १४६, १४९-५१, १५३, १५५-५६, १८१, २०४

लोकोक्ति १४३

व

वक्रोक्ति ३, १०, २८-२९, ५४, ८९,

९७, ९९, १०५, १०८, १०९, ११३, १२५, १२९, १३२, १३५, १५४-५६, १७०, १७४-७५, १८०-८१, १९३-९४, २०१, २०४, २०६, ४०२-४०३
वर्धमानक ५५
वाकोवाक्य १५६
वार्ता १५५
विकल्प ५३, १९२, २०२, ४००-४०१
विकल्पाभास ५५
विचित्र ५१, ७६, १९०, ३९६-९७
वितर्क ५०, ६१-६२, १५६, २७५-७६
विधि ५३-५४, १४३
विध्याभास ५५
विनोक्ति ४, ५१, ६२, ६६-६७, १४०, १८७, १९०, १९३, २०१-२०२, २११, ३५०-५१
विनोद ५०, ५४
विपर्यय ४, ५०, ५४
विभावना २८, ५१, १४६, १४९, १५३-५४, १५६, १८१, १८३, १९०-९१, २०२, ३९४-९५
विरोध ३, ४, ३८, ५१, ७६, १४५, १४९, १५१, १५३-५४, १५६, १८१, १८३, १९०, १९८, ३९४-९५
विरोधाभास १३९, १८१, ३१६-१७
विवृतोक्ति १४३
विवेक ५३-५४
विशेष ४, ५२, १४०, १४९, १८१, १८३, १९०, २००, २४७-४८, ३३५-३६, ३९६-९९
विशेषक १४३
विशेषोक्ति ४, ३२, ५१, ५८-५९, ११२-१३, १२०-२१, १४१, १४६, १४९, १५१, १५३-५६, १८३, १९०-९२, २०२, ३१२, ३९४-९५, ३९७
विषम १८, ५१, १४०, १८१, १८३, १९०-९१, २००-२०२, २७८, ३९६-९७
विषम (द्वितीय) ५१
वृत्ति १५६
वृत्त्यनुप्रास ४, १०, ११, ३५, ५०, ६६, ७६, १५३, २७७-७८, १८४, ३८०-८१
वैधर्म्य ५२, ५४-५५
व्यतिरेक ४, ११, १५, २८, ३७-३८, ५१, १४६, १४९-५०, १५३-५४, १८१, १८३, १८५-८७, १८९, २१०-१३, २५१, ३४०-४६, ३९०-९१
व्यत्यास ५५
व्याघात १८१, १८३, १९०, २००, ३९६-९७
व्याघात (द्वितीय) ५२, १९०, ३९६-९७
व्याजश्लेष १५५
व्याजस्तुति ३-४, ७६, ११२, ११८, १२०, १३९, १४६, १४९, १५१, १५३-५६, १८७, १८९, २१२, ३६७, ३९४-९५

व्याजोक्ति ४, १६, ५३, १५४-५५, १८१, १९३-९४, २०१-२०२, ४०२-४०३
व्याप्ति ५२, ५४
व्यासङ्ग ५५

श

शय्या १५६
शृङ्खला ५२, ५४
श्रव्य १५६
श्लिष्ट १४६-४७, १५१-५३
श्लेष ४, १०, १६, २८, २९, ३७-३८, ४२, ५१, ५८, ७५-७६, १४६, १४९, १५४-५६, १५९-६०, १६२-६४, १७०, १७२-७५, १७८-८१, १८७, १८९, १९९, २०२, २०४, २०६, २११-१२, २२७-३०, २५९-६०, २८४, २८६-८७, ३४८-४९, ३५२-५५, ३५८, ३५९-६१, ३६७, ३८४-८९, ३९२-९३, ४००-४०१

स

संकर १२, २८, ३७-३८, ५४, ६०-६१, ७६, १५३, १७८-७९, १८१, १९६-९७, ३६१-६३, ३९०-९१, ३९४-९५, ४०६-४०७
संभव ५३-५४, १५६
संभावना १९२
संसृष्टि ५४, ७६, ७९, १४६-४७, १४९, १५१, १५३-५४, १५६, १५९, १७८-७९, १९३, १९६-९७, ३०९, ४०६-४०७
संस्कार ५०, ५४-५५, ६१-६२, २८०-८२
सन्देह (ससन्देह, संशय) ४, ११, २८, १२२, १४६, १५०-५१, १५३-५४, १५६, १८१, १८३, १८५, १८९, २००, २११-१२, २३१, २७०-७६, २७९, २८७, २९७-९८, ३८४-८५
सन्देहाभास ५५
सम ५१, १९०, २०२, ३९६-९७
समता ५२, ५४
समाधि ३, ५३, १०४, १५६, १९२, २००, ४००-४०१
समासोक्ति २६, ३६, ३९, ५१, ६०, ११२, ११६, ११८, १२०, १२९, १४६, १४९, १५१, १५३-५६, १८१, १८३, १८६-९०, १९९, २०२, २०८, २११-१२, २६३, ३५२-६०, ३६२-६७, ३८४-८५, ३९०-९१, ३९३
समाहित ९, ७४, १२२, १४६, १४९, १५३-५४, १५६, १९४, ४०६, ४०७
समुच्चय ५३, ७६, १५६, १८१, १९२, २०२, ३२५, ३९८-९९, ४००-४०१
समुच्चय (द्वितीय) १९२, ४००-४०१
सहोक्ति ४, २६, २९, ५१, ६७, ७६, ८२, १४६, १४९, १५१, १५३-

५४, १५६, १८१, १८६-८७, १८९, २०१-२०२, २१०-१२, ३४७-५१, ३९०-९१
सामान्य ५३, १८३, १९२, ४००-४०१
साम्य २८, १५५-५६, १८१
सार १८१, १९१, ३९८-९९
सूक्ष्म ३-४, ५३, ६२, १०४, १४४ १४६, १४९-५१, १५३-५४, १५६, १८१, १८३, १९३-९४, १९८, २०२, २०४, ४०२-४०३
स्मरण (स्मृति) ३-४, ५०, १५६, १८१, १८३, १८८-८९, १९५, १९७, २००, २०८, २११-१२, २४३-२४९, २५५, ३३४, ३३६, ३८२-८३
स्वभावोक्ति ४, ५४, ७५,१०३-१०५, १०९, १३८, १४६-५०, १५३, १५५, १८०, १९३-९४, २०१-२०२, २०४, २०६, ४०२-४०५

ह

हेतु ५५, १०४, १४४-४६, १४९-५१, १५५-५६, १८१, २०४

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

इस सूची में काव्य, नाटक आदि को सम्मिलित नहीं किया गया है। काव्यप्रकाश जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थों के विभिन्न संस्करणों में से एक-दो का ही उल्लेख किया गया है।

संस्कृत

अप्पय्यदीक्षित —चित्रमीमांसा, काव्यमाला ३८, १९४१।

,, —कुवलयानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५६।

अभिनवगुप्त —ध्वन्यालोकलोचन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९४०।

,, —अभिनवभारती, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, १९५४।

आनन्दवर्धन —ध्वन्यालोक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९४०।

उद्भट —काव्यालंकारसारसंग्रह, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, १९३१।

,, —काव्यालंकारसंग्रह, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२८।

कल्हण —राजतरंगिणी।

कविकर्णपूर —अलंकारकौस्तुभ, राजशाही, १९२६।

कुन्तक —वक्रोक्तिजीवित, सं० डा० दे, ढाका, १९२७।

कुमारस्वामी —रत्नापण, (प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीका), गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९०९।

केशवमिश्र —अलंकारशेखर, काशी संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९२७।

क्षेमेन्द्र —औचित्यविचारचर्चा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९।

,, —कविकण्ठाभरण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२९।

जगन्नाथ, पंडितराज —रसगंगाधर, काशी संस्करण तथा काव्यमाला १२, निर्णयसागर प्रेस, १९१६।

जयदेव, पीयूषवर्षी —चन्द्रालोक, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, १९३९।

जयरथ —विमर्शिनी (अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी), निर्णयसागर प्रेस, १९३९।

,, —विवेक (तन्त्रालोकटीका), तत्त्वविवेचक मुद्रणालय, बम्बई।

जल्हण —सूक्तिमुक्तावली, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, १९३८।

तिलक —विवृति (काव्यालंकारसारसंग्रह-टीका), ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, १९३१।

दण्डी —काव्यादर्श, सम्पादक वी० नारायण अय्यर, मद्रास-१।

धनंजय तथा धनिक —दशरूपक तथा अवलोक, बम्बई संस्करण।

नरेन्द्रप्रभ सूरि —अलंकारमहोदधि, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा, १८४२।

नमिसाधु —वृत्ति (रुद्रट के काव्यालंकार पर टीका), निर्णयसागर प्रेस, १९२८।

प्रतिहारेन्दुराज —लघुवृत्ति (काव्यालंकारसंग्रह-टीका), निर्णयसागर प्रेस, १९२८।

भट्टगोपाल —साहित्यचूडामणि (काव्यप्रकाशटीका), अनन्तशयन-संस्कृत-ग्रन्थावलि, १९२६, १९३०।

भट्टनायक —हृदयदर्पण (अप्राप्य)।

भट्ट, देवशंकरपुरोहित —अलंकारमंजूषा, ओरियन्टल मैनस्क्रप्टस् लाइब्रेरी, उज्जैन।

भरत —नाट्यशास्त्र, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा।

भर्तृहरि —वाक्यपदीय, सरस्वतीभवन ग्रंथमाला वाराणसी, १९६३।

भामह —भामहालंकार (काव्यालंकार), बालमनोरमा प्रेस, मद्रास, १९५६।

भोजराज (भोजदेव) —सरस्वतीकण्ठाभरण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४।

मंखक —श्रीकण्ठचरित, निर्णयसागर संस्करण।

मम्मट —काव्यप्रकाश, (वामनाचार्य झलकीकर की टीका), पूना।

मम्मट —काव्यप्रकाश, अनन्तशयन संस्कृत-ग्रन्थावलि, नं० ८८, १००, सन् १९२६, १९३०।

" —काव्यप्रकाश (दशम उल्लास), एस० एस० सुक्थंकर (संपादक), कर्नाटक पब्लिशिग हाउस, बम्बई-२।

" —काव्यप्रकाश, ओरियन्टल बुक ऐजेन्सी, पूना २।

मल्लिनाथ —तरल (एकावली-टीका), बम्बई संस्कृत एन्ड प्राकृत सीरीज, नं० ६३, बम्बई, १९०३।

महिमभट्ट —व्यक्तिविवेक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस, १९३६ तथा त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज नं० ५, १९०९।

माणिक्यचन्द्र —काव्यप्रकाशसंकेत, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, नं० ८९, १९२१।

मुकुलभट्ट —अभिधावृत्तिमातृका, काव्यमाला संस्करण।

राजशेखर —काव्यमीमांसा, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा, १९२४।

रुद्रट —काव्यालंकार, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२८।

रुय्यक —अलंकारसर्वस्व, निर्णयसागर प्रेस, १९३९।

" —अलंकारसर्वस्व, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि ४०, त्रिवेन्द्रम।

" —अलंकारसर्वस्व, शारदासंस्कृत-ग्रन्थमाला, काशी, १९२६।

" —काव्यप्रकाशसंकेत, कलकत्ता ओरियन्टल जर्नल, भाग २, संख्या १२, १९३५।

" —व्यक्तिविवेकव्याख्यान (व्यक्तिविवेकविचार), काशी संस्करण तथा त्रिवेन्द्रम संस्करण।

" —सहृदयलीला, निर्णयसागर प्रेस, १९३७। (तथा पिशेल सम्पादित)।

" —साहित्यमीमांसा, त्रिवेन्द्रम, १९३४।

वाग्भट —वाग्भटालंकार, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, २०१३ संवत्।

वामन —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, काव्यमाला, १९२६।

" —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, सं० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९२२।

विद्यानाथ —प्रतापरुद्रयशोभूषण, गवर्नमेण्ट सैन्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९०९।

विद्याधर —एकावली, बम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, नं ६३, १९०३।

विश्वनाथ, कविराज —साहित्यदर्पण, निर्णयसार प्रेस, १९३६।

विश्वेश्वर —अलंकारकौस्तुभ, काव्यमाला संस्करण।

व्यास —अग्निपुराण (अलंकारप्रकरण), साहित्यदर्पण का परिशिष्ट, निर्णयसागर प्रेस, १९३६।

शोभाकर —अलंकाररत्नाकर, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९४२।

श्रीवत्सलाञ्छन —काव्यपरीक्षा, मिथिलाविद्यापीठ, दरभंगा, १९५६।

श्रीविद्याचक्रवर्ती —सम्प्रदायप्रकाशिनी, (काव्यप्रकाश-टीका) भाग १-२। अनन्तशयन संस्कृत ग्रंथावलि, नं० ८८, त्रिवेन्द्रम, १९३६

" —विरूपाक्षपंचाशिकाटीका, त्रिवेन्द्रम, १९१०।

समुद्रबन्ध —समुद्रबन्धव्याख्या (अलंकारसर्वस्वटीका), अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि, नं० ४०, त्रिवेन्द्रम।

हेमचन्द्र —काव्यानुशासन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३४।

पाण्डुलिपियां[1]

जयरथ —अलंकारोदाहरण, भण्डारकरप्राच्यविद्यासंस्थान, पूना, (देखिए—डिस्क्रिप्टिव कैटलाग, जिल्द १२)।

श्रीविद्याचक्रवर्ती —अलंकारसर्वस्वनिष्कृष्टार्थकारिका।

" —संजीविनी, यूनीवर्सिटी मैनस्क्रप्टस् लाइब्रेरी, त्रिवेन्द्रम, तथा पाण्डुलिपि पुस्तकालय, मैसूर।

हिन्दी

उपाध्याय, बलदेव —भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रसादपरिषद्, काशी, २००५ संवत्।

ओम्प्रकाश —हिन्दी अलंकारसाहित्य, भारतीय साहित्यमन्दिर, फव्वारा, दिल्ली, १९५६।

---

१. अलंकारसर्वस्व तथा अलंकारविमर्शिनी के आदर्शग्रंथों की सूची लेखक द्वारा सम्पादित अलंकारसर्वस्व में देखिए।

दासगुप्त, श्रीशशिभूषण—उपमा कालिदासस्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १६६२।

नगेन्द्र (सम्पादक) —भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

नगेन्द्र (सम्पादक) —हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

पोद्दार, कन्हैयालाल —संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्रथम तथा द्वितीय भाग, नवलगढ़, १६३८।

विश्वेश्वर (आचार्य) —हिन्दी ध्वन्यालोक, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १६५२।

शर्मा, ब्रह्मानन्द —संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १६६४।

शास्त्री, ओम्प्रकाश —रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-७, १६६५।

Bhandarkar, A.S. —Is Arthāntaranyāsa based on Tark or not ?

Bhattacharya, S.P. —Rasābhāsa in Alaṅkāra Literature, Calcutta Oriental Journal, Vol. II, No. 10, July, 1935.

De, S.K. —History of Sanskrit Poetics, Vol. I-II, London, 1923, 1925.

Duncan M. Derret —The Hoysalas, Oxford University Press, 1957.

Gode, P.K. —The Problem of the Classification of Alaṅkāras, Annals of B. O. R. I., Vol. II, 1921, pp. 69-72.

Gonda, J. —Remarks on Similes in Sanskrit Literature.

Hiriyanna, M. —Art Experience, Kavyalaya Publishers, Mysore, 1954.

Iyer, K.A.S. —Prauḍhokti in Alaṅkāraśāstra, Journal of Oriental Research, Madras, Vol. 16, pp. 20-30.

Jacobi, H. —Über Begriff und wesen Der Poetischen Figuren in derindischen poetik; Nachri-cheten von der kgl, Gesell

Schaft der wissenschaften, Götingen, Philolog Histor Klasse 1908; and Die Poetik und Aesthetik der Inder in der Internat Wochenschhrift, 29th Okt., 1910.

Kane, P.V. —History of Sanskrit Poetics, Bombay, 1951.

" —The Sāhityadarpaṇa of Viśvanātha.

Keith, A.B. —History of Sanskrit Literature, Oxford University Press, 1924.

Lahiri, P.C. —Concept of Rīti and Guṇa in Sanskrit Poetics, The University of Dacca, 1937.

Nobel, J. —Foundations of Indian Poetry, Calcutta, 1925.

Pandey, K.C. —Comparative Aesthetics, Vol. I. ed. I. Chowkhamba Sanskrit Series Office, Benaras.

Raghavan, V. (ed.) —New Catalogous Catalogorum.

" —Śṛṅgāraprakāśa, Karnataka Publishing House, Bombay, 1940.

" —Studies on some Concepts of the Alaṅkāraśāstra, Adyar Library, Madras, 1942.

Regnand, P. —La Rhetorique Sanskrite, Paris. 1884.

Sankaran, A. —Some Aspects of Literary Criticism, University, Madras, 1929.

Shastri, Kuppuswami —Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit. Kuppuswāmī Śāstrī Research Institute, Madras.

Sowani, V.V.S. —The History and Significance of Upamā, Annals, B. O. R. I. 1919-20, pp. 87-98.

" —Pre-dhvani Schools of Alaṅkāra, Bhandarkar Commemoration Vol. I, p. 267.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	अन्तिम दो	विभाग, वर्गीकरण तथा निरूपणक्रम	विकास तथा श्रेणीविभाग
१२	१८	में रुय्यक	रुय्यक
१६	२७	दृष्टव्य	द्रष्टव्य
३२	२४	अनन्तशनम्	अनन्तशयनम्
४१	१२	प्रतन्यने	प्रतन्यते
४२	१६	परवतीं	परवर्ती
७२	२६	तरस	तरल
७५	१६	समुन्द्रबन्ध	समुद्रबन्ध
७७	१	समुन्द्रबन्द	समुद्रबन्ध
७६	४	अ० सा०	अ० स०
७६	२१	अनेकथा	अनेकधा
७६	२८	अ० अ०	अ० स०
८०	२	विच्छित	विच्छित्ति
८०	१४	गुर्जर	दक्षिण
१००	१५	भित्युक्तम्	मित्युक्तम्
१००	२१	खण्ड ३	खण्ड, १
,,	२४	मामह	भामह
,,	२४	ऋत्क	ऋक्थ
१०३	२६	Dandin	Daṇḍin
,,	२७	Bhamaha	Bhāmaha
१०६	३	कल्पान्तस्थायि	कल्पान्तरस्थायि
११२	२२	गम्यमान मान	गम्यमान
११२	२३	वहीं	काव्यालंकार
१२२	४	रूपकमुम्यते	रूपकमुच्यते
१२३	२२	...भर्वा	....र्भाव
१४४	अन्तिम	१.	४.

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४६	२२	परवर्ती अलंकार	परवर्ती स्वतन्त्र अलंकार
१४९	२५	व्यतिरेक	अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक
१५१	५	हेतु०	हेतु ७
१५३	८	प्रेयस्वत्	प्रेयः, रसवत्
१६३	१९	सर····	सार···
१७५	१८	पद्यबन्ध	पद्मबन्ध
१७५	२४	ऐकात्यप्रतीति	ऐकात्म्य-प्रतीति
१७५	२७	मुरजवन्ध, पद्यवन्ध	मुरजबन्ध, पद्मबन्ध
१८५	११	उमेयोपमा	उपमेयोपमा
१८८	२५	सनभते	समभते
१८८	२६	निश्चत	निश्चित
१९३	१६	भावशवलता	भावशबलता
२०६	२८	र्भासि	र्यामि
२४२	२	कियारूप	क्रियारूप
२४५	१२	अतिशयिसु…	अतिशयितसु…
२७०	२	अन्नर्भाव	अन्तर्भाव
२७७	२१	....भ्रमेषु	..र्भ्रमेषु
२८६	१८	ग्रहीतृभेद	गृहीतृभेद
३०६	१०	...वुत्प्रेक्षाया	...वुत्प्रेक्षायाः
३२२	२१	अप्रतुतों	अप्रस्तुतों

MOTILAL BANARSIDASS PUBLISHERS
VARANASI

डॉ० द्विवेदी की अन्य रचनाएं

अलंकारसर्वस्व-संजीविनी

रुय्यकप्रणीत अलंकारसर्वस्व का आलोचनात्मक संस्करण, अनुवाद तथा श्रीविद्याचक्रवर्तिकृत संजीविनी टीका ।

THE POETIC LIGHT

KĀVYAPRAKĀŚA OF MAMMAṬA

Text with Translation, Sanskrit commentary by Śrīvidyācakravartin, and an exhaustive Introduction in English which gives a critical and comparative study of the contents of Kāvyaprakāśa.

STUDIES IN THE ALAṀKĀRAŚĀSTRA

It gives an incisive analysis of many problems and aspects of the Alaṁkāraśāstra with a special reference to the contribution made by Rājānaka Ruyyaka and his three commentators, Jayaratha, Samudrabandha and Śrīvidyācakravartin.

[Shortly]

SELECTIONS FROM BRĀHMAṆAS & UPANIṢADS

Text with Translation and Bhāṣya prefixed with the editor's long introductory note on the Brāhmaṇas and the Upaniṣads.

Rs. 8-00

मो ती ला ल ब ना र सी दा स

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना